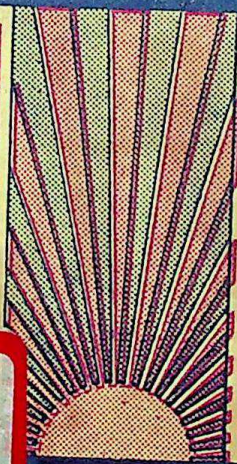




DONATION

श्री विश्वनाथ विद्यालङ्कार प्रदत्त संग्रह
वैदिक-गृहस्थाश्रम



ASG

V

विश्वनाथ, विद्यालङ्कार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

R
14
vis-V

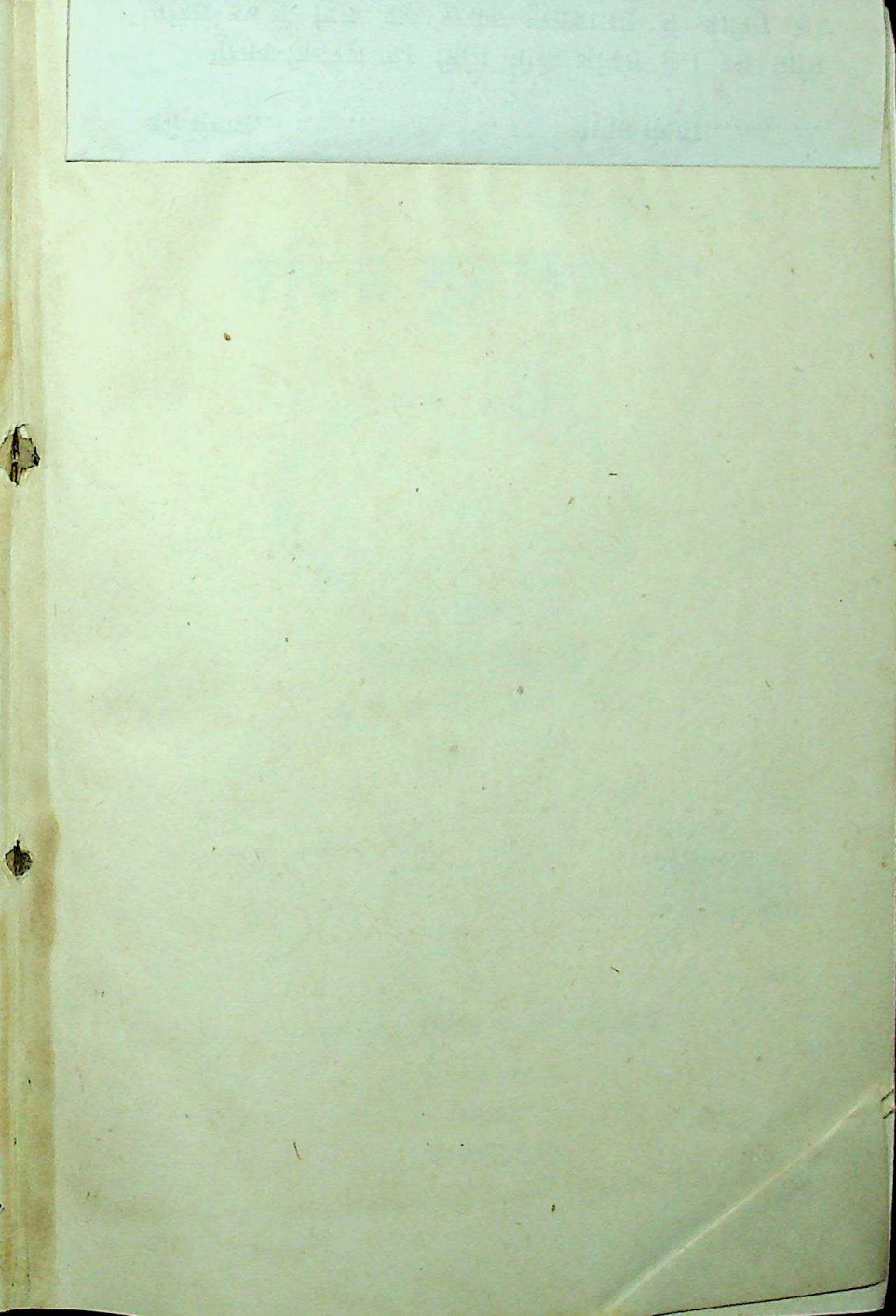
पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या.....

आगत संख्या.....

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।





ओ३म् पं० विश्वनाथ जी
द्वारा प्रदत्त संग्रह

वैदिक गृहस्थाश्रम

9801



विश्वनाथ, विद्यालङ्कार
भूतपूर्व उपाध्याय, वैदिक साहित्य
(गुरुकुल कांगड़ी)

पं० विश्वनाथ विद्यालङ्कार प्र

R14,VIS-V



9801

अध्यक्ष, वैदिक साहित्य मण्डल
(विभाग) ६, लक्ष्मणचौक
देहरादून
जनवरी १९४९

मूल्य २)

मुद्रक तथा प्रकाशक
भास्कर प्रेस, देहरादून

महाभारत कथित

१०८०

प्रथम संस्करण

१००० प्रतियां

महाभारत कथित

महाभारत कथित

(विषय सूची)

पुस्तक प्राप्ति के स्थान—

१- वैदिक साहित्यमण्डल,

लक्ष्मणचौक, देहरादून

२- गुरुकुल-सूपा, (नवसारी)

बी० बी० सी० आई० रेलवे

३- भास्कर प्रेस, देहरादून



कर्मकाण्डी, धर्मपरायण तथा प्रजावत्सल
 हिज हाईनेस राजाधिराज श्री उमेदसिंह जी साहिब,
 शाहपुर-राज्य (राजपूताना)

श्रीमानों ने स्वर्गीया धर्मपत्नी राणी साहिबा श्रीमती सूर्यकुमारी जी की पुण्य-
 स्मृति में वर्तमान पुस्तक के निमित्त "वैदिक साहित्य मण्डल"
 को (३०००) रु० प्रदान किया है

समर्पण

स्वर्गीया राणी साहिबा श्रीमती सूर्यकुमारी जी, धर्मपत्नी
श्रीराजाधिराज, सर उमेदसिंह जी, शाहपुर-राज्य, शाहपुर,
राजपूताना,—की पुण्य-स्मृति में यह पुस्तक सादर
समर्पित है । स्वर्गीया राणी साहिबा की
साहित्याभिरुचि तथा साहित्यनिष्ठा के
प्रसाद रूप में वर्तमान पुस्तक
पाठकों के सम्मुख
उपस्थित की
जाती है

समर्पक

विश्वनाथ (ग्रन्थकर्ता)

स्वर्गीया सूर्यकुमारी जी

का

परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रान्त में खेतड़ी राज्य है। यहां के राजा श्री अजीतसिंह जी बहादुर बड़े तपस्वी व विद्याप्रेमी हुए हैं। गणितशास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वे दक्ष और गुण-ग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शनशास्त्र और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहिले और पीछे स्वामी विवेकानन्द उनके यहां महीनों रहे। स्वामी जी के साथ घण्टों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्य-श्लोक महाराज श्री रामसिंह जी को छोड़ कर ऐसी सर्वतोमुखी प्रतिभा राजा श्री अजीतसिंह जी ही में दिखाई दी।

राजा श्री अजीतसिंह जी की रानी आउआ (मारवाड़) चांपावत जी के गर्भ से तीन सन्तति हुईं—दो कन्याएं, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूर्यकुँवरि थी। जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर नाहरसिंह जी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्री उम्मेदसिंह जी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चांदकुँवरि का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराज कुमार श्री मानसिंह जी से हुआ। तीसरी सन्तान जयसिंह जी थे, जो राजा श्री अजीतसिंह जी और रानी चांपावत जी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिन्तकों के लिए, तीनों की स्मृति, सञ्चित कर्मों के परिणाम से, दुःखमय हुई। जयसिंह जी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ। और सारी प्रजा, सब शुभचिन्तक, सम्बन्धी, मित्र और गुरुजनों के हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहे हैं।

ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो । श्री सूर्यकुँवरि वाईजी को, एक मात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्षों में उनका भी शरीरान्त हो गया । श्री चाँद-कुँवरि वाईजी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृ-वियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख वे भेल रही हैं । उनके एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्री रामसिंह जी से, मातामह राजा श्री अजीतसिंह जी का कुल प्रजावान् है ।

श्रीमती सूर्यकुमारी जी के कोई संतति जीवित न रही । उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्री उम्मेदसिंह जी ने उनके जीवन काल में दूसरा विवाह नहीं किया । किन्तु उनके वियोग के पीछे उनकी इच्छानुसार कृष्णगढ़ में विवाह किया । जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर श्री सुदर्शनदेव जी विद्यमान हैं ।

श्रीमती सूर्यकुमारी जी बहुत शिक्षिता थीं । उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था । उनका हिन्दी का पुस्तकालय प्ररिपूर्ण था । हिन्दी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुन्दर होते थे कि देखने वाले चमत्कृत रह जाते थे । स्वर्गवास के कुछ समय पूर्व श्रीमती जी ने कहा था कि स्वामी विवेकानन्द के सब ग्रन्थों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद मैं छपवाऊँगी । बाल्यकाल से ही स्वामी जी के लेखों और अध्यात्म की ओर विशेषतः अद्वैत वेदान्त की ओर श्रीमती जी की रुचि थी । श्रीमती जी के निर्देशानुसार इसका कार्यक्रम बाँधा गया । साथ ही श्रीमती जी ने यह इच्छा प्रकट की कि इस सम्बन्ध में हिन्दी में उत्तमोत्तम ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए एक अक्षय-निधि की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय । इसका व्यवस्था-पत्र बनते बनते श्रीमती जी का स्वर्गवास हो गया । महाराज कुमार श्री उम्मेदसिंह जी ने श्रीमती जी की अंतिम कामना के अनुसार:—

- १) २०,०००) बीस हजार रुपये देकर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के द्वारा “सूर्यकुमारी ग्रन्थ माला” के प्रकाशन की व्यवस्था की ।
- (२) ३०,०००) तीस हजार रुपये के सूद से गुरुकुल-विश्वविद्यालय कांगड़ी में सूर्यकुमारी आर्य्य भाषा गद्दी (चेअर) की स्थापना की ।
- (३) ५,०००) पांच हजार रुपये से उपर्यक्त गुरुकुल में चेअर के साथ ही “सूर्यकुमारी-निधि” की स्थापना कर “सूर्यकुमारी-ग्रन्थावलि” के प्रकाशन की व्यवस्था की ।
- (४) ५,०००) पांच हजार रुपये दब्बार हाई स्कूल शाहपुरा में “सूर्यकुमारी-विज्ञानभवन” के लिए प्रदान किये ।
- (५) ३,०००) तीन हजार रुपये वैदिक साहित्य मण्डल, ६ लक्ष्मण चौक, देहरादून को प्रदान किये हैं ।

भूमिका

“वैदिक गृहस्थाश्रम” पुस्तक स्वाध्याय-प्रेमियों के समूख उपस्थित की जाती है। इस में गृहस्थ-जीवन के अत्यन्त उपयोगी मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या की गई है। इस पुस्तक में १ से २३६ पृष्ठों तक अथर्ववेद के दो सूर्यासूक्तों की व्याख्या की गई है।

तत्पश्चात् २४० से ३१२ पृष्ठों तक गृहस्थ-जीवन के निर्माण के साथ सम्बद्ध विषयों का वर्णन किया है। अन्त में ३१३ से ४०१ पृष्ठों में गृहस्थाश्रम-परिशिष्ट के रूप में, अथर्ववेद में इतस्ततः वर्णित गृहस्थ-आश्रम के कतिपय तत्त्वों की व्याख्या की है।

मैं आशा करता हूँ कि स्वाध्यायशील व्यक्ति पुस्तक के उपयोगी तत्त्वों पर मनन करेंगे।

अध्यक्ष, वैदिक साहित्य मण्डल

६, लक्ष्मण चौक

देहरादून

प्रोफ़ेसर विश्वनाथ, विद्यालंकार

विषय सूची

विषय	पृष्ठ
पहला प्रकरण	
आदर्श विवाह की परिस्थिति	१
वीर्यशक्ति का प्रभाव	५
वास्तविक सोमपान	६
वीर्य की वृद्धि, रक्षा, निर्माण	७
वीर्य की रक्षा विधियाँ	८

दसरा प्रकरण

आदित्य ब्रह्मचारिणी का दहेज १०,
३४०-३४८

तीसरा प्रकरण

विवाहमें प्रेरकभाव और वरणा १६

चौथां प्रकरण

पतिगृह की ओर सूर्या के रथ
का प्रस्थान २०
सूर्या का रथ ३२

पांचवां प्रकरण

वाग्दान तथा विवाहकाल २६
विवाह की तीन परिक्रमाएँ २६, ३२
वर, श्वशुर को, पिता समझे ३०

छठा प्रकरण

धर्मपुत्र को धर्मपिता के वचन ३५, ३७
वर का वध को आश्वासन ३८

विषय	पृष्ठ
पिता का पुत्री को उपदेश	३६, ४१
कन्या-पिता का वरवधू को उपदेश	४२

सातवां प्रकरण

आश्रमव्यवस्था का स्वरूप	४४, १०७
चन्द्रनाम से पत्नी का वर्णन	४६
पति में शान्ति और दानभाव	४८
पत्नी के प्रेम का प्रकाशन	४९
ऋतुमती का सहवास	५०

सूर्य का पति है ब्रह्मा ५१, ५५,
१८७, १८६

सूर्या और पाकविद्या ५३

ब्रह्मा में सूर्याविवाह की
योग्यताएँ ५५, ५१

कमाई, सत्य व मीठी ५६,

वाणी २४५-२४६

गृह में गोपालन ५७, २६२

गोपालन श्रीर देवयज्ञ ५६, २६६

सखात्रों का सत्कार ६१

पत्नी के ३ आवश्यक गुण ६२

गौ अवध्या है ६३

आस्तिकता और वीर्यशक्ति ६४

कामग्राह और भद्रकाम ६६

विषय	पृष्ठ
स्नान तथा गर्भाधान	६८
गर्भग्रहण में शान्तभावना	७०
पत्नी की पवित्रता के ३ प्रकार	७२
पत्नी की विभूतियां तथा	
मोक्षकामना	७५
पत्नी साम्राज्ञी है	७६
पत्नी का साम्राज्य	७८
हाथ के कते-बुने वस्त्र	७९, ८४,
	२०४, २०६
भोगजीवन का दुष्परिणाम	८०
आदर्श सन्तान	८१

आठवां प्रकरण

पाणिग्रहण तथा पत्नी—	
आश्वासन	८५, ३६०-३६२
पाणिग्रहण तथा पति के गुण	८८
पाणिग्रहण में साक्षी	९०
पाणिग्रहण तथा धार्मिक	
सम्बन्ध	९१
पत्नी का भरणपोषण	९२
पत्नी तथा सन्तानों के वस्त्र	९४,
	७९, २०४, २०६
नारी-स्वास्थ्य के साधन	९६, १३०
वधू के केशों को सजाना	९८
वधू की रूपसम्पत् तथा	
मननशक्ति	९९
पतिपत्नी का प्रेमबन्धन	१०१

विषय	पृष्ठ
पत्नीप्रेम तथा गृहाधिकार	१०३,
	१११, १४०, ३८५-३८८
बुजुर्गों तथा पति के कर्तव्य	१०५
४पुरुषार्थ और ४आश्रम	१०७, ४४
गृहस्थ-रथ पर आरोहण	१०८
पतिपत्नी के चार २ गुण	११०
देवपथगामिनी पत्नी का	
अधिकार	१११
देवपुरी में वेदध्वनि	११३, २५४

नवां प्रकरण

सूर्य का क्रमिक विकास	११५
दीर्घायु वाला पति	११७
सूर्य के चार पति	११८, ४००
चार पतियों का क्रम	११९

दसवां प्रकरण

गृहस्थियों की कामनाएँ	१२५
वीरसन्तान और गृहस्थतीर्थ	१२७
गर्भिणी की स्वास्थ्यरक्षा	१३०
गृहस्थतीर्थ का मार्ग	१३१
श्रेष्ठ पुत्रों की प्राप्ति	१३२
सत्कारपूर्वक वधू को भोजना	१३५
कन्यापक्ष से आशीर्वाद	१३६

ग्यारहवां प्रकरण

वधू का परिचय	१३८
--------------	-----

विषय	पृष्ठ
पत्नी की सम्पत्ति १४०, ३८५-३८६	
आत्मिकशक्तियुक्त उपजाऊ पत्नी १४२, १६६	
गृहमन्दिर की देवता १४४	
स्त्रियों के हृदयों में शान्ति की लहरें १४६	

बारहवां प्रकरण

पत्नी का प्रेममय व्यवहार १४६	
पत्नी द्वारा अग्निहोत्र १५१, २२४, २५६	
अग्निहोत्र के बाद पत्नीमनन १५२	
अग्निहोत्र के बाद नमस्कार १५४	

तेरहवां प्रकरण

प्रसूतिगृह में दैनिक अग्निहोत्र १५६	
प्रसूति के समय का विछौना १५७	
प्रसूतिकाल में अग्निहोत्र से लाभ १६०	
सन्तानें जन्म से पशुवत् हैं १६१	

चौदहवां प्रकरण

पत्नी गृहस्थसागर की नौका है १६३	
पत्नी सुखमयी मूर्ति बने १६४	
वधूदर्शन और आशीर्वाद १६५	
स्त्रियों का वधू को आशीर्वाद १६६	
सौभाग्य के लिए गृहस्थप्रवेश १६७	

विषय	पृष्ठ
------	-------

पन्द्रहवां प्रकरण

पत्नी में आत्मिकशक्ति १६६, १४२	
गृहस्थजीवन शिष्टसम्मत है १७०	
गर्भाधान में विश्ववासी का ध्यान १७२	
जगद्-व्यापी पतिपत्नीभाव १७३	
सन्तानार्थ काम, ईक्षण, तथा तप १७५	
गृहस्थ को परम-सधस्थ बनाओ १७८	
ऋतुकाल में संसर्ग १८०	
जननी, पृथिवी का, रूप है १८२	
गर्भाधानक्रिया में आसन १८४	
सन्तानों का उत्कृष्ट जन्म १८६	
ब्राह्मविवाह तथा चारपाई के राक्षस १८७	
ब्राह्मविवाह तथा विवाह-नियन्त्रण १८६, ५१, ५२	

सोलहवां प्रकरण

प्रातः भ्रमण १९१	
प्रातः भ्रमण के लाभ १९२, १९४	
भ्रमण में नमस्कार १९५	
प्रातःकाल में परमात्मस्तुति १९६, २६६	
परमात्मा के प्रति समर्पण १९८	

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
परम निष्कामभाव	२०२	पत्नी को प्रेम से बांधना	२४१
पत्नी का वस्त्रनिर्माण	२०४, ७६, ६४	पत्नी पतिकुल की रक्षिका है	२४२
पत्नीनिर्मित वस्त्र पहनो	२०६	पत्नी घर का खजाना है	२४३
वधू की दीक्षाएँ	२०७-२११	पारिवारिक-जीवन में	
असामयिक मृत्यु से बचाव	२१२-२१७	माधुर्यभावना	२४५
सत्रहवां प्रकरण		मधुरवाणी और मधुरसङ्कल्प	२४७
लाजाहोम	२१८	मधुरव्यवहार और मधुरमूर्ति	२४८
स्थिर दाम्पत्यसम्बन्ध	२१६, २२७, २४१	गन्ने से भी मधुर बनना	२४९
अठारहवां प्रकरण		पतिपत्नी में पारस्परिक कामना	२४६, ३३३
सफ़ाई तथा शुद्धि	२२१	परिवार में हृदयों और मनो की एकता	२५०
शुद्धि से आयुवृद्धि	२२३	पुत्रों और पत्नी के व्यवहार	२५२
कङ्घे से केशशुद्धि	२२३	भाईबहिनों में प्रेमव्यवहार	२५३
अग्नि द्वारा यक्ष्मानिवृत्ति	२२४	परिवार में वैदिक स्वाध्याय	२५४
उन्नीसवां प्रकरण		परिवार में शिष्टाचार	२५५
पत्नी का पति से बन्धन	२२७, २१६, २४१	परिवार में सम्मिलित अग्निहोत्र	२५६, १५१-१५४
पतिपत्नी का सम्बन्ध	२३०	परिवार में प्रसन्नता	२५७
विवाहेच्छा और पुत्रैषणा	२३३	परिवार की सुखसामग्री	२५८
वधू को बूजुर्गों का उपदेश	२३५-२३६	पारिवारिक गोशाला	२६२, ५७
बीसवां प्रकरण		पंचमहायज्ञ (ब्रह्मयज्ञ)	२६६, १६६
पत्नी पुष्पित वृक्ष है	२४०	देवयज्ञ	२६६, ५६
		पितृयज्ञ	२७१
		चोरपितर और पितृयज्ञ	२७२

विषय	पृष्ठ
पितरों का सत्कार	२७४
बनों में पितरों का सत्सङ्ग	२७५
पितरों के आश्रमों में जलप्रबन्ध	२७७
पितरों को वस्त्रदान	२७८
पितृयज्ञ प्रतिभास करना	२७९
पितरों के जीवन श्रेष्ठ हों	२८०
पितृऋण से उर्द्ध्व होना	२८२
अतिथियज्ञ	२८३
विद्वान् तथा व्रती अतिथि	२८४
अविद्वान् तथा अव्रती अतिथि	२८५
अतिथिसेवा का फल	२८६
अतिथियज्ञ की महिमा	२८८
अतिथि के प्रति निर्देश	२८९
बलिवैश्वदेवयज्ञ	२९०
सत्पात्रों को दान	२९२
समग्रलोक में पुत्रभावना	२९४
गृहस्थ स्वर्गलोक है	२९५-३०४
शालानिर्माण	३०५-३१२

गृहस्थाश्रम-परिशिष्ट

इक्कीसवां प्रकरण

ब्रह्मचर्य द्वारा पति प्राप्ति	३१४
कन्या में सद्गुणों की स्थापना	३१५
कन्या का ब्राह्मण गुरु	३१७

विषय	पृष्ठ
कन्या का शिवरूप	३१९
कन्या द्वारा गृहपुष्टि	३२०
संयमी कन्या का गृहस्थप्रवेश	३२१
वर वधू में देख-भाल	३२३-३२५
कन्यानुराग की पूर्व परीक्षा	३२६
कामवाण का स्वरूप	३२७
कामवाण का प्रभाव	३२९
निष्कपटता से कन्यावशी- करण	३३२
वर-वधू में परस्पर कामना	३३३, २४९
विवाह में माता पिता की अनु- मति	३३४-३३७
कन्या का मित्रशासन तथा वरुणशासन	३३८
कन्याग्रहण तथा दहेज	३४०-३४८, १०
कन्याग्रहण के ३ हेतु	३४९
पत्नी का लक्षण	३५१
स्त्री-हृदय का चित्रण	३५३
पत्नी सुधार	३५४-३५९

चाईसवां प्रकरण

पाणिग्रहण का स्वरूप	३६०, ८५, ९१
पाणिग्रहण का रहस्य	३६२

विषय	पृष्ठ
पतिपत्नी में परस्पर दोषदृष्टि	३६३
पतिपत्नी में पारस्परिक	
प्रसन्नता	३६४
पतिपत्नी में समन्वय	३६५
पत्नी के मन का अनुकूलन	३६५
पति के उपहारों में प्रसन्नता	३६६
पतिव्रत और पत्नीव्रत धर्म	३६६
पत्नीव्रत प्रतिज्ञा	३६८
पति और पत्नी का चुल्ला एक	३६८
स्त्री सत्कार तथा युगधर्म-विस्तार	३६९

तेईसवां प्रकरण

नाना सन्तानोत्पादन में शर्त	३७१
पुत्रोत्पादन के साधन	३७२
सन्तानों को भद्र बनाना	३७४
सन्तानों में सद्गुणों के उपाय	३७५
सन्तानों को वैदिक शिक्षा	३७६

विषय	पृष्ठ
सन्तानों का शासन	
आशीर्वाद द्वारा	३७६
सन्तानों में भावनाएं	३७८
क्षत्राणी माता की भावनाएं	३८१
मातृस्तन का प्रभाव	३८२
सन्तान सुधार	३८३

चौबीसवां प्रकरण

पत्नी का सम्पत्ति में हक्क	३८५, १४०
पुत्रिका का सम्पत्ति में हक्क	३८६
विधवा का सम्पत्ति में हक्क	३८९

पच्चीसवां प्रकरण

निषिद्ध विवाह	३९१
रोगियों में विवाहनिषेध	३९३
भाई-बहिन में विवाहनिषेध	३९५

छब्बीसवां प्रकरण

विधवा विवाह	३९६
पुनर्विवाह में प्रेमबन्धन	३९८
स्त्री के ११ पति	४००, ११८

लेखक की अन्य प्रकाशित पुस्तकें—

- | | |
|---|-----------------------|
| १ | वैदिक पशुयज्ञ मीमांसा |
| २ | वीरमाता का उपदेश |
| ३ | वैदिक-जीवन |
| ४ | सन्धारहस्य |

पुस्तक प्राप्ति का स्थानः—

वैदिक साहित्य मण्डल

६, लक्ष्मणचौक

देहरादून

पहला प्रकरण

आदर्श-विवाह की परिस्थिति

(१) सत्येनोत्तमिता भूमिः सूर्येणोत्तमिता द्यौः ।

ऋतेनादित्यास्तृणन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः ॥

(अथर्व० १४, १, १)

(सत्येन) सत्य द्वारा (भूमिः) मातृशक्ति^१ (उत्तमिता) यामी हुई है, (सूर्येण) दृष्टिशक्ति^२ तथा मस्तिष्कशक्ति^३ द्वारा (द्यौः) पितृशक्ति^४ (उत्तमिता) यामी हुई है । (ऋतेन) नियमों द्वारा (आदित्याः) आदित्यब्रह्मचारी (तिष्ठन्ति) अपने वृत्त में स्थित होते हैं, जिनके कि (दिवि) सिर^५ में या मस्तिष्क में (सोमः) वीर्य^६

१ भूमि = मातृशक्ति, (देखो मन्त्र सं० १३५) ।

२ सूर्य = चक्षुः, (चक्षोः सूर्यो अजायत, यजु० ३१, १२; यस्य सूर्यः चक्षुः, अथर्व० १०, ७, ३३) ॥

३ तत् (छिन्नं विष्णुः शिरः) पतित्वासावादित्योऽभवत् ।
(श० ब्रा० १४.१, १, १०)

४ द्यौः = पितृशक्ति, (देखो मन्त्र सं० १३५) ।

५ दिव् = सिर । शीर्षलोकं तृतीयकम् (अथर्व० १६, ३६. १०)
अर्थात् सिर तीसरा लोक है, शृङ्गलोक है ।

सोम = वीर्य । यथा रेतः सोमः (कौ० ब्रा० १३, ७; श० ब्रा० ३, ३, २, १;) ।

(अधिश्चितः) आश्रित होता है।

न—सत्याचार तथा सत्यानुष्ठान के लिये मातृशक्ति प्रसिद्ध है। मातृशक्ति में धर्मभावना अधिक जागरूक होती है। मातृशक्ति में यदि सत्याचार तथा सत्यानुष्ठान का अभाव हो तो सन्तति पर इसका बुरा प्रभाव अधिक मात्रा में पड़ता है, और नैतिक दृष्टि से समाज-सङ्गठन भी अधिक ढीला पड़ जाता है। इसलिए मातृशक्ति में सत्याचार तथा सत्यानुष्ठान की अत्यन्त आवश्यकता है।

सूर्येण—पितृशक्ति में सत्याचार तथा सत्यानुष्ठान के साथ २ दृष्टि शक्ति और दिमागी शक्ति का प्राधान्य होना चाहिए। पितृशक्ति में ये दो गुण प्रायः प्रधान हुआ करते हैं। दृष्टिशक्ति का अभिप्राय है देखने-परखने की शक्ति, तथा दिमागी शक्ति का अभिप्राय है विचार, निर्णय आदि शक्तियाँ। मातृशक्ति में हृदय का प्राधान्य होना चाहिए और पितृशक्ति में दिमाग का। इसीलिए मन्त्र में मातृशक्ति के साथ सत्य का सम्बन्ध किया गया है और पितृशक्ति के साथ सूर्य का अर्थात् ज्ञान शक्ति के प्रकाश का। मातृशक्ति की स्थिति सत्यनिष्ठा पर है और पितृशक्ति की दिमाग पर।

ऋतेन—ऋत¹ का अर्थ है नियम तथा पवित्र कर्म आदि। ब्रह्मचर्याश्रम में ऋत की अर्थात् नियमों तथा पवित्र कर्मों की बड़ी आवश्यक-

1 ऋत = Proper, Right, Fixed or settled rule, law, Pious action; Divine law, Divine truth (आपटे का कोष)।

कता है। बिना नियमों तथा पवित्र कर्मों के वसु-ब्रह्मचारी (२४ वर्षों का ब्रह्मचारी) बनना भी दुष्कर हो जाता है, आदित्य-ब्रह्मचारी अर्थात् ४८ वर्षों का ब्रह्मचारी बनने की तो बात ही क्या कहनी। मन्त्र में यह दर्शाया है कि आदित्य ब्रह्मचारी बनने के लिए यह आवश्यक है कि ब्रह्मचारी ऋतु-मार्ग का अवलम्बन ले, अनुत्त मार्ग का नहीं।

सोम—यहां सोम का अर्थ वीर्य है। सोम का अर्थ वीर्य होने में निम्न लिखित प्रमाण पेश किए जा सकते हैं। यथा:—

(अ) सोम शब्द “सु” धातु से बना है जिसका अर्थ प्रसव भी है। वीर्य प्रसव में साधन है। seed, semen शब्दों में भी सु धातु ही प्रतीत होता है। सोम शब्द में ‘मन्’ प्रत्यय है और सु धातु है। अतः सोम का मौलिक रूप सुमन् है जो कि semen के साथ मिलता है। Semen का अर्थ अंग्रेजी में वीर्य है।

(आ) यजुर्वेद १६ तथा २० अध्यायों में सोम को शुक्र, रेतः और इन्द्रिय कहा है। शुक्र का अर्थ वीर्य भी होता है और इन्द्रिय का अर्थ सामर्थ्य और शक्ति।

(इ) आयुर्वेद में अग्नि और सोम शब्द का प्रयोग रज तथा वीर्य के लिये हुआ है। यथा:— “सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयम्” — अर्थात् “शुक्र” सोम है तथा “ऋतुधर्म” अग्नि है। तथा “शुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्त्तवेन। ततोऽग्निसोम संयोगात् संसृज्यमानो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते क्षेत्रज्ञः।” (सुश्रुत, शारीरस्थान, अ० ३)। अर्थात् शुक्र (वीर्य) पुरुष से च्युत होकर योनि में आता है और ऋतुधर्म (रज) के साथ मिलता है। तब अग्नि और सोम के संयोग के साथ मिलकर जीवात्मा गर्भाशय को प्राप्त होता है।

(ई) ब्राह्मण ग्रन्थों में सोम शब्द का अर्थ वीर्य भी किया गया है ।
 यथा :— “रितः सोमः” कौ० ब्रा० १३/७; तै० ब्रा० २/७/४/१;
 श० ब्रा० ३/३/२/१; ३/३/४/२८; ३/४/३/११; १/६/२/६;
 २/५/१/६; ३/८/५/२; ।

दिवि-श्रितः— वैदिक साहित्य के अनुसार संसार तीन लोकों में बंटा हुआ है । पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक, तथा द्युलोक के रूप में । आधिदैविक दृष्टि में तीन लोक प्रत्यक्ष दिखलाई दे रहे हैं । आध्यात्मिक दृष्टि में पैर से कटि-भाग तक पृथिवी लोक है, मध्य में अन्तरिक्षलोक तथा ज्ञानेन्द्रियों-समेत-सिर द्युलोक है । अथर्व १६/३६/१० में सिर को तृतीयलोक कहा है । साथ ही वेदों में द्युलोक तथा मूर्धा में उपमानोपमेय भाव भी माना गया है । यथा :—

“ दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ” (अथर्व०-१०।७।३३) ।

इसलिये इस प्रकरण में द्यौः का अर्थ होगा सिर या मस्तिष्क । इस मन्त्र के पिछले आवे भाग में यह दर्शाया गया है कि नियमों तथा धार्मिक कर्तव्यों के पालन करने पर मनुष्य आदित्य-ब्रह्मचारी बन सकता है, और इन आदित्य ब्रह्मचारियों के दिमाग या सिर में सोम अर्थात् वीर्य आश्रित रहता है, अर्थात् वीर्य इनके दिमाग को बनाता है तथा परिपुष्ट करता है ।

इस प्रकार इस मंत्र में मातृशक्ति तथा पितृशक्ति में भेद दर्शा कर अन्त में उच्च कोटि के ब्रह्मचर्य का वर्णन किया है और साथ ही ब्रह्मचर्य के साधनों का भी वर्णन किया है । मन्त्र का सार यह है कि उच्च कोटि के आदित्य ब्रह्मचारी का, तथा सत्य आदि धर्मभावनाओं वाली और भूमि की तरह उत्पादनशक्ति वाली ब्रह्मचारिणी का, परस्पर विवाह, आदर्श विवाह है ।

वीर्यशक्ति का प्रभाव

(२) सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही ।

अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥

(अथर्व० १४, १, २)

(सोमेन) वीर्य द्वारा (आदित्याः) आदित्य ब्रह्मचारी (बलिनः) बलवान् होते हैं, (सोमेन) वीर्य द्वारा (पृथिवी) स्त्री शक्ति भी (मही^१) पूजनीया होती है । (अथो) और (एषां नक्षत्राणाम्^२) इन अक्षत-वीर्यों के (उपस्थे) उपस्थेन्द्रिय में (सोमः) वीर्य (आहितः) स्थित होता है ।

आदित्य-ब्रह्मचारी वीर्य द्वारा बलवान् होते हैं । ४८ वर्षों का ब्रह्मचारी आदित्य ब्रह्मचारी कहलाता है ।

स्त्री शक्ति भी वीर्य द्वारा पूजनीया होती है । स्त्री का स्थान वह है जोकि पृथिवी का स्थान है । बंजर पृथिवी किसी काम की नहीं । बीज डालने पर जब पृथिवी हरी भरी हो जाती है तब उसकी शोभा होती है । इसी प्रकार पुरुष के वीर्य रूपी बीज के कारण जय स्त्रीशक्ति की गोदी हरी भरी हो जाती है तब स्त्रीशक्ति भी पूजा तथ्य मान का स्थान बन जाती है । जिनका वीर्य ब्रह्मचर्याश्रम में क्षत नहीं होता रहा उनके ही उपस्थेन्द्रिय में गृहस्थधर्म के समय वीर्य उपस्थित होता है और जिनका वीर्य क्षत होता रहा है वे निर्वीर्य हो जाते हैं, और गृहस्थ जीवन के उचित समय में उनकी उपस्थेन्द्रिय में वीर्य की स्थिति नहीं इष्टियोचर होती । वे सन्तान-कर्म के लिये निःशक्त हो जाते हैं ।

१ मही = महु पूजायाम् ।

२ नक्षत्र = न+क्षत्+र = “ न+क्षत् ” वाले = “ अक्षत ” (वीर्य) वाले ।
न+क्षत् = अ+क्षत् ।

वास्तविक सोमपान

(३) सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषन्त्योषधिम् ।

सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः ॥

(अथर्व० १४, १, ३)

(यत्) जब [ऋत्विक् लोग] (सोमं) सोम-ओषधि को (संपिषन्ति) मिलकर पीसते हैं [तो यजमान] (मन्यते) मानता है कि (सोमम्) सोम को (पपिवान्) मैंने पी लिया है; परन्तु (ब्रह्माणः) ब्रह्मवेत्ता अर्थात् वेदवेत्ता लोग (यम्) जिसे (सोमम्) सोम (विदुः) जानते हैं (पार्थिवः^१) स्त्रीशक्ति का भोगी या स्त्रीशक्ति में रत पुरुष (तस्य) उसका (न अश्नाति) अशन नहीं कर पाता ।

इस मन्त्र में सोमपान का वर्णन है । मन्त्र में बताया गया है कि सोम ओषधि को कूट कर और उसका रस निकाल कर पीने से जो व्यक्ति यह समझ लेता है कि मैंने सोम-पान कर लिया वह सोम-पान के अभिप्राय को ठीक नहीं समझ रहा होता, ब्रह्मवेत्ताओं अर्थात् वेद-वेत्ताओं के मत में सोम-पान और ही वस्तु है । स्त्री-भोगी पुरुष ब्रह्मवेत्ताओं में प्रसिद्ध सोम-पान नहीं कर सकता । ब्रह्मवेत्ताओं का सोम-पान है वीर्य को शरीर के भीतर लीन करना और उसके द्वारा मस्तिष्क शक्ति, शारीरिक शक्ति, तथा आत्मिक शक्ति को बढ़ाना ।

-
- १ पृथिवी = मातृशक्ति । अतः पार्थिव = मातृशक्ति में आसक्त अर्थात् स्त्री भोगी । संस्कृत में ऐसे भोगों को पार्थिवभोग तथा अंग्रेजी में Earthly enjoyments कहते हैं । पृथिवी = मातृ शक्ति, (देखो मन्त्रसंख्या १०२) ।

वीर्य की वृद्धि, रक्षा तथा निर्माण

(४) यत् त्वा सोम प्रपिवन्ति तत आ प्यायसे पुनः ।

वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥

(अथर्व० १४.१, ४)

(सोम) हे वीर्य ! (यत्) जब (त्वा) तुझे (प्रपिवन्ति) खूब पीते हैं (ततः) तदनन्तर (पुनः) और अधिक (आप्यायसे) तू बढ़ता है । (वायुः) वायु (सोमस्य) वीर्य की (रक्षिता) रक्षा करने वाला तथा (आकृतिः) बनाने वाली शक्ति है, जैसे कि (मासः) मास (समानाम्) वर्षों का (आकृतिः) बनाने वाला है ।

वीर्य के पान अर्थात् वीर्य को रक्त में अन्तर्लय करने पर वीर्य और अधिक बढ़ता है ।

प्राणायाम और शुद्ध वायु वीर्य को उत्पन्न करती है और उत्पन्न हुए वीर्य को रक्षा करती है ।

शुद्ध वायु या शुद्ध वायु में किया गया प्राणायाम जो वीर्य को बनाता है इसमें दृष्टान्त मास और वर्ष का दिया है । मास और वर्ष का परस्पर सम्बन्ध क्या है ? हम कह सकते हैं कि इनका परस्पर तादात्म्य संबंध है । मास ही मिल कर वर्ष बन जाता है । इस दृष्टान्त को देते हुए वेद ने यह दर्शाया है कि शुद्ध वायु या शुद्ध वायु में किये गये प्राणायाम और वीर्य में भी तादात्म्य का सा संबंध है । मानो वायु ही वीर्यरूप में परिणत हो जाती है या प्राणायाम वीर्य-शक्ति का निर्माण करने वाला है । इस तादात्म्य-सम्बन्ध को दर्शा कर वेद ने वीर्य के निर्माण तथा वीर्य की रक्षा के सम्बन्ध में प्राणायाम के महत्व को दर्शाया है ।

वायु और सोम के संबन्ध को यजुर्वेद ने और भी स्पष्ट कर दिया है। यथा :—

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अतिद्रुतः । इन्द्रस्य युज्यः सखा ।

वायोः पूतः पवित्रेण प्राङ् सोमो अतिद्रुतः । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥

[अ० १६, मं० ३]

अर्थात् वायु की पवित्र करने वाली शक्ति द्वारा पवित्र हुआ सोम अर्थात् वीर्य “पिछली उम्र” में बहुत शक्ति का संचार करने वाला है, और इन्द्र अर्थात् शक्ति का योग्य सखा यह सोम है। इसी प्रकार यह सोम “पहली उम्र” में भी बहुत शक्ति का संचार करने वाला है।

इस मन्त्र में “प्रत्यङ्” और “प्राङ्” शब्द जीवन के पिछले समय अर्थात् वृद्धत्व के, तथा जीवन के पहले समय अर्थात् युवावस्था के सूचक हैं। वायु से पवित्र हुआ सोम इन दोनों समयों में शरीर की शक्ति को बनाये रखता है। इस प्रकार शुद्ध वायु के सेवन तथा शुद्ध वायु में किये गये प्राणायाम का सोमशक्ति के निर्माण, वर्धन तथा रक्षण के साथ बहुत सम्बन्ध है।

वीर्य-शक्ति की रक्षा की विधियाँ

(५) आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः ।

ग्राणामिच्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः ॥

(अथर्व० १४, १, ५)

(बार्हतैः)^१ वेदोक्त (आच्छद्विधानैः)^२ आच्छादन की विधियों

- १ बार्हत का अर्थ है ‘वृहती’ में कहे गए। वृहती का अर्थ है “बड़ी”। वेद की वाणी को यहाँ वृहती कहा है। क्योंकि वेद की वाणी

द्वारा (सोम) हे वीर्य ! (गुपितः) तू अन्तर्लीन होता है, (रक्षितः) तथा रक्षा किया जाता है । (ग्राव्याम्) वैदिक वाणियों को (इत्) ही (शृण्वन्) सुनता हुआ तू (तिष्ठसि) शरीर में ठहरता है, पार्थिवः) स्त्री-भोगी पुरुष या पार्थिव-भोगों में लगा हुआ पुरुष (ते) तेरा (न अश्नाति) अशन अर्थात् पान नहीं कर पाता !

वेदोक्त आच्छादन विधियों अर्थात् वचाव के वैदिक साधनों और उपायों द्वारा वीर्य शरीर में लीन हो सकता है, और इस प्रकार रक्षित हो सकता है । शृङ्गारोत्पादक गीतों, कथाओं तथा वार्तालापों से शरीर में वीर्य स्थित नहीं रहता । वैदिक धार्मिक वाणियों को सुनते रहने से ही वीर्य शरीर में स्थित होता है ।

स्त्री-भोगी-पुरुष, अर्थात् पार्थिव-भोगों में लिप्त पुरुष, वीर्याशन—जिसे कि ऊपर सोम-पान कहा है—नहीं कर सकता ।

बड़ी वाणी है । चूंकि यह ईश्वरीय है । बृहती = वाक् . श० ब्रा० १४, ४, १, २२) । वैदिक वाणी सृष्टि के आदि की वाणी है । अन्य वाणियाँ इससे बाद की हैं । इसलिए भी वैदिक वाणी बृहती है, बड़ी है ।

२ आच्छादविधान का अर्थ है आच्छादन करने की विधियाँ टाँकने की विधियाँ, सुरक्षित रखने और बचाने की विधियाँ जिनसे कि वीर्य शरीर में ही आच्छादित रहे वे विधियाँ ।

३ ग्रावा = वाणी. विद्वान् । (निघण्टु) ॥

दूसरा प्रकरण

आदित्य-ब्रह्मचारिणी का दहेज

(६) चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् ।

द्यौभूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम् ॥

(अथर्व० १४, १, ६)

(चित्तिः) सम्यक्ज्ञान, (उपबर्हणम्) तकिया, (आः) था, (चक्षुः) दृष्टि-शक्ति (अभ्यञ्जनम्) अंजन या सूरमा (आः) था, (द्यौभूमिः) द्यु लोक और भूलोक (कोशः) ज्ञान का खजाना (आसीत्) था, (यत्) जब कि (सूर्या) आदित्य ब्रह्मचारिणी (पतिम्) पति को [अयात्] गई ।

उच्चकोटि का विवाह है आदित्य-ब्रह्मचारी का आदित्य-ब्रह्मचारिणी के साथ । आदित्य ब्रह्मचारी के लिये मन्त्र संख्या १ में आदित्य नाम आया है ।

आदित्य-ब्रह्मचारिणी को इस मन्त्र में सूर्या कहा है । वैदिक साहित्य में ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करने वाले को 'आदित्य-ब्रह्मचारी' माना

-
- 1 अंग्रेजी भाषा में भी चक्षु का वाचक Eye शब्द व्यापक अर्थ रखता है । Eye का अर्थ केवल स्थूल आंख ही नहीं है ; इसका अर्थ ख्याल, विचार आदि भी हैं । यथा:-In my mind's eye, To see eye to eye । इसी प्रकार इस मन्त्र का चक्षुः शब्द भी व्यापक अर्थ रखता है । यहाँ सम्यक् ज्ञान को चक्षुः कहा है ।

है। इसके योग्य-वधू २४ या ३२ वर्षों की ब्रह्मचारिणी होनी चाहिये। इस ब्रह्मचारिणी को यहां “सूर्या” कहा गया है। ऋषि दयानन्द इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि “स्त्री की आयु से वर की आयु न्यून से न्यून ड्योढ़ी और अधिक से अधिक दूनी होवै” [संस्कारविधि विवाह-प्रकरण]।

आजकल के रीति-रिवाज में वधू जब पति के घर जाने लगती है तो वह साथ पर्याप्त दहेज लेकर जाती है। इन मन्त्रों में वैदिक-दहेज का वर्णन किया है। इस मन्त्र में दर्शाया है कि सूर्या अर्थात् आदित्य ब्रह्मचारिणी जब पति के घर की ओर गई तब वह कौन सा तकिया, अञ्जन [सुरमा], या खजाना साथ लेती गई।

मन्त्र में लिखा है कि वह ज्ञान का तकिया, सदाचार और विज्ञान का अञ्जन [सुरमा], तथा द्युलोक और भूलोक के ज्ञान-रूप-खजाने को साथ लेती गई।

इसका अभिप्राय यह है कि आदर्श विवाह में बाह्य दहेज की कोई आवश्यकता नहीं। जहाँ उच्च कोटि के पढ़-लिखों अर्थात् उच्च कोटि के आदित्य-ब्रह्मचारी तथा आदित्य-ब्रह्मचारिणी में परस्पर प्रेमपूर्वक विवाह हो वहाँ वधू का असली दहेज वधू के सद्गुण तथा उसकी विद्या और सुशीलता आदि ही हैं। सम्यग्-ज्ञान सिर को पवित्र करता है, सिर का आश्रय होता है, इसलिए सम्यग्-ज्ञान को विदुषी वधू का तकिया कहा है। इसी प्रकार अञ्जन अर्थात् सुरमे का काम है चक्षु की शक्ति को बनाए रखना तथा बढ़ाना। आदित्य ब्रह्मचारिणी में जो दिव्य और विद्यासम्पन्न दृष्टिशक्ति होती है वही इसका मानो सुरमा है। तथा द्युलोक और भूलोक का विस्तृत और व्यापक ज्ञान ही इस आदित्य ब्रह्मचारिणी का बड़ा खजाना है जिसे कि पिता के घर से प्राप्त कर वधू पति के गृह की ओर प्रस्थान करती है।

(७) रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी ।

सूर्याया भद्रामद्रासो गाथयैति परिष्कृता ॥

(अथर्व० १४।१।७)

(रैभी)^१ धन-सम्बन्धी-विद्या या अर्थशास्त्र की ऋचाएँ (अनुदेयी)^२ साथ दी गई सम्पत्ति आसीत् थी, (नाराशंसी^३ नर-नारी के कर्तव्यों का वर्णन करने वाली ऋचाएँ (न्योचनी)^४ उसके साथ रहने वाली सम्पत्ति थी । (सूर्यायाः) सूर्या अर्थात् आदित्य-ब्रह्मचारी की वधू जो कि आदित्य-ब्रह्मचारिणी है उसका (वासः) पहिरावा (भद्रम् इत्) भद्र ही था, (गाथया) गान-विद्या द्वारा (परिष्कृता) परिष्कृत हुई वह (एति) पतिगृह में आती है ।

वर्तमान समय में नववधू जब पति के घर जाती है तो वह साथ प्राकृतिक दहेज लेकर जाती है । साथ दी गई सम्पत्ति को यहाँ “अनुदेयी” कहा है । सूर्या या आदित्य-ब्रह्मचारिणी को पढ़ाए गए वे मन्त्र, जिनमें कि धनविद्.१ या अर्थशास्त्र का वर्णन आता है, मानो

१ रैभी = रै या रयि (धन) + भा (प्रकाश) + ई । अर्थात् धनविद्या का प्रकाश करने वाली वैदिक-ऋचाएँ ।

२ अनुदेयी = अनु (साथ या पीछे) + देयी (देने योग्य सम्पत्ति) ।

३ नाराशंसी = नर-नारियों के कर्तव्यों का शंसन अर्थात् वर्णन करने वाली वैदिक ऋचाएँ ।

४ न्योचनी = नि (सदा) + उच् (समवाये) । सदा साथ रहने वाली ऋचाएँ ।

विवाह में साथ दी गई सम्पत्ति है। जिसे अर्थशास्त्र की विद्या ज्ञात है वह धन की दृष्टि से गरीब कैसे हो सकती है ? ।

मनुस्मृति में भी कहा है कि :—

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ॥

॥ अ० ६, श्लो० ११ ॥

अर्थात् पत्नी को धन-संग्रह तथा धनव्यय के काम में लगाना चाहिए। अर्थात् घर के धन के संग्रह तथा व्यय का अधिकार पत्नी को देना चाहिए। विना अर्थविद्या के जाने अर्थसंग्रह और अर्थव्यय का कार्य सफलता पूर्वक सम्पन्न नहीं हो सकता।

इसी प्रकार आदित्य-ब्रह्मचारिणी को ब्रह्मचर्य काल में जो नर-नारी के कर्तव्यों के वर्णन करने वाले मन्त्र पढ़ाए गए हैं वे नववधू के साथ सदा रहने वाली सम्पत्ति है। अनुदेयी-सम्पत्ति की अपेक्षा न्योचनी-सम्पत्ति अधिक महत्व वाली है। नव-वधू को न्योचनी-सम्पत्ति का साथ कभी न छाड़ना चाहिए।

विवाह के समय के, तथा दहेज रूप में दिए गए, वधू के वस्त्र चमकीले-भड़कीले न होने चाहिए, अपितु भद्र होने चाहिए, जो कि उसकी उच्च-विद्या तथा तपस्वी-जीवन के अनुकूल हों।

नववधू गान-विद्या द्वारा परिष्कृत भी होनी चाहिए, अर्थात् नववधू गानविद्या का शृंगार लिए हुई होनी चाहिये। गृहस्थ-जीवन को मधुर, सुखमय, तथा रसीला बनाने के लिए वधू गानविद्या के शृंगार से अवश्य सुसज्जित होनी चाहिए।

(८) स्तोमा आसन् प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः ॥

(अथर्व० १४, १, ८)

(स्तोमाः^१) वैदिक मन्त्रों के गेयस्वरूप, (सूर्यायाः) सूर्या के (प्रतिधयः^२) प्रतिधि अर्थात् नानाविध अन्न (आसन्) थे; (छन्दः) और वैदिक-छन्द या वैदिक छन्दः-शास्त्र (कुरीरम् ओपशः) कुरीर और ओपश नाम के आभूषण थे।

- १ गीतों के छपे हुए सामान्यस्वरूपों और उनके गाने के योग्य स्वरूपों में अन्तर होता है। गीतों के छापने में गीतों का सामान्यस्वरूप प्रायः छपा जाता है। उन गीतों को जब गाया जाता है तब गीतों के कई चरणों को वार २ दोहरा कर गाया जाता है तथा साथ ही कई स्थानों में ह्रस्व स्वरों को दीर्घ तथा प्लुत करके, तथा स्वरों को भी कई वार दोहरा कर, और बीच २ में नाना प्रकार के स्तोभ शब्दों (अर्थात् अर्थहीन “हा, हो” आदि आलाप के सहायक शब्दों) को डाल कर गाने के स्वरूप को पूरा किया जाता है। गान में जो २ शब्द तथा स्वर उच्चारित होते हैं यदि उन सब को लिख लिया जाय तो यह उस गीत का “स्तोभ” कहलाएगा। इसी प्रकार वैदिक मन्त्र जब गाए जाते हैं तब वैदिक मन्त्रों के भी कई पद तथा चरण वार २ दोहराए जाते हैं, कहीं २ स्वरों को दीर्घ तथा प्लुत में परिवर्तन करना होता है, कई वार मध्य २ में आलाप भी आ जाता है। गान के इस समूचे-स्वरूप को “स्तोम” कहेंगे। आलाप के उपयोगी निरर्थक शब्दों को स्तोभ कहते हैं। इस प्रकार वैदिक मन्त्रों के नित्यस्वरूप और गेयस्वरूप में अन्तर पड़ जाता है। इन्हीं गेयस्वरूपों को स्तोम कहते हैं।

- २ प्रतिधि = Food (आपटे), अर्थात् अन्न।

सूर्या के विविध प्रकार के अन्न भिन्न २ प्रकार के वैदिक गेय-स्वरूप या भजन थे । अन्न शारीरिक भी होता है, मानसिक भी, और आत्मिक भी । यह सूर्या शारीरिक-अन्तों के स्थान में मानसिक और आध्यात्मिक अन्तों से अधिक रुचि रखने वाली थी । इस वर्णन से सूर्या की मनोवृत्ति कैसी होनी चाहिये, इस पर प्रकाश पड़ता है । वैदिक-छन्द रूपी आभूषण इसने अपने सिर पर पहने हुए थे । यह आदर्श, स्त्रीजाति के महत्व को, वेदों की दृष्टि में, बहुत ऊँचा उठा रहा है । कुरीर^१ सिर का आभूषण है । ओपश^२ भी सिर का आभूषण है ।

-
- १ कुरीर = A kind of head-dress for woman (आपटे), अर्थात् स्त्री का एक प्रकार का सिर का आभूषण ।
- २ ओपश = An ornament of the head (आपटे), अर्थात् सिर का एक आभूषण ।

तीसरा प्रकरण

विवाह में प्रेरक भाव और वरणा

(८) सूर्याया अश्विना वग्निरासीत् पुरोगवः ॥

(अथर्व १४/१/८)

(९) सोमो वधूयुरभवदश्विना स्तामुभा वरा ।

सूर्याम् यत् पत्ये शपन्तीं मनसा सविताददात् ॥

(अथर्व १४/१/९)

(सूर्यायाः) सूर्या-ब्रह्मचारिणी के (अश्विनौ) माता-पिता (वरा = वरौ) वर के वरने वाले थे, और (अग्निः) अग्नि (पुरोगवः आसीत्) इस समय आगे चलन वाला अगृह्या या मुखिया था ।

(सोमः) वीर्यवान् ब्रह्मचारी (वधूयुः) वधू की इच्छा वाला (अभवत्) जब हुआ तब उसके (अश्विना = अश्विनौ) माता-पिता भी (वरा = वरौ) कन्या के वरने वाले (आस्ताम्) हुए । (यत्) जब कि (शंसन्तीम्) पति की प्रशंसा करती हुई या पति की चाहना करती हुई (सूर्याम्) सूर्या-ब्रह्मचारिणी को (सविता) सूर्या के उत्पादक पिता ने (मनसा) अपने मन से अर्थात् प्रसन्नता पूर्वक पत्ये पति के लिये (अददात्) दिया, सौंपा ।

सूर्याः— सूर्य अर्थात् आदित्य ब्रह्मचारी की पत्नी होने योग्य जो ब्रह्म-चारिणी है उसे सूर्या कहा गया है । सूर्या-ब्रह्मचारिणी के लिये योग्य पति आदित्य-ब्रह्मचारी ही हो सकता है ।

अश्विनौः— मन्त्र ८वें और ९वें में अश्विनौ पद आया है । ८वें में अश्विनौ का सम्बन्ध सूर्या से है और ९वें में सोम अर्थात् वीर्य-

शक्तिवाले आदित्य-ब्रह्मचारी से। यहां अश्विनो द्वारा माता-पिता का ग्रहण किया गया है। सूर्या के माता-पिता, तथा सोमशक्ति वाले आदित्य-ब्रह्मचारी के माता-पिता, वर और वधू को चुनाव में सहायता तथा परामर्श दें। निरुक्त^१ में अश्विनो की व्याख्या में यह भी लिखा है कि “अश्विनो से द्युलोक और पृथिवी-लोक का भी ग्रहण होता है”। अथर्ववेद के विवाह के मन्त्रों में “द्यौरहं पृथिवी त्वम्” द्वारा पिता को द्यौः तथा माता को पृथिवी कहा गया है। इस प्रकार यहां अश्विनो^२ पद द्वारा माता-पिता का ग्रहण उचित ही प्रतीत होता है।

वरी— यहां वर का अर्थ विवाहेच्छुक भावी-पति नहीं। अपितु विवाह के इच्छुक भावी पति-और-पत्नी के परस्पर सम्बन्धों का वरण करने वाले अर्थात् चुनने वाले उन के माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धी लोग हैं। वर-वधू के चुनाव में इन के माता-पिता का परामर्श आवश्यक है।

अग्निः पुरोगवः— पुरोगव का अर्थ है “आगे चलने वाला”। सूर्या के.

- १ तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येके । (निरुक्त अ० १२, पा० १ खं० १)।
- २ अथर्व० का० १४, सू० २, मं० ७१; ।
- ३ ये अश्विनो पर आरूढ होकर कन्या के तथा वर के घर जाँय,— इस अभिप्राय से इन्हें अश्विनो कहा है।
- ४ आपस्तम्ब गृह्यसूत्रों में लिखा है कि “सुहृदः समवेतान् मन्त्रवतो वरान् प्रहिणुयात्” (पटल २, खण्ड ४, सू० १)। अर्थात् कई मित्रों को, जोकि परस्पर एकमत हैं, जोकि विद्वान् हैं, ऐसे वरों को, कन्या के वरण के लिये भेजे। इस स्थान में भी विवाहेच्छु व्यक्ति को, वरण-कर्म में जो सहायता देते हैं, उन्हें ‘वर’ कहा गया है।

लिये वर का चुनाव तब करना चाहिये जब कि सूर्या में स्थित अग्नि-शक्ति विवाहेच्छा में प्रेरक हो । अर्थात् अग्नि-शक्ति को विवाह-बन्धन से आग चलना चाहिये । विवाह-बन्धन में अग्नि-शक्ति पूर्वगामी होनी चाहिये और विवाह इस शक्ति का अनुगामी होना चाहिये । इस कथन का अभिप्राय यह है कि युवति में स्थित अग्नि-शक्ति में जब विवाह की उग्र इच्छा उत्पन्न हो जाय तभी सूर्या के माता-पिता सूर्या के लिये सदृश-पति की खोज और वरण करें, उससे पूर्व नहीं । सूर्या आदित्य-ब्रह्मचारिणी है । इसने पर्याप्त आयु संयम से बिताई है । यदि यह आजीवन ब्रह्मचारिणी रह सके तो सर्वोत्तम है । परन्तु यदि सूर्या-ब्रह्मचारिणी की अग्नि-शक्ति में विवाहेच्छा उत्पन्न हो जाय, तो इसका सदृश पति के साथ विवाह अवश्य हो जाना चाहिये । युवतियों में जो मासिकधर्म प्रकट हुआ करता है उसे इस मन्त्र में अग्नि कहा है । मासिकधर्म का रूप लाल होता है अतः वह अग्नि का रूप है । मासिकधर्म प्रेरक है गृहस्थधर्म का या गृहस्थभावना का । युवति की इस अग्नि में जब विवाह की इच्छा प्रकट हो जाय तो युवति के विवाह का प्रबन्ध होना चाहिये । इसी भाव को मन्त्र के शब्दों में कहा गया है कि "अग्नि आगे चलने वाला, अगुआ या मुखिया था" । मासिकधर्म वाली युवति को "रजस्वला" भी कहते हैं । मासिकधर्म की अवस्था में युवति में रजस् अर्थात् रजोगुण का अधिक प्रादुर्भाव हो जाता है, जो कि विवाहेच्छा में प्रेरक होता है । मासिकधर्म के होते हुए भी जब तक सूर्या में विवाहेच्छा उग्र-रूप में प्रकट न हो तब तक इस का विवाह न होना चाहिये ।

सोमो वधूयुः^१— इसी प्रकार आदित्य ब्रह्मचारी की सोम-शक्ति में जब वधू के लिए इच्छा हो जाय तभी उसके लिये भी सद्श-पत्नी का चुनाव होना चाहिए। इससे पूर्व नहीं। सर्वोत्तम है यदि आदित्य-ब्रह्मचारी की सोमशक्ति सदा सात्विक बनी रहे और उसमें वधू के लिए इच्छा ही न पैदा हो। ऐसे सात्विक ब्रह्मचारियों से जगत् का कल्याण हो जाता है। सोम शब्द का अर्थ “चन्द्रमा” भी होता है। चन्द्रमा का वर्ण शुक्ल होता है और वीर्य का वर्ण भी शुक्ल होता है। इस दृष्टि से भी वीर्य को सोम कहा गया है। ‘रज’ का वर्ण लाल होता है इसलिए रज को अग्नि कहा है। यह प्राणिजगत् रज और वीर्य से उत्पन्न होता है इसलिए प्राणिजगत् को हम “अग्नी-पोमीय” कह सकते हैं, अर्थात् अग्नि और सोम से उत्पन्न होने वाला। इस वर्ण की दृष्टि से सोम अर्थात् वीर्य को शुक्र भी कहते हैं। शुक्र=शुक्ल= श्वेतवर्ण वाला।

शंसन्तीम्^२— पति की प्रशंसा करती हुई या पति की चाहना करती हुई सूर्या। युवति के मन में जब विवाह की इच्छा उत्पन्न हो जाती है तब वह पति-सम्बन्धी वार्तालाप को चाहती है, पति मेरा कैसा होना चाहिए— इसका स्वयं शंसन अर्थात् कथन वह करने लगती है। यह “शंसन” विवाहेच्छा का सूचक होता है। अर्थात् सूर्या जब विवाह को चाहे तभी उसके विवाह का प्रबन्ध होना चाहिए, उसके चाहे बिना नहीं।

सविताः^३— अर्थात् कन्या का उत्पादक, उसका पिता।

- १ वधूयुः=वधू+क्यच् (इच्छा)+उ (वाला)। वधू की इच्छा वाला।
- २ शंसं= To praise, approve (संस्कृत कोष, आपटे)।
- ३ पू प्रसवे। सविता शब्द “पू” धातु से बना हुआ है। ‘पू’ का अर्थ है— प्रसव, अर्थात् उत्पत्ति। इसलिये उत्पादक पिता को यहां सविता कहा है।

चौथा प्रकरण

पतिगृह की ओर सूर्या के प्रस्थान का रथ

(१०) मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुतच्छदिः ।

शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात् सूर्या पतिम् ॥

(अथर्व० १४।१।१०)

(अस्याः) इस सूर्या अर्थात् आदित्य-ब्रह्मचारिणी का (अनः) रथ (मनः) मन (आसीत्) था, (उत) और (छदिः) रथ की छत्त (द्यौः) द्युलोक अर्थात् सिर था, दिमाग था, विचार-शक्ति थी । (अनड्वाहौ) रथ-के-बहन करने वाले दो बैल (शुक्रौ) बलवान्-तथा-सात्विक ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ थीं, (यद्) जब कि (सूर्या) आदित्य-ब्रह्म-चारिणी (पतिम्) पतिगृह की ओर (अयात्) गई ।

इस अर्थ में पत्नी के सद्गुणों पर प्रकाश डाला गया है । विवाह में, वधू और वर का विवाह-के-योग्य होना मात्र, अपेक्षित है । शेष धन आदि सामग्री हो या न हो इसका विशेष महत्त्व नहीं । विवाह होने के पश्चात् वधू को कोई उत्तम रथ पतिगृह की ओर जाने को न भी मिले तो भी कोई आपत्ति नहीं । मन्त्र में दर्शाया है कि:-

इस वधू का मन ही रथ था । वधू का मन वधू को पतिगृह की ओर ले जाने वाला है । संस्कृत साहित्य में मनोरथ शब्द बहुधा प्रयुक्त होता है । मनोरथ का भी अर्थ है “मनरूपी रथ” ।

इस मन-रूपी रथ की छत्त थी “द्युलोक” । वैदिक साहित्य में आध्यात्मिक अर्थों की दृष्टि में शीर्षलोक अर्थात् सिर को द्युलोक कहा गया है । यजुर्वेद ३१।१३ में लिखा है कि “शीर्ष्णो द्योः सम-

वर्तते", अर्थात् सिर द्युलोक का प्रतिनिधि है। इसी प्रकार अथर्व-वेद १०।७।३२ में लिखा है कि "यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै जेष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ अर्थात् "परमात्म-पुरुष का पैर भूमि है, उदर अन्तरिक्ष है, मूर्धा अर्थात् सिर द्युलोक है"। इस प्रकार इस मन्त्र में "द्यौः" का आध्यात्मिक अर्थ है सिर, दिमाग, या विचार। "मन" शब्द तो इच्छाशक्ति का द्योतक है और "द्यौः" विचार-शक्ति का। सूर्या के मनरूपी रथ पर अर्थात् उसकी इच्छाशक्ति पर "द्यौः" अर्थात् विचारशक्ति की छत लगी हुई थी, अर्थात् सूर्या की इच्छाशक्ति उसकी विचारशक्ति के नीचे थी, अधीन थी। वधू जो इच्छाशक्ति के रथ पर सवार होकर पतिगृह की ओर चली उस समय उसकी इच्छाशक्ति उसकी विचार-शक्ति के नीचे होकर उसे पतिगृह की ओर ले जाती है। अर्थात् पतिगृह की ओर केवल भावुकता में आकर ही नहीं चली, अपितु सोच, विचार कर वह चली है।

इस रथ के वहन करने वाले दो बैल (यान्त्रिक शक्ति) मनस् = रथ, वाही = वहन करने वाले) दो बैल। सूर्य के सन्निहित ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ थीं। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ मन-रूपी रथ के वाहक हैं। इन्द्रियाँ अपने २ विषयों में मन को खींचे ले जा रही हैं। सूर्या के विवाह में सूर्या की इन्द्रियाँ सूर्या के मन-रूपी रथ का वहन करने वाली थीं। भौतिक दृष्टि में यह मन्त्र सूर्या के भौतिक-रथ का भी वर्णन करता है। अर्थात् "सूर्या विवाह के अनन्तर जब पति-गृह की ओर गई तब इसका रथ मननीय था, मन को भाने वाला था, इस रथ की छत द्युलोक की न्याईं सजी हुई थी। जैसे कि द्युलोक सितारों से सजा करता है वैसे सजी हुई थी। इसके आगे दो मजबूत और सुफेद बैल जुते हुए थे।"

सूर्या के प्रस्थान का गथ

(११) ऋक् सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावैताम् ।

श्रोत्रे ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥

(अथर्व १४/१/११)

(ते) हे सूर्या-ब्रह्मचारिणी ! तेरे, (सामनौ) सात्त्विक-शक्ति से सम्पन्न (गावौ) ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां रूपी दो बैल, (ऋक्-सामाभ्याम्) ऋग्वेद के ज्ञान और सामवेद की उपासना द्वारा, (अभिहितौ) प्रेरित हुए २ (ऐताम्) पतिगृह की ओर चले थे । (ते) तेरे मन रूपी रथ के (चक्रे) दो पहिये (श्रोत्रे) तेरे दो कान थे, (दिवि) और धुलोक में (पन्थाः) जैसे मार्ग है (चराचरः जोकि खूब चलता है, जिस में कि असंख्य तारागण विचर रहे हैं, इसी प्रकार का तेरे जीवन का गृहस्थ-मार्ग भी है जो अनादि काल से चलता चला आया है । इस मन्त्र में भी पत्नी के सद्गुणों पर प्रकाश डाला है ।

इस मन्त्र में “गावौ” शब्द द्विवचन है । १०वें मन्त्र में “अनड्वाही” शब्द आया है । गावौ और अनड्वाही यहां एक ही अर्थ के वाचक हैं । ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को यहां गावौ^१ और अनड्वाही पदों द्वारा निदिष्ट किया गया है । उपनिषदों में इन्द्रियों को अश्व कहा गया है । यथा:—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहेमेव च ।

इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयान् तेषु गोचरान् ॥

(कठ०, ३/३)

१ गो = The eye; An organ of sense (आपटे कोष) ।

परन्तु वेदों में इन्द्रियों को “गी” भी कहा है। इन्द्रियों के विषयों को इसी दृष्टि से “गोचर” कहते हैं, अर्थात् गौएँ (इन्द्रियां) जहां विचरती हैं।

सूर्या-ब्रह्मचारिणी की ये दोनों इन्द्रियां “सामनी” अर्थात् सात्विक-शक्ति से सम्पन्न थीं। अतः सूर्या का पतिसम्बन्धी चतुर्धा सात्विक-भावना का परिणामभूत था। साथ ही सूर्या की दोनों इन्द्रियां ऋग्वेद के ज्ञान और सामवेद की उपासना द्वारा प्रेरणा पाई हुई थीं। इनमें किसी प्रकार का मल-विक्षेप और अनुचित राग न था।

सूर्या के मन-रूपी-रथ के दो पहिये उस के दो श्रोत्र थे। अर्थात् रथ को जैसे पहिये चलाते हैं इसी प्रकार उस के मन-रूपी-रथ को चलाने वाले उस के दो श्रोत्र थे। श्रोत्रों द्वारा सूर्या ने पति के जो सात्विक गुण सुने हुए थे, पति की जो कीर्ति और यश सुना हुआ था, वही, सूर्या के मन-रूपी-रथ का प्रेरक बना, चलाने वाला बना।

साथ ही इस मन्त्र में यह भी कहा है कि गृहस्थ-पथ कोई नीच या बुरा पथ नहीं है। यह पथ चराचर है, सदा चलता चला आया है। ऋषि-मुनि आदि भी इस पथ पर चलते आए हैं। सब प्राणिजगत् का ही यह पथ है। अतः इस पथ की ओर बढ़ना और इस पर चलना सांसारिक नियम ही है। इसे नीचा और अधम पथ न समझना चाहिये।

इस मन्त्र का भौतिक अर्थ यह है कि “सूर्या के रथ के दो बल बड़ी शान्ति से चले। तब ऋग्वेद के मन्त्र पढ़े गये और सामगान किया गया। इस रथ के दो पहिये प्रशंसा के योग्य थे, और रास्ता दिन में चला गया”।

(१२) शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः ।

अनो मनस्मयं सूर्यागोहत् प्रयती पतिम् ॥

(अथर्व० १४।१।१२)

(ते यात्याः) हे सूर्या ! तुझ जाती हुई के (चक्रे) रथ के दो पहिए (शुची) शरीर को पवित्र रखने वाले प्राण और अपान थे, (अक्षः) और उन पहियों में धुरा (व्यानः)^१ व्यान का (आहतः) लगा हुआ था, जब कि (पतिम् प्रयती) पतिगृह की ओर प्रयाण करती हुई (सूर्या) सूर्या-ब्रह्मचारिणी (मनस्मयम्) मनोमय^२ अर्थात् मनरूपी (अनः) रथ पर (आरोहत्) आरोढ़ हुई, चढ़ी ।

इस मन्त्र में दो पहियों के सम्बन्ध में नई धारणा प्रकट की गई है । ११वें मन्त्र में दो श्रोत्रों को दो पहिए कहा गया था । इस मन्त्र में प्राण और अपान को दो पहिए कहा है । वैदिक साहित्य में प्राण और अपान के लिए “पवित्र” शब्द का प्रयोग होता है । क्योंकि प्राण और अपान शरीर की पवित्रता करने वाले हैं । यथाः—

“प्राणापानौ पवित्रे” [तै० ब्रा० ३।३।४।४; तथा ३।३।६।७; । प्राण फेफड़ों में प्रविष्ट हो कर खून की अशुद्धि को बाहिर करता है, इसी प्रकार अपान मल-मूत्र को निकाल कर शरीर की शुद्धि करता है । पवित्रता करने के कारण प्राण और अपान को पवित्र कहा गया है । मन्त्र में पवित्र शब्द के स्थान में शुची शब्द पढ़ा गया है । पवित्र

- १ देहस्थे सर्वशरीरव्यापके प्राणादिमध्ये वायुभेदे । व्यानो विष्वक्-अननवान् वायुः ॥ (वाचस्पत्य कोष) ॥ अर्थात् सब शरीर में व्याप्त होकर शरीर के अङ्ग २ में शक्ति का सञ्चार करने वाला वायु व्यान है ।

- २ मनस्मय = मनोमय = spiritual, mental.

और शुची इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है। मन की गति प्राण-और-अपान के सहारे होती है। मन-रूपी-रथ के दो पहिए सूर्य के बलिष्ठ प्राण और अपान थे।

प्राण और अपान में परस्पर सम्बन्ध जोड़ने वाली व्यान-शक्ति है। व्यान-शक्ति समग्र शरीर में काम कर रही है। नस-नाड़ियों को गति और शक्ति देना व्यान-शक्ति का प्रधान काम है। जो व्यान-शक्ति समग्र शरीर को चला रही है वही प्राण-और-अपान रूपी पहियों में धुरा के रूप में निहित है। व्यान शक्ति की क्षमता के कारण शरीर में प्राण और अपान परस्पर सम्बद्ध हुए रात-दिन अक्षुण्ण रूप में चला करते हैं। अभिप्राय यह है कि कन्या के प्राण, अपान और व्यान जब बलिष्ठ तथा दृढ़ हो जाँय तभी उसका विवाह करना चाहिए, उसे पूर्व नहीं।

इस मन्त्र का भौतिक अर्थ यह है कि “हे सूर्या ! तू जब पति की ओर चली तब तेरे रथ के दोनों पहिए साफ-सुथरे थे, रथ में मजबूत अक्ष लगा हुआ था और रथ मननीय था।”

पाँचवां प्रकरण

वाग्दान, तथा विवाह काल

(१३) सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ।

मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते ॥

(अथर्व १४/१/१३)

(सूर्यायाः) सूर्या-ब्रह्मचारिणो का (वहतुः^१) विवाह (प्रागात्) समीप आ गया है, (यम्) जिस विवाह की स्वीकृति (सविता) ब्रह्म-चारिणो के उत्सादक पिता ने (अवासृजत्^२) दी थी । (मघासु) माघ मास में (गावः^३) वचन (हन्यन्ते^४) दिये जाते हैं, वाग्दान किया जाता है, (फल्गुनीषु) आर फाल्गुन में (व्युह्यते) कन्या का विवाह हो जाता है । अवासृजत्ः— कन्या की स्वीकृति लेने के पश्चात् कन्या का पिता कन्या का विवाह सम्बन्ध निश्चित करे । सविता शब्द द्वारा गुरु भी अभिप्रेत हो सकता है । वह विद्या या सावित्री के गर्भ से जन्म दे कर व्यक्ति को द्विजन्मा बनाता है ।

१ वहतु = Marriage (आपटे) ।

२ अवसर्ग = Allowing (आपटे) ।

३ गौ = वाक् (वाणी, वचन) । (निघ० अ० १, ऋगिड० ११) ।

४ हन् = िसा और गति । यहाँ “गति” अर्थ अभिप्रेत है । आपस्तम्ब ऋषि के गृह्यसूत्रों में वाग्दान के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूत्र हैं । “मघाभिः गावो गृह्यन्ते”, “फल्गुनीभ्यां व्यूह्यते” । हमने “हन्यन्ते” का जो अर्थ किया है उस का “गृह्यन्ते के साथ अधिक सादृश्य है ।

विवाह के कुछ समय पूर्व ही विवाह के निमित्त कन्या के पिता या गुरु^१ की ओर से कन्या का वाग्दान हो जाना चाहिये । तथा विवाह का समय भी पूर्व हो निश्चित हो जाना चाहिये । वेद ने माघ में वाग्दान करना लिखा है, और वाग्दान के एक ही मास पश्चात् अर्थात् फाल्गुन में विवाह हो जाने का विधान किया है । वाग्दान और विवाह में बहुत लम्बे समय का अन्तर न होना चाहिये ।

मघा और फाल्गुनी नाम निरर्थक अर्थात् अर्थहीन मासों के नाम यहाँ नहीं हैं । ये नाम यहाँ सार्थक प्रतीत होते हैं । वेद में “मघ”

- १ महर्षि दयानन्द जी के सत्यार्थ-प्रकाश में वाग्दान तथा विवाह के सम्बन्ध में यह लेख मिलता है :- “ जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो अर्थात् जब एक वर्ष वा छः महीने ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या पूर्ण होने में शेष रहें तब उन कन्या और कुमारों का प्रतिबिम्ब अर्थात् जिसको “फोटोग्राफ़” कहते हैं अथवा प्रतिकृति उत्तार के कन्याओं की अध्यापिकाओं के पास कुमारों की, कुमारों के अध्यापकों के पास कन्याओं की प्रतिकृति भेज दें । जिस २ का रूप मिल जाय उस २ के इतिहास अर्थात् जन्म से लेके उस दिन पर्यन्त जन्मचरित्र का पुस्तक हो उसको अध्यापक लोग मंगवा कर देखें । जब दोनों के गुण कर्म स्वभाव सदृश हों तब जिस २ के साथ जिस २ का विवाह होना योग्य समझे उस २ पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और वर के हाथ में दें और कहें कि इसमें जो तुम्हारा अभिप्राय हो सो हमको विदित कर देना, जब उन दोनों का निश्चय परस्पर विवाह करने का हो जाय तब वहाँ, नहीं तो कन्या के माता पिता के घर में, विवाह योग्य है । जब वे समझ हों तब उन अध्यापकों वा कन्या के माता पिता आदि भद्रपुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत शास्त्रार्थ कराना और जो कुछ गुप्त व्यवहार पूर्ण हो सो भी सभा में लिख कर एक दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवे ” ।

का अर्थ है “धन” । जिस काल में धन की आशा हो उस काल या मास को यहाँ “मघा” कहा है । “मघासु” में बहुवचन के प्रयोग का अभिप्राय वह लम्बा-काल है जिसमें धन-प्राप्ति की आशा बनी रहती है । “फल्गुनी” शब्द का अर्थ है फल-रूपी-गुण वाला काल । अर्थात् जिस काल में फल मिल जाते हैं । चने, गेहूँ तथा जौ के पौदों में जब चने, गेहूँ तथा जौ प्रकट हो जाते हैं और जब तक वे पूरे पकते नहीं—इस काल को मघा-काल कहेंगे । जब खेतों में चने, गेहूँ और जौ आदि अन्नों (फलों) के साथ पौदे लहलहाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं तब धन की आशा जागरूक होती है । उस काल में, अर्थात् मघा-काल में वाग्दान कर देना चाहिए । तथा जिस काल में उन पौदों पर के फल पूरे पक जाँय और कट कर घर में पहुँच जाँय, उस काल में, अर्थात् फाल्गुन काल में विवाह का उत्सव मनाना चाहिए । इस काल को “फाल्गुन” इस लिये कहा है चूँकि इस काल में घर फल-रूपी-गुणों से सुसज्जित हो जाते हैं । चना, गेहूँ, जौ रूपी फल, — जोकि गृहजीवन के गुणरूप हैं, — इस काल में, घरों को सुशोभित कर देते हैं । इस लिये इस काल को “फाल्गुन” कहा है । गेहूँ, चने तथा जौ रूपी फल वसन्त-काल के हैं । इस लिये वसन्त-काल में जब कि अन्न कट कर घरों में पहुँच जाय तब विवाहोत्सव रचाना चाहिये । वसन्त-काल में एक तो सरदी का प्रकोप नहीं रहता, यह ऋतु अत्यन्त सुहावनी होती है, तथा इस काल में अन्न भी एकत्रित हो जाता है । इन दृष्टियों से वसन्त-काल विवाह के लिये उपयुक्त है ।

इस वसन्त-काल में ही “किशुक” अर्थात् टेसू या ढाक के सुन्दर फूल खिलते हैं । ये लाल २ फूल वृक्षों पर बैठे छोटे २ तोतों की आकृति के प्रतीत होते हैं । किशुक = किम् (क्या) + शुक् (तोते) । इन विवाह मन्त्रों में ६१वें मन्त्र में किशुक के फूलों द्वारा सूर्या के रथ

के सजाने का भाग वर्णन मिलता है । इस से भी विवाह का काल वसन्त-काल ही ठहरता है ।

विवाह का ३ परिक्रमाएँ

(१४) यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण बहत्तुं सूर्यायाः ।

क्वैकं चक्रं वामासीत् क्व देष्ट्राय तस्थथुः ॥

(अथर्व० १४।१।१४)

(त्रिचक्रेण^१) तीन चक्रों, तीन चक्करों, अर्थात् तीन परिक्रमाओं द्वारा (सूर्यायाः) सूर्य-ब्रह्मचारिणी के (बहत्तुं) विवाह के निमित्त (यत्) जब (अश्विना = अश्विनौ) हे वर के माता-पिता ! तुम दोनों, (पृच्छमानौ) कन्या के सद्गुणों या विवाह-चर्चा के सम्बन्ध में एक दूसरे से पूछते हुए, अर्थात् परस्पर बातचीत करते हुए (अयातम्) बधू के घर आए, पहुँचे, तब (वाम्) तुम दोनों के तीन चक्करों, तीन परिक्रमाओं में से (एकं चक्रम्) एक चक्कर, एक परिक्रमा (क्व आसीत्) किस काल में थी, तथा उस समय (देष्ट्राय^२) आदेश या निर्देश या दान देने के लिये (क्व) कहाँ (तस्थथुः) तुम दोनों बैठे थे ।

“अश्विनौ” शब्द वर के माता तथा पिता के लिये प्रयुक्त हैं । ये अश्विन पर आरुढ़ होकर बरात के साथ कन्या के गृह की ओर आते हैं । ये जब कन्या के गृह की ओर चल रहे हों तो मार्ग में विवाह-सम्बन्धी

१ त्रिचक्रेण का सामान्यतः अर्थ किया जाता “तीन चक्रों वाले रथ के द्वारा” ।

२ दिश् = To grant; To teach; To direct; To allow (आपदे) ।

परामर्श एक दूसरे से करें; ताकि विवाह सफलता-पूर्वक समाप्त हो सके ।

सूर्या के विवाह की विधि के लिये तीन परिक्रमाएँ होनी चाहिएं । एक परिक्रमा पति-पक्ष की, और दो परिक्रमाएँ पत्नी-पक्ष की होनी चाहिएं । इन परिक्रमाओं के सम्बन्ध में देखो मन्त्र संख्या (१६) । वर के माता-पिता को विवाह के समय में किसी एक निश्चित स्थान पर बैठाना चाहिए जहाँ से कि इनसे विवाह के मध्य में उचित आदेश, निर्देश लिये जा सकें, तथा जहाँ से ये विवाह की शुभ घड़ी में दान आदि की घोषणा कर सकें ।

वैदिक परिभाषा के अनुसार वर के माता-पिता “पितर” हैं । पितरों का सम्बन्ध दक्षिण दिशा के साथ है । अतः पुत्र के विवाह के समय उसके माता-पिता यज्ञकुण्ड के दक्षिण में बैठा करें ।

वर, श्वशुर को, पिता समझे

(१५) यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप ।

विश्वेदेवा अनु तद् वामजानन्

पुत्रः पितरमवृणीत पूषा ॥

(अथर्व० १४।१।१५)

(शुभस्पती) हे शोभा या शुभ-कर्मों वाले, वर के माता-पिता ! तुम दोनों, (यत्) जड़ (सूर्याम् उप^१) सूर्या-ब्रह्मचारिणी के साथ विवाह के लिए (वरेयम्^२) विवाहोत्सव में (अयातम्) आए थे,

१ उप = उपयन्तुम्, अर्थात् विवाह के लिये ।

२ वरेय = वर + एय । अर्थात् वर द्वारा प्रागणीय = वधू का घर । या विवाह ।

(तद्) तब (विश्वेदेवाः) सब दिव्य स्त्री-पुरुषों ने (वाम्) तुम दोनों के उस कर्म की (यन्तु अजानन्) अनुज्ञा दी थी, स्वीकृति दी थी, और जब (पूषा) शक्तियों से परिपुष्ट हुए (पुत्रः । तुम्हारे पुत्र ने (पितरम्) नए पिता को अर्थात् अपने स्वशुर को पितृरूप में (अबृणीत) बरा था, स्वीकार किया था, तब इस कर्म की भी सब देवों ने अनुज्ञा अर्थात् स्वीकृति दी थी ।

वर के माता-पिता आदि वर-यात्रा अर्थात् वरात में शोभाजनक वस्त्रों को धारण करें । तथा वर के माता-पिता यह ध्यान रखें कि विवाह में सब काम शुभ हों, इस मौके पर कोई अशुभ कार्य न होने पाए ।

विवाह सम्बन्ध के निर्धारण में, तथा विवाह सम्बन्धी कामों में, उस नगर या ग्राम के दिव्य लोगों अर्थात् बुजुर्गों तथा विद्वानों की अनुमति, स्वीकृति तथा शुभ आशीर्वाद, वर तथा उसके माता पिता के साथ होने चाहियें ।

वर पूजा होना चाहिये । वह शक्तियों में परिपुष्ट होना चाहिये । वर, कन्या के पिता को, पितृरूप से स्वीकार करे, और कन्या की माता को माता समझे । इसी प्रकार कन्या के अन्य सम्बन्धियों को भी वह अपने सम्बन्धी समझे । इसी प्रकार कन्या भी वर के माता-पिता को माता-पिता के रूप में स्वीकार करे, और वर के अन्य सम्बन्धियों को अपने सम्बन्धी जाने ।

(१६) द्वेते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः ।

अथैकं चक्रं यद्गुहा तदद्वातय इद्विदुः ॥

(अथर्व० १४।१।१६)

(सूर्ये) हे सूर्या-ब्रह्मचारिणो ! (ब्रह्माणः) ब्रह्म अर्थात् वेदों के जाननेवाले विद्वान्, (ऋतुथा) ऋतु के प्रकार से (ते) तेरे (द्वे चक्रे) दो चक्रों को (विदुः) जानते हैं। (अथ) तथा (एकं चक्रम्) एक चक्र और भी है (यद्गुहा) जो कि गुफा में रखी वस्तु को न्याई ओझल में होता है, छिपा सा रहता है, (तद्) उसे भी, (अद्वातयः) सत्य को प्राप्त करने वाले वैदिक विद्वान्, (विदुः) जानते हैं।

१४वें मन्त्र में कहा गया है कि एक चक्र वर के माता-पिता के सम्बन्ध का है, अर्थात् पतिपक्ष के सम्बन्ध का है।

इस १६वें मन्त्र में तीन चक्रों के दो विभाग किये हैं। इनमें से दो चक्रों का सम्बन्ध सूर्या के साथ किया गया है और यह सम्बन्ध ऋतु-अनुसार माना गया है। शेष एक चक्र का सम्बन्ध सूर्या के साथ दर्शाया गया है। परन्तु इसे अप्रधान सूचित करने के लिये इसका वर्णन “गुहा” शब्द के साथ हुआ है।

प्रतीत यह होता है कि विवाह के समय जो अग्निकी प्रदक्षिणाएँ या परिक्रमाएँ की जानी चाहियें वे संख्या में तीन होनी चाहियें। इन तीन परिक्रमाओं में से पहिली दो परिक्रमाओं में वधू आगे २ चले और वर उसके पीछे २। तीसरी परिक्रमा में वर आगे २ चले और वधू उस के पीछे २ चले। इस दृष्टि से इस तीसरी परिक्रमा में वधू ओझल में हो जाती है, वर के पीछे २ चलने से आगे की ओर से यह छिपी सी रहती है। अर्थात् पहली दो परिक्रमाओं में वधू प्रधान है और अग्रणी है, तथा पति अप्रधान और अनुगमन करने वाला है। तथा तीसरी परि-

क्रमा में वर प्रधान और अग्रणी है तथा वधू अग्रधान और अनुगमन करने वाली है ।

मन्त्र संख्या ११ और १२ में सूर्या के रथ के दो चक्र कहे हैं, तीन नहीं । इस लिये वर्तमान मन्त्र में सूर्या के रथ का वर्णन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यहां तीन चक्रों का वर्णन है । सम्भवतः वर्तमान मन्त्र में तीन परिक्रमाओं का ही वर्णन है । चक्र = चक्कर = चक्कर लगाना = परिक्रमा ।

इस मन्त्र में सूर्या के दो चक्करों के साथ “ऋतुथा” पद पड़ा है । ऋतुथा का अर्थ है ऋतु के अनुसार । महर्षिदयानन्द संस्कार-विधि में विवाह के प्रकरण में लिखते हैं कि :—

“जब कन्या रजस्वला होकर (अर्थात् मासिक ऋतु-धर्म में हो कर), पाँचवें दिन स्नान कर, रजोरहित शुद्ध हो जाय, तब जिस दिन गर्भधान की रात्रि निश्चित को हो उस रात्रि में विवाह करने के लिये प्रथम ही सब सामग्री जोड़ रखनी चाहिये ” ।

इस प्रकार सूर्या के “ऋतुथा” अर्थात् ऋतुधर्म के अनुसार, अर्थात् ऋतुधर्म के समय के अनुसार, विवाह में इन परिक्रमाओं का वर्णन हुआ है । सूर्या-सूक्त के मन्त्रों में, दृष्टान्त-रूप में, द्यौः और भूमि को आदश पति और पत्नी कहा है (मन्त्रसंख्या १, २, १३५) । इस प्राकृतिक विवाह में भी “पृथिवी” पैदा करने वाली मातृशक्ति है, और पृथिवी “ऋतुथा” अर्थात् ऋतुओं के अनुकूल-समयों में ओषधि आदि के लिये बीज ग्रहण करती और उन्हें जन्म देती है । पृथिवी पर जो ऋतुएँ होती हैं उनके सम्बन्ध में पृथिवी भी तीन प्रकार की परिक्रमाएँ करती है । उसकी एक परिक्रमा तो वार्षिक परिक्रमा है जिससे कि ऋतुओं के काल बनते हैं । ऋतुओं के साथ सम्बन्ध रखने वाली दूसरी परिक्रमा वह है जिसको कि पृथिवी लगभग २५०००

वर्षों में एक बार पूर्ण करती है। इसमें पृथिवी का अक्षबिन्दु ध्रुव के वृत्त की परिधि पर घूमता है। इसके द्वारा पृथिवी पर ऋतुओं का परिवर्तन होता रहता है। इस गति के कारण दिन-रात के बराबर होने का समय आगे पीछे खिसकता रहता है। इस घटना को अंग्रेजी में "Precession of equinoxes" कहते हैं। पृथिवी की तीसरी परिक्रमा अपने अक्ष के चारों ओर होती है। जिससे कि दिन और रात की तथा दैनिक काल विभाग की ऋतुएँ बनती हैं। इन तीनों चक्करों द्वारा पृथिवी पर ऋतु-काल होते हैं जो ऋतु-काल कि पृथिवी पर नानाविध उत्पत्तियां कर रहे हैं। पृथिवी के सम्बन्ध में "ऋतुथा" का यही अभिप्राय प्रतीत होता है।

छठा प्रकरण

धर्मपुत्र को धर्मपिता के वचन

(१७) अर्यमणं यजामहे सुवन्धुं पतिवेदनम् ।

उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः ॥

(अथर्व० १४/१।१७)

(अर्यमणम्) अर्यमा^१ का (यजामहे) हम यजन करते हैं, (सुवन्धुम्) जो कि उत्तम बन्धु^२ है, (पतिवेदनम्) और जो पति प्राप्त कराने वाला है । (बन्धनात्) बन्धन से (उर्वारुकम्) उर्वारुक^३ की (इव) न्याईं (इतः) इस पतिगृह से (प्रमुञ्चामि) मैं इस कन्या को छोड़ाता हूँ, (अमुतः) उस पतिगृह से (न) नहीं छोड़ाता ।

कन्या-पक्ष के लोग कन्या को पतिगृह में भेजने से पूर्व, अपने घर में, अर्यमा अर्थात् न्यायकारी और श्रेष्ठ परमात्मा को हृदय का साक्षी तथा अन्तर्यामी जान कर, यज्ञ करते हैं । बिना इस यज्ञ^४ को

- १ अर्यमा = आर्य मन वाला, आर्यों का मान करने वाला, अरियों का नियमन करने वाला । यहां अर्यमा द्वारा न्यायाधीश का भी ग्रहण हो सकता है । अभिप्राय यह कि विवाह-सम्बन्ध न्यायाधीश द्वारा प्रमाणित करा लेना चाहिये ।
- २ स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । इत्यादि ॥ (यजु० अ० ३२, मं० १०) ॥
- ३ उर्वारुक = बेर, ककड़ी या खरबूजा ।
- ४ पत्युर्नो यज्ञसंयोगे (अष्टाध्यायी) । पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी में इस सूत्र द्वारा यह दर्शाया है कि पति-पत्नी का सम्बन्ध यज्ञ द्वारा नियत तथा निश्चित हुआ करता है ।

किये वधू पत्नी नहीं बन सकती ।

अर्थमा का विशेषण इस मन्त्र में "पतिवेदन" लिखा है । इस शब्द द्वारा विवाह सम्बन्ध में पवित्रता का संचार किया गया है । वेदों में परमात्मा को भी सद्गृहस्थ कहा गया है । प्रकृति-रूपी-पत्नी का वह परमात्मा पति है । वह इस पत्नी के साथ रहकर समग्र संसार को उत्पन्न तथा रक्षित कर रहा है । परमात्मा ने ही वेद द्वारा पति-पत्नी के सम्बन्ध की घोषणा की है । यह सम्बन्ध बहुत पवित्र है । संसार को उत्तम सन्तान देने के लिये है । संसार को उत्तम सन्तानें तभी मिल सकती हैं जब कि मनुष्य-समाज शुभ और पवित्र भावनाओं से प्रेरित होकर विवाह-सम्बन्ध किया करे । पति-पत्नी के सम्बन्ध में काम-वासना का उच्छृंखल राज्य न होना चाहिये । इसीलिये वैदिक धर्म में यह सम्बन्ध परमात्म-यजन से प्रारम्भ होता है ।

कन्या का पिता कहता है कि मैं अपने गृह के प्रेम-बन्धनों से इस कन्या को छुड़ाता हूं परन्तु पतिगृह के प्रेम-बन्धनों से इसे नहीं छुड़ाता । नव वधू को अपने पतिगृह में स्थिर करने में कन्या के माता-पिता के उपदेश अधिक प्रभावशाली होते हैं । इसीलिये विवाह-यज्ञ के समय कन्या का पिता अपने धर्मपुत्र को विश्वास दिलाता है कि मैं सर्वथा यत्न करूंगा कि कन्या पति-पक्ष से कभी अपना सम्बन्ध विच्छेद न करे । विवाह के अनन्तर न पति सम्बन्धत्याग करे पत्नी का, और न पत्नी सम्बन्धत्याग करे पति का । दोनों ही पारस्परिक पति-पत्नीभाव के दृढ़ सूत्र में बंधे रहें ।

मन्त्र में पिता के गृह के त्याग में "उर्वारक" का दृष्टान्त दिया है । फल जब पक जाता है तो उसका अपने आश्रय से सम्बन्ध स्वयमेव टूट जाता है । इसी प्रकार पिता के गृह से सम्बन्ध तोड़ने का भी वही समय उचित है जब कि वधू की आयु पक जाय और वह विवाहसम्बन्ध के योग्य आयु वाली पूर्णयुवति हो जाय । इस से ज्ञात

हीता है कि वैदिक दृष्टि में कन्या के विवाह का समय वही उचित है जब कि कन्या पूर्ण युवति हो ।

धर्मपुत्र को धर्मपिता के वचन

(१८) प्रेतो मुञ्चामि नामृतः सुबद्धाममृतस्कम् ।

यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासांत ॥

(अथर्व० १४।१।१८) ॥

(इतः) इस पितृगृह से (प्रमुञ्चामि) मैं इस कन्या को छोड़ाता हूँ, (अमृतः) उस पतिगृह में (सुबद्धाम्) इस कन्या को मैं सुबद्ध (करम्) करता हूँ । (यथा) ताकि (मीढ्वः इन्द्रः !) हे वीर्यवान् इन्द्र ! अर्थात् वीर्यशक्ति और आत्मिक शक्ति से सम्पन्न हे धर्मपुत्र ! (इयम्) यह कन्या (सुपुत्रा) उत्तम पुत्रों वाली (असति) हो सके ।

इस मन्त्र में कन्या का पिता अपनी कन्या के पति को विश्वास दिलाता है कि मैं पितृगृह के साथ जुड़े हुए कन्या के प्रेम-बन्धनों को ढीला करता हूँ ताकि यह कन्या पतिगृह में स्थिर हो सके ।

यहाँ पर इन्द्र का अर्थ आत्मिक-शक्ति तथा इन्द्रिय-शक्ति से सम्पन्न पति है, और इन्द्र के साथ जो “मीढ्वः” विशेषण दिया है इसका अर्थ है “सींचने वाला” या “वीर्यशक्ति वाला” । इस विशेषण द्वारा, धर्मपुत्र में, वीर्यशक्ति की विद्यमानता पर संतोष प्रकट किया गया है । इस वीर्यवान् इन्द्र का सम्बोधन कर कन्या का पिता इन्द्र के प्रति कहता है कि मैं इस कन्या को तेरे गृह में स्थिर करता हूँ, ताकि यह कन्या उत्तम सन्तानों वाली हो सके और उत्तम भाग्यों से सम्पन्न हो सके । भग के छः अर्थ होते हैं, ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और बेराग्य । गृहस्थ में रहते हुए कन्या का कर्तव्य होता है कि

वह इन छः भगों के उपार्जन में सदा यत्न करती रहे । क्योंकि माता में इन गुणों के हुए बिना सन्तानों में ये गुण नहीं आ सकते ।

वर का वधू को आश्वासन

(१९) प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्

येन त्वावध्नात् सविता सुशेवाः ।

ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके

स्योन ते अस्तु सहसंभलायै ॥

(अथर्व० १४।१।१६)

(वरुणस्य) वरुण अर्थात् श्रेष्ठ परमात्मा के (पाशात्) एक प्रकार के प्रेम-पाश से (त्वा) हे वधू ! तुझे (प्रमुञ्चामि) मैं छोड़ाता हूँ, (येन) जिस प्रेम-पाश द्वारा कि (सुशेवाः^१) उत्तम शिवस्वरूप अर्थात् कल्याणकारी तथा सेवा करने वाले (सविता) तेरे पिता ने (त्वा) तुझे अवध्नात्) बान्धा हुआ था । (ऋतस्य) सत्य नियमों के (सुकृतस्य) तथा सत्कर्मों के (लोके) स्थान में, (योनौ^२) अर्थात् इस घर में, (सहसंभलायै^३) संभल अर्थात् सम्यग्भाषी इस पति के साथ रहने वाली (ते) जो तू है उसके लिये स्योनम्) सुख (अस्तु) हो ।

वरुण का अर्थ है संसार का श्रेष्ठ राजा अर्थात् परमात्मा । वरुण के साथ पाशों का वर्णन वेदों में नाना स्थलों पर मिलता है ।

१ सुशेवाः = उत्तम शिवस्वरूप तथा सेवा करने वाला । शेवृ सेवने ।

२ योनि = गृह (निघण्टु अ० ३ खं० ४) ।

३ संभल = सम् (सम्यक्) + भल् (परिभाषण अर्थात् प्रेमपूर्वक वातचीत करते वाला) । सहसंभलायै = संभलसहितायै । देखो मन्त्र संख्या (३१) ।

माता-पिता और सन्तानों का, पति और पत्नी का, पारस्परिक प्रेम का बन्धन भी एक पाश^१ है, जिसकी कि रचना, इस सृष्टि में प्रभु ने कर रखी है। इस प्रेम-पाश की सत्ता पशुओं, पक्षियों तथा कीट-पतङ्गों में भी दृष्टि-गोचर हो रही है। वर कहता है कि हे वधू ! अभी तक तो इस प्रेम-पाश द्वारा तेरे सुखद माता-पिता ने तुझे बांधा हुआ था, परन्तु अब से मैं तुझे अपने प्रेम-पाश द्वारा बांधता हूँ। इस प्रकार वर अपने हार्दिक प्रेम का विश्वास वधू को दिलाता है।

साथ ही वर अपने गृह के सुख-सर्वस्वों को, वधू के प्रति समर्पित कर देने का विश्वास दिलाता है, और कहता है कि तू सम्यग्भाषी अपने पति के समेत इस पतिगृह में सुखों का अनुभव करने वाली हो।

पिता का पुत्री को उपदेश

(२०) भगस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्रवहतां रथेन ।

गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासौ वशिनी त्वं विदथमावदासि ॥

(अथर्व० १४।१।२०)

(भगः) भग (त्वा) तुझे (इतः) यहां से (हस्तगृह्य) हाथ पकड़ कर (नयतु) ले चले, (अश्विनी) और वर के माता-पिता (त्वा) तुझे (रथेन) रथ द्वारा (प्रवहताम्) पति के गृह ले चलें। हे पुत्री ! (गृहान्) तू पतिगृह को (गच्छ) जा, (गृहपत्नी) घर की स्वामिनी (यथा) ताकि (असः) तू हो सके, (वशिनी) पुत्र और भृत्य आदि को वश में रखने वाली होकर (त्वम्) तू (विदथम्) उन्हें कर्तव्य-ज्ञान का (आवदासि) उपदेश किया कर।

पिता पुत्री को कहता है कि हे पुत्री ! तेरा यह पति भग-

१ ये ते पाशा वरुण सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विपिता रूपन्तः ।

(अथर्व० ४।१६।६) ॥

स्वरूप^१ है। यह पति प्राकृतिक और आध्यात्मिक सम्पत्तियों से सम्पन्न है, धर्मात्मा तथा यशस्वी है, ज्ञानी तथा वैराग्यवान् है।

इस कथन द्वारा पिता, अपनी पुत्री को, पति के सद्गुणों का परिज्ञान देता है, ताकि इस पति पर कन्या भरोसा, विश्वास तथा श्रद्धा कर सके।

पत्नी को, उसके पितृगृह से, उसका हाथ कपड़ कर, पति, रथ तक ले चले। और तत्पश्चात् पति के माता-पिता की सुरक्षा में पत्नी अपने पतिगृह को रथ द्वारा जावे।

कन्या का पिता कन्या को यह भी उपदेश करता है कि तू पति के घर जाकर पतिगृह की स्वामिनी बन। स्वामिनी बनने के लिए भी कई प्रकार के गुणों की आवश्यकता होती है। पत्नी गृह की तथा गृहवासियों की सच्ची स्वामिनी तभी बन सकती है जब कि वह अपने सेवा-भाव तथा कर्तव्य-भावना से सब गृहवासियों के मनों को मोह ले। गृहपत्नी शब्द का एक और भी अभिप्राय है। वह यह कि विवाह के समय में ही पत्नी, पति के गृह की स्वामिनी उद्घोषित कर दी गई है। इससे पतिगृह पर पत्नी का अब से कानूनन हक्क उद्घोषित हुआ समझना चाहिए।

-
- १ भग=ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य। अर्थात् तेरा पति इन श्रेष्ठगुणों से सम्पन्न है। अर्थात् वह ऐश्वर्यवान् है, धर्मात्मा है, यशस्वी है, श्रीमान् है, ज्ञानवान् है और अनुचित रागों से रहित है।
- २ “रथेन प्रवहताम्”—का अर्थ है कि “रथ द्वारा तुझे इस तेजी से ले चलें जैसे कि नदी आदि का प्रवाह चञ्चल है”। सम्भवतः यह रथ कोई तेजी से चलने वाला हो। मन्त्र संख्या १०-१२ तक के मन्त्रों में “अनः” का वर्णन है जिसके आगे कि दो बैल जुते हुए हैं। यह प्रवाही-रथ, “अनः” से, भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है।

पिता यह भी कहता है कि हे पुत्री ! तू पतिगृह में पुत्रों, नौकरों, देवों, तथा अन्य गृहवासियों को अपनी बुद्धिमत्ता से अपने वश में करना, और इन्हें समय २ पर अपने कर्तव्यों के ज्ञान का भी उपदेश करते रहना ।

पिता का पुत्री को उपदेश

(२१) इह प्रियं प्रजायै ते समुध्यतामस्मिन्
गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।

एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्वाथ
जिर्विर्विथमा वदासि ॥

(अथर्व० १४।१।२१)

(इह) इस पति-गृह में (ते) तेरे लिए (प्रजायै) तथा तेरी प्रजा के लिए (प्रियम्) सुख तथा सुखोत्पादक वस्तुओं की (समुध्यताम्) खूब वृद्धि हो, (अस्मिन्) इस (गृहे) पतिगृह में (गार्हपत्याय) गृह-रक्षा तथा गृहस्थधर्म के लिए (जागृहि) तू सदा सावधान रह । (एना) इस (पत्या) पति के साथ (तन्वम्) अपने शरीर का (संस्पृशस्व) प्रेमपूर्वक स्पर्श करना, (अथ) और (जिर्विः^१) वृद्धा होकर (विदथम्^२) कर्तव्य-ज्ञान का (आवदासि) उपदेश करना ।

इस मन्त्र में पिता अपनी पुत्री को पहिले आशीर्वाद देता है कि तेरे तथा तेरी सन्तान के लिए पतिगृह में सदा सुखों की वृद्धि होती रहे और तदनन्तर पुत्री को उपदेश देता है कि तूने :—

पति-गृह की रक्षा तथा गृहस्थधर्म के पालन में सदा सावधान रहना ।

१ जिर्विः = जीर्ण होकर, वृद्धा होकर ।

२ विदथ = विद् = (ज्ञान) ।

तथा इसी पति के साथ प्रेमपूर्वक गृहस्थ-सम्बन्ध करना, इससे अन्य किसी पुरुष के साथ कुचेष्टा न करना ।

और वृद्धावस्था की होकर तूने कर्तव्य-ज्ञान का उपदेश करना । वैदिक धर्म में वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध व्यक्तियों को ही उपदेश दे सकने का अधिकार दिया गया है । स्त्रियाँ भी उपदेश दे सकने के अधिकार से वञ्चित नहीं रखी गईं । ये जब वयो वृद्धा हो जाँय तो इन्हें भी चाहिए कि ये संसार में उपदेश दिया करें । स्त्रियाँ गृहजीवन में ही जीवन-यात्रा की समाप्ति न समझें ।

कन्या-पिता का उपदेश

(२२) इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥

(अथर्व० १४।१।२२)

(इह एव) इस घर में ही (स्तम्) तुम दोनों बने रहो, (मा) और मत (वियाँष्टम्) वियुक्त होओ, (विश्वम्) सम्पूर्णा (आयुः) आयु को (व्यश्नुतम्) भोगो या प्राप्त करो । (पुत्रैः) पुत्रों और (नप्तृभिः) नातियों के साथ (क्रीडन्तौ) खेलते हुए तथा (मोदमानौ) आनन्दित-प्रसन्न रहते हुए तुम दोनों (स्वस्तकौ) घर को उत्तम बनाओ ।

इस मन्त्र में कन्या का पिता वर और वधू दोनों को आशीर्वाद और उपदेश देता है किः—

तुम दोनों इस गृहस्थ जीवन में पति-पत्नी भाव से बने रहो ।

१ स्वस्तकौ=सु (उत्तम) है (अस्त) घर जिनका, ऐसे तुम दोनों ।

एक दूसरे से पति-पत्नी भाव के सम्बन्ध का विच्छेद न करो ।
अर्थात् तुम दोनों परस्पर तालाक न करो । और न एक दूसरे से चिर-
काल तक पृथक् २ रहो ।

गृहस्थ में जीवन को नियमपूर्वक रखो ताकि तुम अपनी नियत
१०० वर्ष की पूर्ण आयु भोग सको ।

पुत्रों और पौत्रों के साथ खूब खेला करो और परस्पर आनन्द
तथा प्रसन्नता में रहा करो ।

घर को शिष्टाचार आदि द्वारा उत्तम बनाओ तथा उसे साफ
सुथरा और रम्य बनाओ ।

सातवां प्रकरण

आश्रम-व्यवस्था का स्वरूप

(२३) पूर्वापरं चरतो माययैतौ

शिशू क्रीडन्तौ परि यातोर्णवम् ।

विश्वान्यो भुवना विचष्ट

ऋग्न्यो विदधज्जायसे नवः ॥

(अथर्व० १४।१।२३)

(एतौ) यह दोनों पति और पत्नी, (मायया) प्रज्ञा द्वारा (पूर्वापरम्) पूर्व-समुद्र से अपर-समुद्र की ओर अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम की ओर, गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थाश्रम की ओर, और वानप्रस्थाश्रम से संन्यासाश्रम की ओर,— इस प्रकार क्रम से सब आश्रमों में (चरतः) विचरते हैं, (शिशू) और शिशुओं की न्याई (क्रीडन्तौ) खेलते हुए (अर्णवम्) गृहस्थ-समुद्र के (परियातः) पार हो जाते हैं । (अन्यः) इन दोनों में से एक अर्थात् पति (विश्वा) सब (भुवना) भुवनों का (विचष्टे) निरीक्षण करता है; और हे पत्नी! (अन्यः) दूसरी तू (ऋतून्) ऋतुओं का (विदधत्) विधान करती हुई (नवः) नवीन २ रूप से उत्पन्न होती है ।

इस मन्त्र में पति और पत्नी का वर्णन सूर्य और चन्द्र के दृष्टान्त से किया गया है । सूर्य और चन्द्र के सम्बन्ध में इस मन्त्र में

- 1 अपपरी वर्जने । अर्थात् अप और परि वर्जन (त्याग) अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं । अर्थात् एक आश्रम का त्याग कर अगले २ आश्रम में चलते जाते हैं ।

निम्नलिखित निर्देश पाए जाते हैं :-

सूर्य और चन्द्रमा परमात्मा की प्रज्ञा द्वारा, समुद्र^१ अर्थात् अन्तरिक्ष के पूर्व से पश्चिम तक विचरते हैं । सूर्य और चन्द्र प्रतिदिन अन्तरिक्ष के पूर्व भाग में उदित हो कर पश्चिम की ओर गति करते हैं । सूर्य और चन्द्र चूंकि एक दृढ़ नियम में गतियाँ कर रहे हैं अतः इनकी गतियों से इनके एक बुद्धिमान् नियन्ता का अनुमान होता है । उसी बुद्धिमान् नियन्ता की प्रज्ञा द्वारा प्रेरित हुए २ ये पूर्व से पश्चिम तक सदा विचरते हैं ।

ये दोनों मानो परमात्मा-जननी के शिशु हैं जो कि आकाश की क्रीड़ा-भूमि में खेल रहे हैं । इनमें से एक अर्थात् सूर्य सब भुवनों का निरीक्षण करता है और दूसरा अर्थात् चन्द्र काल^२ का विधान करता हुआ कलाओं की वृद्धि तथा क्षय के कारण, प्रति दिन नवीन नवीन रूप से उत्पन्न होता है ।

सूर्य और चन्द्र के दृष्टान्त द्वारा पति और पत्नी का वर्णन भी इस मन्त्र में इस प्रकार है :-

पति सूर्य-स्थानापन्न है और पत्नी चन्द्र-स्थानापन्न है । कारण यह कि सूर्य शक्ति देता है और चन्द्र शक्ति लेता है । इसी प्रकार पति शक्ति देता है और पत्नी उस शक्ति को लेती है । पति और पत्नी ब्रह्मचर्याश्रम-रूपी-पूर्वसमुद्र से गृहस्थाश्रम-रूपी-अपरसमुद्र में आते हैं, और प्रज्ञा द्वारा अर्थात् अपनी बुद्धिमत्ता से गृहस्थाश्रम में विचरते हैं । विना प्रज्ञा और बुद्धिमत्ता के, ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ में विचरना

१ समुद्र = अन्तरिक्ष । (निघं० अ० १, खं० ३)

२ मन्त्र में चन्द्र के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ “ ऋतु ” शब्द कालवाची है । वस्तुतः दिन, सप्ताह, पक्ष और मास इस कालगणना का कारण चन्द्र है । चन्द्र की बढ़ती और घटती हुई कलाएँ काल के परिज्ञान में स्पष्ट सहायक हैं ।

दुष्कर है। प्रज्ञावान् ही अपनी प्रज्ञा-नौका के द्वारा सफलता पूर्वक इन आश्रमों के पार उतर सकता है। इस प्रकार यहां ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में जाने का विधान दोनों के लिये है। यही बात अगले आश्रमों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये।

गृहस्थाश्रम में आकर बच्चों की न्याईं हंसते-खेलते और आनन्दित तथा प्रसन्न रहते हुए पति और पत्नी गृहस्थ की अवधि को पूरा करते हैं। गृहस्थ में तरह २ के कष्टों और आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। हंसी-खेल की तबीयत वाले पति-पत्नी ही इन कष्टों तथा आपत्तियों का मुकाबिला बहादुरी के साथ कर पाते हैं।

पति का गृहस्थ-जीवन पर सामान्य निरीक्षण होता है। तथा पत्नी ऋतुओं को प्रकट करती हुई अर्थात् ऋतुमती होती हुई पुत्रों तथा पुत्रियों के रूप में सदा नवीन २ रूपों में प्रकट होती रहती है। सन्तानों का निर्माण, बहुत करके, माता के ही हाथ में होता है। १० मास माता के पेट में रह कर बच्चा माता के संस्कारों से ही प्रभावित होता है। उत्पत्ति के पश्चात् भी बाल्यावस्था में माता का ही असर बच्चों पर अधिकतर होता है। मानो माता ही पुत्रों तथा पुत्रियों के रूप में प्रकट होती रहती है।

चन्द्र नाम से पत्नी का वर्णन

(२४) नवो नवो भवसि जायमानोहं

केतुरूपसामेष्यग्रम् ।

भागं देवेभ्यो विदधास्यायन्

प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥

(अथर्व० १४/१/२४)

(चन्द्रमः) हे चन्द्र ! अर्थात् पत्नी ! तू (नवः नवः) नवीन २

रूपों में (जायमानः) प्रकट (भवसि) होती है, (अन्हां) दिन का तू (केतुः) भण्डा है, (उपसाम्) उषा काल से (अग्रम्) पहिले (एषि) तू आती है, (आयन्) और आती हुई (देवेभ्यः) देवों के लिये (भागम्) भाग का (विदधासि) विधान करती है, (आयुः) और आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (प्र तिरसे) करती है ।

इस मन्त्र में चन्द्र के दृष्टान्त द्वारा पत्नी का वर्णन किया गया है ।

२३ वें मन्त्र में यह दर्शाया जा चुका है कि वैदिक साहित्य में पत्नी को चन्द्र से उपमित करने का क्या प्रयोजन है । पत्नी के पाँच गुण या कर्तव्य इस मन्त्र में वर्णित हुए हैं । यथा :—

पत्नी, चन्द्र की न्याई, नवीन नवीन रूपों में प्रकट होती है । भिन्न २ गुणों तथा आकृतियों वाली सन्तानें माता के ही भिन्न २ रूप हैं । माता ही मानो इन भिन्न २ रूपों में प्रकट हो रही होती है ।

पत्नी, दिन का, मानो भण्डा है । जिस गृह में पत्नी नहीं, मानो उस गृह में दिन का अर्थात् प्रकाश या नवीन उमंगों का निवास नहीं । इसका दूसरा भाव यह भी हो सकता है कि पत्नी-रूपी भण्डा उषा से पहिले अवश्य उठा रहना चाहिए । उषा के समय से पूर्व न जागना और इस समय भी लेटा रहना पत्नी के लिये उचित नहीं ।

पत्नी को, उषा काल से पूर्व ही, गृह के नभो-मण्डल को अपनी उपस्थिति तथा कार्यों द्वारा चमका देना चाहिए ।

गृह में पत्नी के आने पर ही देवों, अर्थात् अतिथि-देव आदि को अपना २ भाग मिल पाता है अन्यथा नहीं । क्योंकि पञ्च महा-यज्ञों का अधिकार गृहस्थी-पुरुष को है, ब्रह्मचारी को नहीं । और पुरुष गृहस्थी तभी हो सकता है जब कि पत्नी-रूपी चन्द्र का पुरुष के गृह के नभोमण्डल में प्रवेश होता है ।

गृहस्थ में पत्नी यदि प्रेममयी हो, तथा वह पति के नियन्त्रित जीवन में यदि सहायक हो, तो पत्नी, पति की आयु को दीर्घ और लम्बा कर सकती है ।

पति में शान्ति और दानभाव

(२५) परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो विभजा वसु ।

कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम् ॥

(अथर्व० १४।१।२५)

(एषा) यह (जाया) पत्नी, (पद्वती) जब पैरों वाली (कृत्या) कृति-शक्ति (भूत्वा) होकर, (पतिम्) पति के गृह में (विशते) प्रवेश करे, तब हे पति ! तू (शामुल्यम्^१) शान्ति-दाहक व्यवहारों को (परा-देहि) त्याग दे, और (ब्रह्मभ्यः) ब्राह्मणों के प्रति (वसु) धन का (विभजा) विभाग किया कर ।

इस मन्त्र में निम्नलिखित निर्देश किए गए हैं । :—

पत्नी को कृतिशक्ति रूप होना चाहिए । उसे सावधान तथा सन्नद्ध रहना चाहिए और काम में लगे रहना चाहिए । सुस्ती से गृहस्थ-जीवन व्यतीत न करना चाहिए ।

पतिगृह में पत्नी के आ जाने पर पति को चाहिए कि वह शान्ति को भस्म कर देने वाले व्यवहारों का सर्वथा त्याग कर देवे । कटु-भाषण, असहानुभूतिपूर्ण व्यवहार, तथा कठोर शासन ये ऐसे व्यवहार हैं जिनसे कि गृहस्थ-जीवन की शान्ति दग्ध हो जाती है । ऐसे व्यवहारों की अधिकतर सम्भावना पति की ओर से हुआ करती

I शामुल्य=शम् (शान्ति) + उल् (दाहे) + व्यञ् । अर्थात् शान्ति को दग्ध कर देने वाले व्यवहार ।

है । इसलिये पति को ऐसा उपदेश दिया गया है ।

गृहस्थ-जीवन में पति, ब्राह्मणों तथा सत्पात्रों का, धन के दान द्वारा सम्मान किया करे । गृहस्थ-जीवन में देवों को उनका भाग देना चाहिए, यह वर्णन मं० २४ में भी हो चुका है । विना दान-भावना के सेवाधर्म का पालन नहीं हो सकता ।

पत्नी के प्रेम का प्रकाशन

(२६) नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते ।

एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्वन्धेषु बध्यते ॥

(अथर्व० १४।१।२६)

(कृत्या) जब पत्नी कृति-शक्ति रूप में तथा (आसक्तिः) अर्थात् प्रेमरूप में (व्यज्यते) अभिव्यक्त होती है, तब (नीललोहितम्) नीला पति भी लाल (भवति) हो जाता है; (अस्याः) उस समय इस पत्नी के (ज्ञातयः) पितृ-गृह के सम्बन्धी (एधन्ते) बढ़ते हैं, (पतिः) और इसका पति (बन्धेषु) प्रेम के बन्धनों में (बध्यते) बन्ध जाता है ।

पत्नी कृति-शक्ति का अवतार होनी चाहिए, अर्थात् वह अधिक कर्मशील होनी चाहिए ।

पति के प्रति उसे अपनी प्रेमासक्ति भी अपने व्यवहारों द्वारा प्रकट करनी चाहिए ।

पति के प्रति पत्नी की प्रेमासक्ति के अभिव्यक्त होने पर निम्न-लिखित परिणाम होते हैं:—

पति खुश रह कर नीला होता हुआ भी लाल हो जाता है, अर्थात् वह स्वस्थ तथा हृष्ट-पुष्ट हो जाता है । लाल होना अच्छे

स्वास्थ्य की निशानी है, और मुख पर नीलापन कमजोरी तथा रोग की निशानी है।

पत्नी के पितृ-गृह के सम्बन्धी इस खुशी से बढ़ते हैं कि हमारी कन्या अब अपने पति-गृह में बस गई है, और उसने पति को अपने प्रेम से वश में कर लिया है।

और पति, पत्नी के प्रेम-बन्धन में बन्ध कर उसके प्रति अनुराग प्रकट करने लगता है। इस प्रकार पति-पत्नी पारस्परिक प्रेम-बन्धन में बन्ध जाते हैं।

ऋतुमती का सहवास

(२७) अश्लीला तनूर्भवति रूपती पापयामुया ।

पतिर्यद् वध्वो वाससः स्वमङ्गमभ्यूणुते ॥

(अथर्व० १४/१/२७)

(रुशती) पति की चमकती हुई (तनूः) देह (अमुया) इस (पापया) धर्म-च्युत या ऋतुमती पत्नी के साथ प्रसङ्ग द्वारा (अश्लीला) श्री रहित (भवति) हो जाती है, (यत्) अर्थात् जब कि (पतिः) पति (वध्वः) इस अवस्था वाली वधू के (वाससः) सहवास से (स्वम्) अपने (अङ्गम्) अङ्ग को (अभ्यूणुते) दूषित करता है। अथवा जब कि पति ऐसी वधू के वस्त्र से अपने अङ्ग को ढाँपता है, अर्थात् उससे सहवास करता है।

मन्त्र २६वें में पत्नी द्वारा पति के प्रति प्रदर्शित सच्चे अनुराग के लाभ दर्शाए गए हैं। परन्तु पत्नी यदि पति को छोड़ किसी अन्य पुरुष के प्रति अपने अनुराग को प्रकट करती है तो वह पापा है, उसे अपने पतिव्रत-धर्म से च्युत समझना चाहिए और उसके साथ सहवास अर्थात् गृहस्थ-व्यवहार न होना चाहिए। ऐसी पत्नी के साथ किया गया सहवास व्यभिचार के सदृश है।

तथा पत्नी जब ऋतुमती हो तब उसके साथ सहवास न करना चाहिए। ऐसी अवस्था में किया गया सहवास पति के सुन्दर देह को भी दूषित तथा रोगयुक्त कर देता है।

इस मन्त्र का यह भाव भी सम्भव है कि “उस पापमयी रीति द्वारा पति की सुन्दर तथा चमकती हुई देह भी श्री रहित हो जाती है, पति जब कि पत्नी के वस्त्रों द्वारा अपनी देह को ढाँपता है।” अर्थात् पुरुष की पौरुष-पूर्ण देह मानो एक सुन्दर तथा चमकती हुई देह है। पौरुषशक्ति वाला पुरुष यदि स्त्रियों-के-से कपड़े पहने तो यह रीति पापमयी है, बुरी है। पुरुषों को पुरुष-वेश में ही रहना चाहिए। वर्तमान समय की रीति में पुरुषों के लिए सिर में माँग निकालना भी मानो स्त्री-वेश का ग्रहण करना है।

सूर्या का पति है ब्रह्मा

(२८) आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम् ।

सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मोत शुम्भति ॥

(अथर्व० १४/१/२८)

(आशसनम्) आशामय जीवन रखना, (विशसनम्) विशेष आसनमय जीवन रखना, (अथो) और (अधिविकर्तनम्) अधिकार पूर्वक कपड़ों को विविध रूप में काटने-सीने का काम करना तथा काटना, — (रूपाणि) ये रूप (सूर्यायाः) सूर्या-ब्रह्मचारिणी के हैं, (पश्य) सूर्या के इन रूपों अर्थात् गुणों को तू देख, (तानि) इन रूपों अर्थात् गुणों की (शुम्भति) शोभा बढ़ाता है (ब्रह्मा) चारों वेदों का ज्ञाता पति ।

इस मन्त्र में सूर्या अर्थात् आदित्य-ब्रह्मचारिणी के रूपों अर्थात्

स्वरूपों या गुणों का वर्णन किया गया है। पत्नी को सदा आशामय जीवन व्यतीत करना चाहिये, निराशामय जीवन वैदिक दृष्टि में बुरा है। आपत्तियों तथा कष्टों में भी पत्नी को अपना आशामय जीवन बनाने का अभ्यास होना चाहिये।

आशामय जीवन के साथ २ पत्नी अपने जीवन को विशेष शासनमय बनाए। जिसे अपने जीवन को विशेष शासन में रखने का अभ्यास है वही अपने जीवन में आशा का संचार कर सकती है। पत्नी यदि अपने जीवन को विशेष रूप से शासनमय बनाएगी तो इस शासनमय जीवन का प्रभाव उसके समग्र परिवार पर तथा विशेष कर सन्तान पर पड़ेगा। इस प्रकार परिवार तथा सन्तानों के जीवन भी शासनमय बन जायेंगे।

अधिकार पूर्वक वस्त्रों को काटना-सीना तथा कातना पत्नी का विशेष कार्य होना चाहिये। वेदों में सूत कातने तथा वस्त्र बुनने का उपदेश विशेष रूप से पत्नी को दिया गया है। कन्या-शिक्षा का यह एक विशेष अंग होना चाहिये। कन्याओं को इस दस्तकारी का विशेष अभ्यासी होना चाहिये। जो व्यक्ति जिस पेशे में अधिक दक्ष और चतुर होता है वह ही उस पेशे को अधिकारपूर्वक कर सकता है। अधिकार-पूर्वक किसी पेशे को कर सकने के लिये उस पेशे में विशेषज्ञता की आवश्यकता होती है।

सूर्या-ब्रह्मचारिणी में इस प्रकार तीन गुणों की सत्ता का होना जरूरी है। एक आशावाद का अभ्यासी होना, दूसरा अपने जीवन को शासनमय बनाना, और तीसरा वस्त्र काटने-सीने तथा कातने की दस्तकारी का विशेषज्ञ होना। ये सूर्या के ३ रूप हैं।

ऐसी सूर्या या आदित्य-ब्रह्मचारिणी का योग्य पति ब्रह्मा ही

१ “ब्रह्मा” कोटि के वर अर्थात् ब्राह्मण, और “सूर्या” कोटि की

हो सकता है। चारों वेदों के ज्ञाता आदित्य-ब्रह्मचारी को ब्रह्मा कहते हैं। जो कि स्वयं व्रती हो और विद्वान् हो, — ऐसा पति ही सूर्या के इन सद्गुणों में शोभारूप बन सकता है, और सूर्या के गुणों की शोभा बढ़ा सकता है।

सूर्या और पाकविद्या

(२६) तृष्टमेतत्कटुकमपाष्ठवद् विषयन्नैतदत्तवे ।

सूर्या यो ब्रह्मा वेद स इद् वाधूयमर्हति ॥

(अथर्व० १४।१।२६)

वधू अर्थात् ब्राह्मणी का परस्पर प्रेमपूर्वक विवाह ही ब्राह्म-विवाह है। मनुस्मृति में आठ प्रकार के विवाह गिनाए गये हैं, उनमें ब्राह्मविवाह सर्वोत्तम तथा आदर्श गिना गया है। जिस प्रकार ब्रह्मचर्य की दृष्टि से आदर्श विवाह आदित्य-ब्रह्मचारी और सूर्या-ब्रह्मचारिणी का विवाह है, इसी प्रकार विद्या की दृष्टि से ब्रह्मा कोटि के वर का विवाह आदर्श विवाह है। ब्रह्मा उस व्यक्ति को कहते हैं जो कि चारों वेदों का ज्ञाता हो। ब्राह्मविवाह में वर इसी प्रकार का आदर्श विद्वान् होना चाहिये। ब्राह्मविवाह का लक्षण मनुस्मृति के अनुसार निम्नलिखित है :—

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।

आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥

अर्थात् “कन्या के योग्य सुशील, तथा (वेदों के) विद्वान् पुरुष का सत्कार करके, कन्या को वस्त्र आदि से अलंकृत करके, उस उत्तम पुरुष को बुलाकर — अर्थात् जिस को कन्या ने भी प्रसन्न किया हो उस को कन्या देना, वह ब्राह्मविवाह कहाता है। (ऋषि दयानन्द संस्कारविधि)।

(एतत्) यह अन्न (तृष्टम्¹) तृपा-जनक है, अधिक प्यास लगाने वाला है। (कटुकम्²) तथा अमुक अन्न कटु है, अपाण्डवत्³) और अमुक अन्न निः सार है, विषवत् तथा अमुक अन्न विष वाला है, (एतत्) यह अन्न (न अत्तवे) खाने के योग्य नहीं है, इस प्रकार के ज्ञान वाली (सूर्याम्) आदित्य-ब्रह्मचारिणी को, (यः ब्रह्मा) जो वेदों का विद्वान् ब्राह्मण (वेद) जानता है, उसे पहिचानता तथा उसके सद्-गुणों से परिचित है, (स इद्) ऐसा ब्रह्मा अर्थात् ब्राह्मण ही (बाधूयम्) इस सूर्या-ब्रह्मचारिणी के साथ बधू-कर्म अर्थात् विवाह का (अर्हति) अधिकारी होता है।

सूर्या-ब्रह्मचारिणी को, मानसिक तथा सदाचार के शिक्षण के साथ २, दस्तकारी तथा पाकविद्या को भी शिक्षा हानो चाहिए। किस प्रकार का अन्न खाने से प्यास अधिक लगती है, कौन सा अन्न गर्मी पैदा करने वाला है, कौन सा अन्न ऐसा है जिसका कि परिणाम कटु होता है, कौन सा अन्न निः सार है जिसके कि खान से शरीर में शक्ति नहीं आती, तथा कौन सा अन्न विषेला है और कौन सा अन्न

¹ तृष्टम्=दाहजनकम् (वाचस्पत्य-कोष)। तथा Harsh, Pungent (आपटे)।

² कटुकम्=यो जिह्वाग्रं बाधते उद्वेगं जनयति, शिरो गृह्णीते, नासिकां च सूत्रयति सः कटुकः (सुश्रुत)। तथा Sharp, Pungent, hot, disagreeable, unpleasant, (आपटे)।

³ अपाण्डवत्=अपगता आस्था यस्मात् तद्वत्। जिस में से सार निकल गया हो ऐसा अन्न। अपाण्ड= The remainder of the Som plant after it has been pressed out, (आपटे)।

खाने के योग्य नहीं है। इस प्रकार अन्नों के गुणों और अवगुणों का परिज्ञान सूर्या को अवश्य होना चाहिए और अपने शिक्षाकाल में ही सूर्या को यह ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये।

जो ब्रह्मा अर्थात् वेदों का विद्वान्, सूर्या के इन गुणों को पसन्द करता है और सूर्या तथा सूर्या के इन सदगुणों से परिचय रखता है, वही ब्रह्मा, सूर्या के साथ विवाह का अधिकारी है।

ब्रह्मा में, सूर्या-विवाह की अन्य योग्यताएँ

(३०) स इत् तत् स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमङ्गलम् ।
प्रायश्चित्तिं यो अध्येति येन जाया न रिष्यति ॥

(अथर्व० १४।१।३०)

(सः) वह (ब्रह्मा) वेदवेत्ता आदित्य-ब्रह्मचारी ब्राह्मण (इत्) ही, (तत्) उस (स्योनम्) सुखकारिणी (सुमङ्गलम्) तथा उत्तम मंगल-मयी (वासः) वस्त्रालंकृत वधू को, (हरति) प्राप्त करता है, अथवा वह वेदवेत्ता आदित्य-ब्रह्मचारी ही उस सुखमय तथा मंगलमय वधू-सहवास का अधिकारी होता है, 'यः' जो कि (प्रायश्चित्तिम्) कष्टों के निराकरण की विधि को (अध्येति) जानता है, (येन) जिससे कि (जाया पत्नी (न रिष्यति) नष्ट नहीं होती।

जो पति गृहस्थ-जीवन में आने वाले कष्टों के उपायों को नहीं जानता, या बलहीन होने के कारण उन कष्टों का निराकरण कर

१ वासः= वस्त्रालंकृत कन्या। जैसे गाड़ी वाले को बुलाने के लिये "ओ ! गाड़ी !" ऐसा प्रयोग हो जाता है, ऐसे ही सुन्दर तथा स्वच्छ वस्त्रों द्वारा अलंकृत होने के कारण वस्त्रालंकृत कन्या को वस्त्र कह दिया गया है।

नहीं सकता, वह पत्नी को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं। क्योंकि ऐसे पुरुष की स्त्री कष्टों का सदा शिकार बनी रहेगी। इस मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि सूर्या-ब्रह्मचारिणी का योग्य पति ब्रह्मा पदवी का ही होना चाहिए। परन्तु उसकी इस विद्या-योग्यता के साथ २ उस में गृहस्थ-जीवन को सफल निभा सकने की भी योग्यता होनी चाहिये।

कमाई, सत्य व मीठी वाणी

(३१) युवं भगं सं भरतं समृद्धमृतं वदन्तावृताद्येषु ।

ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारुसंभलो वदतु वाचमेताम् ॥

(अथर्व० १४।१।३१)

(ऋतोद्येषु) सत्य ही जिनमें बोलना चाहिए ऐसे व्यवहारों में (ऋतम्) सत्य ही (वदन्तौ) बोलते हुए (युवम्) तुम दोनों, (समृद्धम्) पुष्कल (भगम्) धन-सम्पत् आदि को (सम्भरतम्) इकट्ठा किया करो। (ब्रह्मणस्पते) हे वेद के विद्वान् ! पुरोहित (अस्यै) इस पत्नी के प्रति (पतिम्) पति को (रोचय) रुचिकर बना, ताकि (संभलः) उत्तम विधि से वार्त्तालाप करने वाला यह पति (चारु) सुचारु रूप से, पत्नी के प्रति, (एताम्) इस (वाचम्) वाणी को (वदतु) बोला करे।

पति और पत्नी को सभी व्यवहारों में सदा सत्य ही बोलना चाहिए। गृहस्थ-जीवन में रहते हुए ये दोनों “भग” का खूब संग्रह करें। ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री ज्ञान, वैराग्य आदि सद्गुणों को भग कहते हैं। पति और पत्नी को चाहिए कि वे इन सद्गुणों का खूब उपाजन करें। गृह-जीवन में भी वैराग्य की आवश्यकता है। बिना वैराग्य-भावना के गृह-जीवन में लम्पटता का राज्य हो जाता है।

वेदों के विद्वान् पुरोहित का कार्य होना चाहिए कि वह समय-समय पर नव-विवाहित जोड़े को ऐसे उद्देश देता रहे जिससे कि पति और पत्नी में पारस्परिक प्रेम बढ़ता रहे, जिससे कि पति के प्रति पत्नी रुचिकर बनी रहे और पत्नी के प्रति पति रुचिकर बना रहे ; और ये दोनों सदा एक दूसरे के प्रति मधुर तथा प्रिय-रूप की वाणी बोला करें ।

इस मन्त्र में पति को “संभल” कहा है । “संभल” शब्द “सम्” और “भल्” से बना है । भल् के नाना अर्थ होते हैं जिन में से एक अर्थ है—परिभाषण, बोलना, बात करना । अतः “संभल” का अर्थ है—उत्तम विधि से भाषण करने वाला, उत्तम रीति से बोलने वाला या उत्तम प्रकार से बातचीत करने वाला । भल, भल्ल परिभाषण हिंसा दानेषु (भ्वादि गण) ।

गृह में गोपालन

(३२) इहेदसाथ न परो गमाथेमं

गावः प्रजया वर्धयाथ ।

शुभं यतीरुस्रयाः सोमवर्चसो

विश्वे देवाः क्रन्निह वो मनांसि ॥

(अथर्व० १४।१।३२)

(गावः) हे गौओ ! (इह) इस घर में (इत) ही (असाथ) रहो, (परः) हम से परे (न) न (गमाथ) जाओ, (इमम्) इस गृहपति को (प्रजया) सन्तानों द्वारा (वर्धयाथ) बढ़ाओ । (शुभम्) शोभायुक्त गो-शाला में (यतीः) हे गौओ ! तुम जाओ, (उस्रियाः) सूर्य की किरणों की न्याईं शुद्ध, तथा (सोमवर्चसः) सोमशक्ति के तेज वाली तुम होओ,

(विश्वे देवाः) इस घर में सब देव (वः मनांसि) तुम्हारे मनों को (इह) इस घर में रहने के लिये (ऋन्) करें।

गृहस्थी को अपने घर में गौओं को रखना चाहिये। घर में एक ही गौ नहीं अपितु एक २ घर में कई २ गौएँ होनी चाहियें, ताकि गृह-वासियों को दूध पर्याप्त मात्रा में मिल सके।

जो गौएँ घर में रखी जाँय उन्हें फिर घर से अलग नहीं करना चाहिये, उन्हें उसी घर में ही रखकर उनकी सेवा करनी चाहिये। गौओं को अपने से परे कर देना, उन्हें बेच देना उत्तम नहीं। गौओं का जिस घर के साथ प्रेम हो जाय उस घर को वे प्रेमसे-सना दूध देती हैं, जिस के कि सेवन से अधिक लाभ होता है। माता और नौकरानी में फर्क यह है कि माता बच्चे को प्रेमभावना से भोजन तय्यार करके देती है, जिसे कि नौकरानी नहीं दे सकती। इसी प्रकार की प्रेमभावना उन गौओं में भी पैदा हो जाती है जो कि एक घर में रहने लगती हैं और जिन की कि शुश्रूषा घरके वासी प्रेमपूर्वक करते हैं। ऐसी गौओं का दूध भी अधिक लाभकारी होता है बजाय बाजारी गौओं के दूध के।

गौएँ अपनी सन्तानों द्वारा भी गृहपति को बढ़ाती हैं, और गृहपति की सन्तानों को उत्तम दूध देकर भी गृहपति को बढ़ाती हैं।

गौओं का निवासस्थान शोभायुक्त होना चाहिये। गोशाला सुन्दर, शोभायुक्त, तथा हवा और प्रकाश वाली होनी चाहिये। इससे गौओं का स्वास्थ्य उत्तम होता है तथा उनका मन प्रसन्न रहता है।

उन्हें स्नान आदि के द्वारा ऐसा शुद्ध तथा साफ़ रखना चाहिये जैसी कि सूर्य की किरणें शुद्ध तथा साफ़ होती हैं। उन्न = किरणें ; और उत्त्रियाः = किरणों की न्याईं शुद्ध तथा साफ़ गौएँ।

गौएँ सोमवर्चस् होनी चाहियें। सोम का अर्थ है “वीर्य”,—

यह मन्त्र संख्या १ से ५ तक में दर्शाया जा चुका है। जो गौ बन्ध्या हो, वृषभ के वीर्य को ग्रहण नहीं करती या गर्भ गिरा देती है, — ऐसी गौ उत्तम नहीं है। ऐसी गौ सोमदत्तस् नहीं होती।

गृहवासी-देवों अर्थात् गृहमें रहने वालों का इस बात की ओर विशेष ध्यान होना चाहिये जिस से कि गौओं का मन उस गृह में लग जाय, उस गृह के साथ गौओं का प्यार हो जाय। सेवा-शुश्रूषा द्वारा गौओं के मनों को भी जीत लिया जाता है, और उनके मनों में उस गृह के प्रति अनुराग हो जाता है।

गोपालन और देवयज्ञ

(३३) इमं गावः प्रजया सं विशाथायं

देवानां न मिनाति भागम् ।

अस्मै वः पूषा मरुतश्च सर्वे

अस्मै वा धाता सविता सुवाति ॥

(अथर्व० १४।१।३३)

(गावः) हे गौओ ! (इमम्) इस घर में या गोशाला में तुम (प्रजया) बछड़े-बछड़ी सहित (सं विशाथ) मिल कर प्रवेश करो, (अयम्) ताकि यह गृहपति (देवानां भागम्) देवों के भाग को (न मिनाति) नहीं नष्ट करता, लुप्त करता। (अस्मै) इस घर के लिए (वः) हे गौओ ! तुम्हें (पूषा) पूषा, मरुत्, धाता और सविता (सुवाति) प्रेरित करें।

गौएँ ऐसी खरीदनी चाहियें जिनके कि बछड़े-बछड़ी साथ हों, ताकि वे दूध दे सकें। इस प्रकार प्रजासमेत गौ का गोशाला में प्रवेश करना चाहिए।

गौएँ घर में होने पर इन के घृत से देवयज्ञ करना चाहिए। देवयज्ञ द्वारा देवों को उनका भाग मिलता है। अग्निहोत्र, दर्शपौर्ण-मास आदि यज्ञ देवयज्ञ कहलाते हैं। इसी प्रकार दूध, दही, मलाई, घी आदि द्वारा अतिथिदेव, आचार्यदेव, मातृदेव, पितृदेव तथा अन्य देवों अर्थात् दिव्य गुणों वाले व्यक्तियों का भी सत्कार करना चाहिए। इसे भी देवयज्ञ कह सकते हैं। गौएँ यदि घर में हों और फिर भी यदि यज्ञ न किए जाँय तो यह पाप है।

मन्त्र संख्या १५ में पूषा का वर्णन हुआ है जिस का अर्थ “परिपुष्ट” वर किया गया है। इसी प्रकार मन्त्र संख्या ९ में सविता का वर्णन हुआ है जिसका कि अर्थ है “उत्पादक पिता”। मरुतः के अर्थ कई हैं जिनमें से “मानसून-वायु”^१ भी एक अर्थ है। इसी प्रकार धाता का अर्थ “पृथिवी”^२ भी होता है। अभिप्राय यह कि नव-विवाहित पुरुष, तथा वधू के माता-पिता मिल कर चाहें कि विवाहित वर-वधू के घर में गौओं का निवास हो। गौओं को घर में रखने के लिए मानसून-वायु आदि प्राकृतिक शक्तियाँ भी अनुकूल होनी चाहियें, तथा घास-चारे आदि के लिए जमीन भी होनी चाहिए।

१ “अपः समुद्राद् दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति । ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति... ..। (अथर्व० ४।२७।४)

२ इयं (पृथिवी) वै धाता ॥ (तै० ब्रा० ३।५।२३।३)

सखायों का सत्कार

(३४) अनृक्षग ऋजवः सन्तु पन्थानो

येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम् ।

सं भगेन समयम्णा सं धाता सृजतु वर्चसा ॥

• (अथर्व० १४।१।३४)

(अनृक्षराः) कण्टक रहित तथा (ऋजवः) सीधे (पन्थानः) मार्ग (सन्तु) हों, (येभिः) जिन मार्गों द्वारा कि (सखायः) हमारे मित्र (नः) हमारे (वरेयम्) श्रेष्ठ गृह को (यन्ति) आते हैं। (धाता) धारण तथा पोषण करने वाला परमात्मा (भगेन) भग के साथ (संसृजतु) हमारे गृह का सम्बन्ध करे, (अयम्णा) आर्य अर्थात् श्रेष्ठ मन के साथ (सम्) हमारे गृह का सम्बन्ध करे, (वर्चसा) वर्च के साथ (सम्) हमारे गृह का (सम्) सम्बन्ध करे।

घर, ग्राम और नगर आदि के मार्ग या सड़कें ऐसी होनी चाहिए जिनमें कि कांटे न हों। तथा वे मार्ग सीधे बने हुए होने चाहिये।

अपने घरों में अपने इष्ट-मित्रों को निमन्त्रण देना चाहिए।

घर को श्रेष्ठ बनाना चाहिये, उसमें सद्गुणों का वास होना चाहिए, तथा उसे साफ सुथरा रखना चाहिए।

परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिए तथा कोशिश करनी चाहिये कि घरों में भग अर्थात् ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और

1 वरेयम् = वर+एय वरों अर्थात् श्रेष्ठ व्यक्तियों के आने योग्य। जिसमें कि श्रेष्ठ-व्यक्ति आ सकें। श्रेष्ठ-गृहों में ही श्रेष्ठव्यक्ति आया करते हैं।

वैराग्य की वृद्धि हो, तथा सब गृहवासी आर्य-मन वाले और वर्चस्वी हों ।

पत्नी के तीन आवश्यक गुण

(३५) यच्च वर्चो अक्षेषु सुरायां च यदाहितम् ।
यद् गोर्ष्वश्वना वर्चस्तेनेमां वर्चसावतम् ॥

(अथर्व० १४।१।३५)

(अक्षेषु^१) रथ-धुराओं में (यत्) जो (वर्चः) तेज (आहितम्) निहित है, (यच्च) और जो (सुरायाम्^२) जल में तेज निहित है, (यत्) जो (वर्चः) तेज (गोषु) गौओं में निहित है, (अश्वना = अश्विनौ) हे वर के माता-पिताओ ! (तेन) उस (वर्चसा) तेज द्वारा (इमाम्) इस नव वधू को (अवतम्) प्रदीप्त करो ।

वर के माता-पिता नववधू में तीन तेज स्थापित करें । (१) रथ की धुरा का तेज, (२) जल का तेज, (३) गौ का तेज ।

रथ के दो चक्रों या पहियों में लगे दण्ड को धुरा कहते हैं । इस धुरा पर सम्पूर्ण रथ अवलम्बित रहता है, अर्थात् धुरा सम्पूर्ण रथ का आधार है । अतः धुरा में तेज है “आधारता-रूपी-गुण” । नव-वधू को शिक्षा देनी चाहिए कि तू ही गृहस्थ-रथ की धुरा है, आधार है ।

जल का स्वभाव है शीतलता । यह शीतलता ही जल का तेज है । नववधू को जल के दृष्टान्त से शीतलता का या शान्ति-गुण का उपदेश देना चाहिए ।

१ अक्ष= Axis, axle (आपटे कोष) ।

२ सुरा=जल (निघण्टु, अ० १, खं० १२) ।

३ अव्=रक्षण, गति, कान्ति, दीप्ति इत्यादि । (भ्वादि गण) ।

गौएँ सात्विक दूध द्वारा मातृवत् सबका पालन-पोषण करती हैं। अतः गौओं में तेज है मातृवत्पालकता-रूपी गुण। पत्नी भी पालन-पोषण की दृष्टि से गौ के रूप वाली होनी चाहिये।

गौ अवध्या है

(३६) येन महानध्न्या जघनमश्विना येन वा सुरा ।

येनाक्षा अभ्यपिच्यन्त तेनेमां वर्चसावतम् ॥

(अथर्व० १४।१:३६)

(येन) जिस तेज द्वारा (महानध्न्याः!) महा-अवध्या गौ का (जघनम्) ऊध सींचा गया है, (येन) तथा जिस तेज द्वारा (अक्षाः) रथ-धुराएँ (अभ्यपिच्यन्त) सींची गई हैं, (तेन) उस (वर्चसा) तेज द्वारा (अश्विना = अश्विनौ) हे वर के माता-पिताओ ! (इमाम्) इस नववधू को (अवतम्) सींचो ।

वेदों में गौ का नाम 'अध्न्या' भी आता है। अध्न्या का अर्थ है "जिसकी कि हत्या न होनी चाहिए।" इससे प्रतीत होता है कि वैदिक-धर्म में गौ की हत्या का निषेध है। इस मन्त्र में गौ को "महानध्नी" कहा है। "अध्न्या" शब्द गौ को अवध्य कहता है। और "महानध्नी" शब्द गौ को महा-अवध्य कहता है।

गौ के ऊधः—स्थल अर्थात् थनों में दूधरूपी तेज विद्यमान होता है। उस द्वारा गौ अपने बच्चे को तेजस्वी बनाती है। नववधू माता बन कर अपने उत्तम-और-सात्विक दूध द्वारा अपने बच्चों को तेजस्वी बनाया करे, यह उपदेश इस मन्त्र में नववधू को दिया गया है। सुरा अर्थात् जल और अक्ष अर्थात् धुरा के तेज से जो उपदेश नववधू को लेना चाहिये उसका वर्णन ३५वें मन्त्र में कर दिया गया है।

१ महानध्नी = महा + न + ध्नी = महा-अध्न्या = महा अवध्या ।

आस्तिकता और वीर्यशक्ति

(३७) यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तयं

विप्रास ईडते अध्वरेषु ।

अपांनपान्मधुमतीरपो दा

याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्यावान् ॥

(अथर्व० १४/१/३७)

(यः) जो परमात्माग्नि (अनिध्मः) बिना इन्धन के (अप्सु अन्तः) रक्त^१ तथा वीर्यरूपी^२ जलों के अन्दर (दीदयत्^३) प्रदीप्त होता है, यम् जिसकी (विप्रासः) मेधावीलोग^४ (अध्वरेषु) हिंसारहित^५ यज्ञों में (ईडते) स्तुति करते हैं; (अपांनपात्^६) वीर्यरूपी जलों को न गिरने देनेवाला वह परमात्मा (मधुमतीः) मधुवाले अर्थात् मधु-सदृश (अपः)

- १ वैदिक साहित्य में “अप्” का अर्थ रक्त भी होता है । ब्राह्म-जगत के जल का प्रतिनिधि, आध्यात्मिक अर्थों में, शरीर में व्याप्त रुधिर है । यथाः—को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विवृवृतः पुरुवृतः सिन्धु-सृत्याय जाताः । तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥ (अथर्व० १०।२।११)
- २ अथर्व० १६।१।१-१३ में वीर्य का वर्णन “आपः” शब्द द्वारा किया गया है ।
- ३ दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः ।
- ४ विप्राः=मेधाविनः । (निघं० अ० ३, खं० १५) ॥
- ५ अध्वर = अ + ध्वर (हिंसा) । अध्वर इति यज्ञनाम । ध्वरतिः हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः । (निरु० अ० १, पा० ३, खं० ३) ॥
- ६ अपां + न + पात् = जलों को न गिरने देने वाला ।

वीर्यरूपी जल (दाः) हमें देवे, (याभिः) जिन वीर्यरूपी जलों द्वारा कि (इन्द्रः^१) इन्द्र (वीर्यावान्^२) वीर्यवाला होकर (वावृधे) बढ़ता तथा बढ़ाता है ।

वेदों में परमात्मा को अग्नि भी कहा गया है । परमात्मा प्रकाशमय है अतः वह अग्नि^३ है । वह-भक्तों के पापों को भस्मीभूत कर देता है इसलिये भी वह अग्नि है । परमात्माग्नि साधारण अग्नि जैसा नहीं, जो कि इन्धन अर्थात् लकड़ी द्वारा प्रकट होता है ।

परमात्माग्नि जलों में प्रदीप्त होता है । वेदों और उपनिषदों में शरीर को, और शरीर में भी विशेष रूप से हृदय को परमात्माग्नि का स्थान कहा गया है । हृदय में रक्त-रूपी-जल का निवास है और रक्त में वीर्य का निवास है । इसीलिये कहा गया है कि परमात्माग्नि का प्रकाश जलों में होता है । वीर्यावान् पुरुष ही योग के अष्टांगों द्वारा परमात्मा को प्राप्त करता है ।

- 1 आत्मिक शक्ति से सम्पन्न गृहस्थी । इन्द्र = आत्मा । इसी लिए इस आत्मरूपी इन्द्र की शक्तियों को "इन्द्रिय" कहते हैं ।
- 2 इन्द्र को मन्त्र में वीर्यावान् कहा है । इस से ज्ञात होता है कि जिसमें वीर्यशक्ति विद्यमान है ऐसे ब्रह्मचर्यसम्पन्न गृहस्थी को यहां इन्द्र कहा गया है । ब्राह्मण ग्रन्थों में इस भाव से मिलते-जुलते इन्द्र सम्बन्धी निर्देश मिलते भी हैं । यथा:—"वीर्यं वा इन्द्रः" (ताँ० ब्रा० ६, ७, ५, ८) । "शिरनमिन्द्रः" (श० ब्रा० १२, ६, १, १६) ॥ "रेत इन्द्रः" (श० ब्रा० १२, ६, १, १७)
- 3 तदेवाग्निस्तदादित्यस्तदु वायुः स चन्द्रमा । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः सः प्रजापतिः ॥ यजुर्वेद ॥ अर्थान् परमात्मा के नाम हैं- अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, प्रजापतिः ।

वैदिक-यज्ञ अध्वर है, हिंसा से रहित हैं। इनमें निरपराध पशुओं की बलि नहीं होती। ऐसे यज्ञों में विप्र अर्थात् मेधावीलोग इसी परमात्माग्नि की स्तुति करते हैं, उसी के नाम पर आहुति देते हैं। प्राकृतिक अग्नि की स्तुति इन यज्ञों में नहीं की जाती।

परमात्म-भक्ति, वीर्य-रूपी-जल को, गिरने नहीं देती। जिस पुरुष में परमात्माग्नि का प्रकाश हो चुका है वह गृहस्थ में भी ब्रह्मचर्य-विधि से रहता है, उसका वीर्य-जल कामवासना से प्रेरित होकर पतित नहीं होता।

आस्तिक लोग अपनी वीर्यशक्ति की रक्षा के लिये, काम पर विजय पाने के लिये, परमात्मा से प्रार्थना किया करते हैं कि परमात्मा कृपा करे कि हमारे शरीर में वीर्यशक्ति सदा विद्यमान रहे।

मधुसदृश वीर्य उत्तम गिना गया है। इसीलिये मधुसदृश गन्ध वाले वीर्य को आयुर्वेद में उत्तम कहा है।

उस उत्तम वीर्य द्वारा मनुष्य वीर्यवान् होकर जीता तथा दीर्घ-जीवी होता है। गृहस्थ में इस उत्तम वीर्य की आवश्यकता होती है, इसीलिये इस मन्त्र में उत्तम वीर्य की पहिचान, उसकी रक्षा, उसे न गिरने देना, तथा उसके लाभों आदि का वर्णन किया गया है।

कामग्राह और भद्रकाम

(३८) इदमहं रुशन्तं ग्राभं तनूदूषिमपोहामि ।

यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि ॥

(अथर्व० १४।१।३८)

(इदम्) यह (अहम्) मैं (रुशन्तम्^१) हिंसा करनेवाले, (तनू

१ रुश हिंसायाम् । (तुदादि गण)

दूषिम्) और शरीर को दूषित करनेवाले (ग्राभम्^१) काम रूपी ग्राह को (अपोहामि) त्याग देता हूँ; (यः) और जो (भद्रः^२) कल्याणकारी तथा सुखकारी (रोचनः) और शरीर में दीप्ति को स्थिर रखनेवाला काम है (तम्) उसे (उदचामि) उत्कृष्ट होकर प्राप्त होता हूँ।

काम भाव के सर्वथा त्याग देने से गृहस्थ-धर्म का पालन असम्भव है। परन्तु काम भाव के उग्र रूप में होने से गृहस्थ-धर्म अधर्म के रूप में बदल जाता है। अतः गृहस्थ-धर्म के पालन के लिये न तो काम भाव का उग्र रूप हो चाहिये और न काम भाव का सर्वथा त्याग ही।

उग्र कामभाव को इस मन्त्र में “ग्राह” कहा गया है। “ग्राह” का अर्थ है, पकड़नेवाला, नक्र, नाका। साथ ही यह भी कहा है कि यह काम-ग्राह नाश कर देने वाला है और शरीर को दूषित करनेवाला है। अतः इस उग्र कामभाव का त्याग अवश्य कर देना चाहिये।

परन्तु गृहस्थ-धर्मोपयोगी काम का एक श्रेयरूप भी है। उसे भद्र तथा रोचन कहा गया है। सद्गृहस्थी इस श्रेयरूप वाले काम-भाव को स्वीकार करे।

परन्तु श्रेयरूप वाले काम-भाव का स्वीकार करना तब तक सम्भव नहीं जब तक कि मनुष्य अपने अन्दर ऊँचे भावों को स्थान नहीं देता। मन की उत्कृष्टावस्था के बिना काम का श्रेयरूप होना असम्भव है। इस भाव को मन्त्र में “उदचामि” पद द्वारा प्रकट किया गया है।

१ ग्राभ = ग्राह = पकड़ लेने वाला, नक्र अर्थात् नाका। “ह प्रहोर्भः छन्दसि” द्वारा ग्राह के “ह” को “भ” हुआ है। अंग्रेज़ी में grip (पकड़ना) शब्द भी ग्रह धातु का ही विकृतरूप प्रतीत होता है।

२ भद्र = कल्याण और सुख।

स्नान तथा गर्भाधान

(३६) आस्यै ब्राह्मणाः स्नपनी हरन्त्ववीरघ्नीरुदजन्त्वापः ।

अर्यम्णो अग्निं पर्येतु पूषन् प्रताक्षन्ते श्वशुरो देवरश्च ॥

(अथर्व० १४।१।३६)

(अस्यै) इस वधू के लिए (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण अर्थात् वेदों के विद्वान् वैद्य^१ लोग, (स्नपनीः^२) स्नान के योग्य (आपः) जलों को (आ-हरन्तु) लावें, (अवीरघ्नीः) और वीर पुत्रों का नाश न करने वाले जलों को (उदजन्तु) उत्कृष्ट बनाकर लावें । (अर्यम्णः) आर्य मन वाले पति के (अग्निम्) तेज को अर्थात् वीर्याग्नि को (पर्येतु) यह वधू

१ ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा । यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥ (यजुर्वेद १२, १६) । अर्थात् ओषधियों ने अपने राजा सोम से कहा कि हमें जब ब्राह्मण कोटि का निरीह व्यक्ति चिकित्सा के लिये प्रयुक्त करता है तो हम रोगी को पार कर देती हैं ।

२ गर्भाधान संस्कार में गर्भाधान से पूर्व स्नान की विधि लिखी है । पारस्करगृह्यसूत्र में लिखा है कि “अथ गर्भाधानं स्त्रियाः पुष्पवत्याः, चतुरहादूर्ध्वं स्नात्वा विरुजायाः तस्मिन्नेव दिवा—“आदित्यं गर्भमिति” । इस पर ऋषि दयानन्द संस्कार-विधि में लिखते हैं कि “इसके अनन्तर जब स्त्री रजस्वला होकर चौथे दिन के उपरान्त पांचवें दिन स्नान कर रज-रोग रहित हो उसी दिन “आदित्यं गर्भम्” इत्यादि-मन्त्रों से आहुति देनी” ।

ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि के गर्भाधान प्रकरण में और भी लिखा है कि “इन मन्त्रों से आहुति देते समय प्रत्येक

प्राप्त करे। (पूषन्^१) हे पुष्टपति ! (श्वशुरः देवरः च) वधू के श्वशुर देवर आदि (प्रतीक्षन्ते) इसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

ब्राह्मण-वैद्य गर्भाधान के दिन अर्थात् ऋतुमती होने के चौथे दिन वधू के लिये स्नान-योग्य जलों को लावें। यह जल नानाविध ओषधियों के द्वारा उत्कृष्ट बना कर वधू के स्नान के निमित्त लाना चाहिए। गर्भाधान के समय तथा तत्पश्चात् भी वधू यदि ऐसे उत्कृष्ट जलों द्वारा स्नान करती रहे तो गर्भस्थापन हो जाता है, तथा गर्भस्थ बच्चे का नाश नहीं होता। इस स्नान द्वारा बच्चे पुष्ट और स्वस्थ होकर संसार में आते हैं। चरक में “गर्भस्थापनीपथ प्रकरण” में लिखा है कि “गर्भवती स्त्री इन्द्रायण, ब्राह्मी, सुफेद दूध, नीली दूध, पाटला, गिलोय, हरड़, नोम, खरेटो, शतमूली— इन सब ओषधियों के साथ सिद्ध किए हुए दुग्ध और घृत का पान करे। तथा इन ओषधियों के साथ सिद्ध किए गए जल से स्नान करे”। (चरक, शरीर-स्थान, अ० ८)।

स्नान के पश्चात् वधू, पति के तेज को, अपने गर्भाशय में धारण करे। इस समय पति को अर्यमा का रूप धारण करना चाहिए। अर्यमा का अर्थ है श्रेष्ठ मन वाला। यह इसलिए चूँकि गर्भाधान के समय के विचारों का प्रभाव बच्चे पर अत्यधिक पड़ता है। उस समय पति को अपने विचार अवश्य श्रेष्ठ बनाने चाहिए, अपने को आर्य-मन वाला बनाना चाहिये।

“अर्यम्णो अग्नि पर्येतु” का यह भी अभिप्राय है कि गर्भाधान

आहुति के लुवा में शेष रहे घृत को वधू लेके, स्नान के घर में जा कर, उस घी का पग के नख से लेके शिर पर्यंत सब अङ्गों पर मर्दन करके स्नान करे”।

१ देखो पुस्तक की मन्त्र-संख्या १५ ; ।

के निमित्त गर्भाधान संस्कार रचा कर, आर्यमन वाले परमात्मा की प्रतीक रूपी यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा^१, पत्नी करे ।

गर्भग्रहण में शान्तभावना

(४०) शं ते हिरण्यं शम् सन्त्वापः शं मेथिर्भवतु
शं युगस्य तद्म ।

शं त आपः शतपवित्रा भवन्तु शम् पत्या
तन्वं संस्पृशस्व ॥

(अथर्व० १४।१।४०)

(हिरण्यम्^२) वीर्य की शक्ति (ते) तुम्हे (शम्) शान्ति देने वाली हो, (आपः^३) प्राण-शक्तियाँ (शम्) तुम्हे शान्ति देने वाली

- १ ऋषि दयानन्द ने गर्भाधान संस्कार में लिखा है कि तब दोनों वधू-वर कुण्ड की प्रदक्षिणा करके..... वधू अग्ने पति को वन्दन अर्थात् नमस्कार करे, तत्पश्चात् स्वपति के पिता पितामह आदि और जो वहाँ अन्य माननीय पुरुष, तथा पति की माता, तथा कुटुम्बी और सम्बन्धियों की वृद्ध-स्त्रियाँ हों, उनको भी इसी प्रकार वन्दन करे” ।

मन्त्र में श्वशुर तथा देवर आदि सम्बन्धियों द्वारा जिस प्रतीक्षा का वर्णन आया है वह इस गर्भाधान विधि के सम्बन्ध में प्रतीत होता है ।

- २ हिरण्य = वीर्यशक्ति (अथर्व० १।३५/१-४) । तथा “शुकं हिरण्यम्” (तै० ब्रा० १।७।६।३) ॥
- ३ आपः = सातों प्राण । , यथा:—“सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे,

(सन्तु) हों, (मेथिः^१) सत्सङ्ग, ज्ञान, तथा समझने की शक्ति (शम्) तुम्हें शान्ति देने वाले हों, (युगस्य) पति-पत्नी के जोड़े का (तद्मं) छिद्र अर्थात् परस्पर का छिद्रान्वेषण (शम्) तुम्हें शान्ति देने वाला हो, शतपवित्राः) सैकड़ों प्रकार से पवित्र किए हुए (आपः) रुधिर^२ आदि शारीरिक द्रव (ते) तुम्हें (शम्) शान्ति देने वाले (भवन्तु) हों, (शम् उ) और इस प्रकार शान्त होकर तू (पत्या) पति के साथ (तन्वम्) अपनी तनू का (संस्पृशस्व) प्रेमपूर्वक स्पर्श कर ।

इस मन्त्र में श्वसुर आदि द्वारा वधू को निम्नलिखित उपदेश मिलते हैं किः—

पत्नी को गर्भ-ग्रहण के समय अपनी रजशक्ति को शान्त रखना चाहिए । अधिक कामुकता के भाव से यह शक्ति उस समय आन्दोलित न रहनी चाहिए । उपलक्षण विधि से यहां “हिरण्य” पद द्वारा स्त्री की रज-शक्ति को भी वीर्य कह दिया है । स्त्री में वीर्य उसकी रज-शक्ति ही है ।

उस समय पत्नी को अपनी प्राण-शक्ति को भी समतुलित रखना चाहिए ।

गर्भग्रहण के पश्चात् पत्नी सत्सङ्ग पर तथा उत्तम ज्ञान के उपार्जन पर अधिक ध्यान दिया करे । इस विधि से गर्भस्थ बच्चे पर

सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् । सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः, तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥ (यजुर्वेद ३१।१५) ॥ इस मन्त्र में सात प्राणों को ऋषयः और आपः कहा है ।

१ मेथि=To meet one another; to know; to understand. (आपटे) ।

२ आपः = रुधिर (अथर्व० १०।२।११) ।

उत्तम संस्कार पड़ते हैं ।

पति और पत्नी का जोड़ा गुणों की दृष्टि से पूर्ण रूप से सदा परिपूर्ण होगा,—यह सम्भावना सांसारिक अनुभव के अनुकूल नहीं । योग्य पति और योग्य पत्नी के परस्पर सम्बन्ध में भी एक दूसरे में छिद्रों या दोषों का होना सम्भव है । इस लिए इस सांसारिक-सत्य को सदा दृष्टि में रखते हुए कोशिश यह होनी चाहिए कि पति अपनी पत्नी के छिद्रों के प्रति सहनशीलता दर्शाए और पत्नी अपने पति के छिद्रों के प्रति सहनशीलता दर्शाए । परन्तु गर्भ-ग्रहण के समय तो विशेष रूप से पत्नी कोशिश करे कि अपने पति के दोष उसके मन में उस समय उठने ही न पाएँ । उस समय तो पति के सद्गुणों का ही ध्यान पत्नी के मन में होना चाहिए । इसी प्रकार वीर्यदान के समय पति भी पत्नी के सद्गुणों का ही ध्यान करे । इस समय परस्पर के छिद्रों अर्थात् दोषों का ध्यान करने से भावी सन्तान पर बुरा प्रभाव पड़ेगा ।

पत्नी गर्भ-ग्रहण के समय तथा उसके पश्चात् भी अपने रुधिर को शान्त रखे, और इसे उत्तम भावों के सतत चिन्तन द्वारा, पवित्र बनाए रखे ।

इस प्रकार से पत्नी अपने मन को वश में रख कर और इसे पूर्णरूप से शान्त बना कर पति से गर्भ ग्रहण करे ।

पत्नी-पवित्रता के तीन प्रकार

(४१) खे रथस्य खे ऽनसः खे युगस्य शतक्रतो ।

अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्वाकृणोः सूर्यत्वचम् ॥

(अथर्व० १४।१।४१)

(रथस्य) शरीर-रथ^१ के (खे) आनन्द^२ में, (अनसः^३) रसोई तथा अन्न के (खे) आनन्द में, (युगस्य) ओर जोड़े के (खे) आनन्द में, (शतक्रतो !) हे सैकड़ों क्रतुओं^४ वाले (इन्द्र^५) तथा आत्मिक-शक्ति से सम्पन्न पति ! (अपालाम्) जिसका तुझसे भिन्न कोई पालक^६ नहीं ऐसी इस पत्नी को (त्रिः) तीन प्रकार से (पूर्त्वा) पवित्र करके (सूर्यत्वचम्^७) सूर्य की त्वचा की न्याईं (अकृणोः) तू ने उसे कर दिया है, उसे चमका दिया है ।

पति का कर्तव्य है कि वह अपनी पत्नी को ऐसा उपदेश करे ताकि वह तीन प्रकार के आनन्दों की दृष्टि से पवित्र हो जाय, शुद्ध हो जाय । वे तीन आनन्द हैं शारीरिक आनन्द, अन्न का आनन्द, तथा जोड़े का आनन्द । शारीरिक आनन्द का अभिप्राय है ऐन्द्रियिक-आनन्द, अन्न के आनन्द का अभिप्राय है उत्तम तथा स्वादु अन्न तय्यार कर उसका सेवन करना, तथा जोड़े के आनन्द का अभिप्राय है पति-पत्नी रूपी जोड़े का आनन्द । पत्नी अपने शारीरिक आनन्द को

- १ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ॥ (कठ, उप, ३, ३)^१
- २ ख = आनन्द. (Happiness, Pleasure (आपटे) ।
- ३ अनसु = अन्न, यथा महानस अर्थात् रसोई, जिसमें कि बहुत अन्न रहता है ।
- ४ क्रतु=उत्तम कर्म, यज्ञ तथा उत्तम संकल्प ।
- ५ इन्द्र = आत्मा (काशिका अष्टाध्यायी, ५।२।१३) ।
- ६ अर्थात् जिसका तुझसे भिन्न अब कोई पालक या पति नहीं है ।
- ७ सूर्यत्वक्= सूर्य की त्वचा, अर्थात् किरणें । इन किरणों को आधि-दैविक दृष्टि में कई विद्वान् सूर्या कहते हैं । आधिभौतिक दृष्टि में सूर्या है आदित्य-ब्रह्मचारिणी ।

अपवित्र न होने दे, अर्थात् विषय-वासना में अधिक लिप्त न हो। वह अन्न के आनन्द को अपवित्र न होने दे, अर्थात् अन्न को दोष रहित, स्वादु तथा पुष्टिकारक बनाए, और राजस तथा तामस अन्नों के स्वाद में न पड़े। तथा वह जोड़े के आनन्द को भी अपवित्र न होने दे, अर्थात् पति और पत्नी के जोड़े का जो आनन्द है उसे अपवित्र न होने दे। पति और पत्नी के पथक् २ हो जाने से, सदा के लड़ाई दङ्गों से तथा मनमुटाओं से, पति-पत्नी के जोड़े से उत्पन्न होने वाला आनन्द मिट जाता है। पत्नी इस बात का ख्याल रख कि पति-पत्नी के सह-वास का आनन्द कहीं अपवित्र न हो जाय।

पत्नी की पवित्रता में सूर्यत्वक् अर्थात् सूर्य की किरणों का दृष्टान्त दिया है। सूर्य की किरणों को कई सूर्या भी कहते हैं। सूर्य की किरणें कभी भी अपवित्र नहीं होतीं। वे सदा पवित्र हैं और अन्य अपवित्र पदार्थों को भी पवित्र कर देती हैं। पत्नी भी पवित्रता में सूर्य के किरणों के सदृश होनी चाहिए। वह स्वयं पवित्र हो और उसके सम्पर्क से अन्य अपवित्र भी पवित्र बन जाय।

पत्नी में इन तीन पवित्रताओं का डालने वाला पति भी स्वयं शतक्रतु तथा इन्द्र होना चाहिये। शतक्रतु का अर्थ है सैकड़ों प्रकार के उत्तम कर्मों, यज्ञों तथा सत्-संकल्पों का करनेवाला। अयज्ञमय और अशिव संकल्पों वाला तथा आत्मिक-शक्ति से विहीन पति अपनी पत्नी को इन तीन प्रकारों से पवित्र करने में समर्थ नहीं हो सकता। अतः पति को चाहिये कि वह पहिले अपने आप को सुधारे, तत्पश्चात् ही वह पत्नी को सूर्य-किरणों के सदृश पवित्र बना सकता है।

पत्नी की विभूतियां तथा मोक्षकामना

(४२) आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं यिम् ।

पत्युर्गुत्रता भूत्वा संनह्यस्वामृताय कम् ॥

(अथर्व० १४।१।४२)

(सौमनसम्) मन की प्रसन्नता, (प्रजाम्) उत्तम सन्तान, (सौभाग्यम्) उत्तम भगों अर्थात् उत्तम ऐश्वर्य आदि पदार्थों, (रयिम्) तथा दातव्य धन को (आशासाना) इच्छा करती हुई हे पत्नी ! तू, (पत्युः) पति के अनुव्रता अनुकूल कर्म करने वाली (भूत्वा) होकर, (अमृताय) मोक्ष प्राप्ति के निमित्त (कम्) प्रसन्नता पूर्वक (संनह्यस्व) सन्नद्ध हो, तय्यार हो ।

पत्नी सदा चाहा करे कि उसके घर में निम्नलिखित विभूतियाँ हों :—

परस्पर की प्रसन्नता, प्रेम, खुशी और आनन्द । पत्नी के चाहने पर गृह-जीवन में प्रसन्नता का राज्य हो सकता है । यदि पत्नी कलह-प्रिय होगी तो गृह-जीवन में सदा दुःख और क्लेश का ही राज्य रहेगा ।

पत्नी सदा उत्तम सन्तानें चाहे । माता के संस्कारों का बच्चे पर बहुत अधिक असर हुआ करता है । इसीलिये माता अपने मन में बच्चे को अच्छा बनाने की भावना सदा जागृत रखे । बच्चा जब गर्भ में हो तब भी माता के मन में यह भावना सदा जागृत रहे । तथा बच्चा जब जन्म पाले तो उसके बाद भी माता के मन में यह भावना जागृत रहे ।

पत्नी उत्तम भग अर्थात् उत्तम ऐश्वर्य, उत्तम धर्म, उत्तम यश, उत्तम श्री, उत्तम ज्ञान तथा उत्तम वैराग्य चाहा करे । ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य उत्तम भी हो सकते हैं और अनुत्तम भी ।

धर्मपूर्वक उपार्जित ऐश्वर्य उत्तम है और अधर्मपूर्वक उपार्जित ऐश्वर्य उत्तम नहीं। श्रद्धापूर्वक किया गया धर्म उत्तम है और लोक-प्रशंसा के लिये किया गया धर्म उत्तम नहीं। त्याग, तपस्या, परोपकार, दान आदि द्वारा कमाया गया यश उत्तम है और दूसरों की निन्दा, धोखे-बाजी, आदि द्वारा कमाया गया यश उत्तम नहीं; इत्यादि। पत्नी सदा उत्तम ऐश्वर्य आदि को चाहे, अधर्म ऐश्वर्य आदि को नहीं।

पत्नी प्राकृतिक धन को भी चाहे और उसका दान भी सत्पात्रों में किया करे। रयि का अर्थ है वह धन, जिसका कि उपार्जन कर उसे सत्पात्रों में दानरूप में दिया जाय।

पत्नी को सदा पति के अनुकूल कर्म करनेवाली होना चाहिये, प्रतिकूल कर्म करनेवाली नहीं। परन्तु पति यदि अधर्म-कृत्य को करे या उसको करने की आज्ञा पत्नी को देवे तो पत्नी इस अधर्म कृत्य का अनुसरण न करे, और अधर्म-कृत्य करने से स्पष्ट इन्कार कर दे।

पत्नी गृहस्थ में रहती हुई केवल गृहस्थ के ऐहलौकिक कृत्यों में ही न लगी रहे, अपितु वह मोक्ष के लिये भी प्रसन्नतापूर्वक सदा सम्यक् प्रयत्न करती रहे। गृहस्थधर्म में प्रतिपादित कर्तव्यों का पालन यदि भक्ति, श्रद्धा, और निःस्पृहता, तथा फलत्याग की भावना से किया जाय तो इस से पत्नी मोक्ष को पा सकती है।

पत्नी सम्राज्ञी है

(४३) यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सषुवे वृषा ।

एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ॥

(अथर्व० १४।१।४३)

(यथा) जैसे (वृषा) वर्षा करनेवाले (सिन्धुः) समुद्र ने (नदीनाम्)

नदियों पर (साम्राज्यम्) साम्राज्य को (सुपुत्रे) प्राप्त किया है; (एवा = एव इसी प्रकार (त्वम्) हे पत्नी ! तू (पशुः) पति के (अस्तम्) घर (परेत्य) जा कर (साम्राज्ञी) राणी (एधि) बन ।

समुद्र को साम्राज्य नदियों पर है नदियाँ अपनी जल-सम्पत्ति को समुद्र की भेंट करती हैं । इसलिये समुद्र नदियों का राजा है । इसी प्रकार गृहवासियों को चाहिये कि वे अपनी समग्र कमाई इस नव-वधू के प्रति भेंट कर दिया करें । क्योंकि यह नववधू पतिगृह में साम्राज्ञी है, राणी है ।

परन्तु समुद्र इस भेंट को लेकर उसे अपने लिये ही नहीं रख लेता, अपितु वह वृषा है, वर्षा का मूल कारण है । समुद्र, नदियों द्वारा ली हुई भेंट को, वर्षा के रूप में पुनः नदियों तथा पृथिवी के अन्य पदार्थों के प्रति सौंप देता है । पत्नी को भी चाहिये कि वह, प्राप्त की हुई सम्पत्ति की बाँट, समुद्र की न्याई, उचित रूप में करे । तथा समुद्र जिस प्रकार जल को वर्षा के रूप में देता हुआ भी भरा सा रहता है, इसी प्रकार पत्नी भी धन का व्यय इस विधि से करे कि वह व्यय करती हुई भी धन-सम्पत्ति से सदा परिपूर्ण रहे । परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि गृह-साम्राज्य में पत्नी साम्राज्ञी इ तो पति साम्राट् है । शेष गृहवासी इन दोनों के लिये प्रजावत् पालनीय तथा रक्षणीय हैं ।

इस मन्त्र में राजा-प्रजा के पारस्परिक लेन-देन पर भी प्रकाश डाला गया है । राजा, समुद्र की न्याई, प्रजा से "कर" को भेंट के

१ देखो अथर्व० १।१४।२, ३; यथा :— एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम । सा मातुर्बध्यतां गृहे ऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥ एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि ददमसि । ज्योक् भितृष्वासाता आ शीर्ष्णः शमोप्यात् ॥

रूप में ग्रहण करे, और समुद्र को न्याई पुनः उसे प्रजा की भलाई में ही लगा दे।

पत्नी का साम्राज्य

(४४) सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत नवृषु ।

ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥

(अथर्व० १४।१।४४)

(श्वशुरेषु) हे पत्नी! ससुरों पर (सम्राज्ञी) तू सम्राज्ञी (एधि) बन, (उत और (देवृषु) देवों पर (सम्राज्ञी) सम्राज्ञी बन । (ननान्दुः) ननान्द पर (सम्राज्ञी) सम्राज्ञी (एधि) बन, (उत) और (श्वश्र्वाः) सास पर (सम्राज्ञी) सम्राज्ञी बन ।

गृह-पत्नी समग्र गृह की सम्राज्ञी है । पति राजा है और पत्नी राणी है । ससुर, सास, देवर तथा ननान्द सब गृहवासियों पर सम्राज्ञी की कृपादृष्टि रहनी चाहिये । सब पर इसे सम्यक् तथा श्रेष्ठ राज्य करना चाहिये ।

आजकल विवाह के अनन्तर नववधू का अपने पति के सम्बन्धियों से प्रायः कलह हो जाता है । कारण यह कि पति के सम्बन्धी नववधू को वह अधिकार नहीं देते जो कि नववधू का निज-अधिकार है, जिस अधिकार की कि वकालत यह मन्त्र कर रहा है । आजकल पति के सब सम्बन्धी नववधू पर अपना २ प्रभाव दिखलाना चाहते हैं और नववधू का पतिगृह में कोई भी अधिकार नहीं देना चाहते । वेद के आदेशानुसार पतिगृह में आते ही नववधू उस घर की सम्राज्ञी बन जानी चाहिये । और पति के सम्बन्धियों को, नववधू के नियम-तथा-प्रबन्ध में रहना स्वीकार करना चाहिये । इसी विधि से गृह-जीवन शान्ति का धाम बन सकता है ।

हाथ के कते-बुने वस्त्र

(४५) या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्तिरे या

देवीरन्तां अभितो ददन्त ।

तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं

पश्चित्त्वं वासः ॥

(अथर्व० १४।१।४५)

(याः) जिन (देवीः) देवियों ने (अकृन्तन्) सूत काता है, (नवयन्) तथा उसे बुना है, (याः च) और जिन देवियों ने (तत्तिरे) ताना तना है, (याः) और जिन देवियों ने (अभितः) वस्त्र के चारों ओर (अन्तान्) किनारे (ददन्त) दिये हैं, (ताः) वे देवियाँ (त्वा) तुम्हे हे पत्नी ! (जरसे) जरावस्था तक (संव्ययन्तु) हाथ के वस्त्रों से ढाँपती रहें, अर्थात् वस्त्र पहनाती रहें । (आयुष्मति) हे दीर्घायु वाली ! (इदम्) इन (वासः) हथ-कते हथबुने वस्त्रों को (परिधत्स्व) तू पहना कर ।

इस मन्त्र में सूत कातना, वस्त्र बुनना, तथा उन वस्त्रों के किनारे बनाना देवियों का काम दर्शाया गया है । पत्नी को इस मन्त्र द्वारा उपदेश भी दिया गया है कि तू हथ-कते तथा हथ-बुने वस्त्रों को पहना कर, जब तक कि तू वृद्धावस्था तक नहीं पहुँचती । वृद्धावस्था के बाद आश्रम-व्यवस्था के अनुसार गृहस्थ छूट जाता है और वानप्रस्थ आरम्भ हो जाता है । वानप्रस्थ में बल्कल आदि पहनने होते हैं ।

भोगजीवन का दुष्परिणाम

(४६) जीवं रुदन्ति विनयन्त्यध्वरं ।

दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः ।

वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे ।

मयः पतिभ्यो जनये परिष्वजे ॥

(अथर्व० १४।१।४६)

(ये) जिन्होंने (इदम्) यह सिद्धान्त (समीरिरे^१) प्रेरित किया है, प्रचारित किया है कि (पतिभ्यः) पतियों के लिए तथा (जनये) जननी के लिए अर्थात् पत्नियों के लिए (परिष्वजे आलिङ्ग में ही (मयः) आनन्द है वे (नरः) मनुष्य (जीवम्) अपने जीवन को या जीवन भर (रुदन्ति) रोते रहते हैं, (अध्वरम्^२) गृहस्थ यज्ञ को (विनयन्ति) विरुद्ध दिशाओं में ले जाते हैं, (दीर्घाम्) दीर्घ (प्रसितिम्) प्रबन्धों^३ का (अनु) निरन्तर (दीध्युः) चिन्तन^४ करते रहते हैं, तथा (पितृभ्यः) बुजुर्गों के प्रति (वामम्) वामाचार^५ अर्थात् उल्टे आचार-व्यवहार, अशिष्ट व्यवहार, (समीरिरे) प्रेरित करते हैं ।

इस मन्त्र में यह दर्शाया है कि गृहस्थ-जीवन को भोग-स्थली समझना नितान्त भूल है । जो गृहस्थी यह समझते हैं कि गृहस्थ केवल परस्परालिङ्गन के आनन्द के लिए ही बना है और परस्परालिङ्गन

१ सम् + ईरिरे । ईर गतौ कम्पने च ।

२ अध्वर=यज्ञ । (निघण्टु, अ० ३, खं० १७) ।

३ प्रसिति=प्रबन्ध (पिञ् बन्धने) ।

४ दीध्युः = ध्यै चिन्तायाम् ।

५ वामम् = Adverse, unfavourable (आपटे) ।

का आनन्द ही गृहस्थ-जीवन का मुख्य उद्देश्य है उनकी अवस्था निम्न रूप की हो जाती है :—

ऐसे व्यक्ति आरम्भ में क्षणिक आनन्द में मस्त तो हो जाते हैं परन्तु परिणाम में जीवन पर्यन्त रोते रहते हैं ।

वे गृहस्थ-धर्म में से यज्ञियांश को हटा कर गृहस्थ-यज्ञ को विरुद्ध दिशा में ले जाते हैं, उसे अयज्ञमय बना देते हैं ।

वे दीर्घ २ प्रबन्धों की चिन्ता- ही- चिन्ता करते रहते हैं, परन्तु धैर्य और साहस के अभाव के कारण उनका कोई भी प्रबन्ध सफल नहीं होता ।

तथा वे माता-पिता और अन्य बुजुर्गों के प्रति ऐसे व्यवहार करते रहते हैं जो कि शिष्टाचार के विरुद्ध होते हैं ।

आदर्श सन्तान

(४७) स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेश्मानं देव्याः

पृथिव्या उपस्थे ।

तमातिष्ठानुमाद्वया सुवर्चा दीर्घं त आयुः

सविता कृणोतु ॥

(अथर्व० १४।१।४७)

(पृथिव्याः) पृथिवी^१ के सदृश वर्तमान (ते) तुम्ह (देव्याः) देवी के (उपस्थे) गर्भाशय में (अश्मानम्) पत्थर को अर्थात् पत्थर की नाई (ध्रुवम्) दृढ़ (स्योनम्) और अतएव सुखकारी सन्तान को, (प्रजायै) प्रजनन के निमित्त (धारयामि) मैं स्थापित करता हूँ, (तम्) उस पर तू (आतिष्ठ) अपनी आस्था बना, (सुवर्चाः)

१ पृथिवी=पत्नी (अथर्व० १४।२।७१) ।

उत्तम वर्चस्विनी होकर (अनुमाद्या) निरन्तर प्रसन्न रहा कर । (सविता) सब का उत्पादक परम पिता या सूर्य (ते) तेरी (आयुः) आयु को (दीर्घम्) लम्बा (कृणोतु) करे ।¹

इस मन्त्र में पति अपनी पत्नी के सम्मुख आदर्श-सन्तान का वर्णन करता है और इस सम्बन्ध में कहता है कि:—

पृथिवी जैसे मातृशक्ति से सम्पन्न है वैसे तू भी मातृशक्ति से सम्पन्न बन ।

मातृ-शक्ति से सम्पन्न होते हुए तू देवी भी बन, अर्थात् अपने में दिव्य गुणों को धारण कर । ताकि तुझ से जन्म ली हुई सन्तान भी दिव्य गुणों वाली हो सके ।

पति, पत्नी की गोद में, या पत्नी के सम्मुख पृथिवी पर पत्थर स्थापित करता है और इस पत्थर के दृष्टान्त द्वारा उसे कहता है कि

I इस मन्त्र का अर्थ निम्नलिखित भी जानना चाहिए । यथा :—

“तेरी सन्तान किस प्रकार की होनी चाहिए इसे दर्शाने के लिए मैं इस दृढ़ शिला या पत्थर को पृथिवी माता की गोद में अर्थात् पृथिवी पर रखता हूँ, उस पर तू आकर खड़ी हो, उस पर तू अपना पैर रख” ।

पति इस मन्त्र को पढ़कर, पत्नी के संमुख पृथिवी पर एक शिला या पत्थर स्थापित करता है और पत्नी को आदेश करता है कि वह इसे परखे कि यह कितना दृढ़ तथा मजबूत है । इसलिये ताकि उसे ज्ञान हो सके कि पृथिवी माता की गोद में जैसे यह मजबूत तथा दृढ़ पत्थर है इसी प्रकार की मजबूत तथा दृढ़ सन्तान इसकी भी गोद में होनी चाहिए । इस मन्त्र द्वारा विवाह में “शिलारोहण” की पद्धति पर भी प्रकाश पड़ता है ।

तू ने भी इस पत्थर के सदृश दृढ़ सन्तान उत्पन्न करनी है। और ऐसी दृढ़ सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही तेरे गर्भाशय में मैं गर्भाधान करता हूँ। वैदिक साहित्य में आदर्श-शरीर की उपमा पत्थर के साथ दी जाती है। शरीर का पतला या मोटा होना स्वास्थ्य की निशानी नहीं है। अपितु शरीर का मजबूत होना, कठोर होना, स्वास्थ्य की निशानी है। वेद में शरीर की इस उपमा को निम्नलिखित शब्दों द्वारा सूचित किया है। यथा:—

“अश्मानं तन्वं कृधि” (अथर्व० १।२।२), तथा “अश्मा भवतु ते तनूः” (अथर्व० २।१३।४)।

इसका अर्थ यह है कि “तू अपने शरीर को अश्मा अर्थात् पत्थर बना” तथा “तेरा शरीर पत्थर हो।” पत्थर दृष्टान्त है मजबूती का।

कठोर-शरीर स्वस्थ हुआ करता है, पिल्पिला शरीर स्वस्थ नहीं होता। कठोर शरीर स्वस्थ होता हुआ सुखकारी होता है। नरम शरीर वाली कमजोर सन्तानें न स्वयं सुख पा सकती हैं और न माता पिता को ही सुखी बनाती हैं। अन्य भाष्यकारों ने “स्योनम्” पद “अश्मानम्” पद का विशेषण माना है। इसमें यह समझना कठिन है कि पत्थर सुखकारी कैसे हुआ करता है? यदि “अश्मानम्” पद को पुत्र का रूपक मान लिया जाय तो “स्योनम्” विशेषण बहुत रुचिकर प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में “स्योनमश्मानम्” का अर्थ होगा “सुखी या सुखदायी मजबूत सन्तान”।

पति, गर्भाधान के समय तथा तदनन्तर, कितना भी चाहे कि उसकी सन्तान स्वस्थ हो, उसे अपने उद्देश्य में पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती, यदि उसकी पत्नी इस आदर्श को खुशी से अपना नहीं

लेती और इस उद्देश्य पर आस्था अर्थात् दृढ़ निश्चय या दृढ़ संकल्प नहीं कर लेती। इस लिए इस सम्बन्ध में आस्था करने का वर्णन इस मन्त्र में “आतिष्ठ” पद द्वारा किया गया है।

पत्नी को यह भी कहा गया है कि तू अपने “वर्चस्” अर्थात् कान्ति, तेज, तथा ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रख कर इस उद्देश्य का मन से अनुमोदन कर। तेज तथा ब्रह्मचर्य से हीन माता-पिता मजबूत तथा स्वस्थ सन्तान नहीं उत्पन्न कर सकते। इस लिए माता-पिता को चाहिए कि वे गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए अपने शारीरिक तेज को भी बनाए रखें।

सन्तान को उत्पन्न करते २ माता के शरीर का बल दिनों-दिन क्षीण होता जाता है। परिणाम में उसकी आयु का छोटा हो जाना सम्भव है। अतः माता की दीर्घ आयु के लिए, माता तथा उसके पति को, विशेष रूप से चिन्ता होनी चाहिए। यदि माता अपने वर्चस् बनाए रखने की ओर ध्यान देगी तो परमात्मा के नियमों से उसकी आयु अवश्य दीर्घ होगी। साथ ही इसकी दीर्घ-आयु का एक उपाय भी “सविता” पद द्वारा दर्शाया गया है। सविता का अर्थ सूर्य भी होता है। सूर्य के प्रकाश तथा ताप का सेवन भी आयु को दीर्घ बनाता है। जिन घरों में सूर्य की किरणों का प्रवेश नहीं वे घर कभी स्वास्थ्यकारी नहीं हो सकते। इस लिए दीर्घ आयु के निमित्त सवितृ-सेवन अर्थात् सूर्य-सेवन का भी उपदेश इस मन्त्र में किया गया है।

आठवां प्रकरण

पाणिग्रहण तथा पत्नी-आश्वासन

(४८) येनाग्निस्स्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम् ।

तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया

च धनेन च ॥

(अर्थ ० १४।१।४८)

(येन) जिस उद्देश्य से (अग्निः) अग्निमय सूर्य ने (अस्याः) इस (भूम्याः) भूमि के (दक्षिणम्) दाहिने (हस्तम्) हाथ को (जग्राह) ग्रहण किया है, (तेन) उस उद्देश्य से हे पत्नी ! (ते) तेरे (हस्तम्) दाहिने हाथ का (गृह्णामि) मैं ग्रहण करता हूँ, (मया) मेरे (सह) साथ वर्तमान तू (मा व्यथिष्ठाः) व्यथा को प्राप्त न हो, (च) और (प्रजया) प्रजा की दृष्टि से (च) और (धनेन) धन की दृष्टि से भी तू व्यथा को प्राप्त न हो ।

इस मन्त्र में पहिले आधिदैविक पाणिग्रहण का वर्णन किया है और पीछे मानुष पाणिग्रहण का वर्णन हुआ है ।

आधिदैविक पाणिग्रहण में अग्नि ने भूमि का पाणिग्रहण किया है । वेदों में सूर्य का पति-रूप से और भूमि का पत्नी-रूप से वर्णन मिलता है । अथर्व० १४।२।७१, तथा इस पुस्तक की मन्त्र सं० १३५ में “यौरहं पृथिवी त्वम्” द्वारा पति को युलोक रूप अर्थात् सूर्य-रूप में वर्णित किया है तथा पत्नी को पृथिवी रूप में । पाणिग्रहण के इस मन्त्र में जिस अग्नि का वर्णन हुआ है वह अग्निमय-सूर्य

है। तभी इस पुस्तक की मन्त्र सं० ४८ तथा मन्त्र सं० १३५ में समन्वय हो सकता है।

मन्त्र में लिखा है कि आधिदैविक पाणिग्रहण में अग्नि अर्थात् सूर्य ने भूमि के दाहिने हाथ का ग्रहण किया है। दाहिने हाथ के ग्रहण का क्या अभिप्राय है इसे समझने के लिए हमें इस पुस्तक की मन्त्र सं० १३ पर पुनर्विचार करना चाहिए।

मन्त्र सं० १३ में लिखा है कि “फल्गुनीषु व्युह्यते” अर्थात् फाल्गुन मास में विवाह होना चाहिए। मनुष्यों के विवाह की कल्पना आधिदैविक विवाह की कल्पना पर आश्रित है। आधिदैविक दृष्टि में भी सूर्य-रूपी पति का भूमि-रूपी पत्नी के साथ विवाह फाल्गुन मास में माना गया है। फाल्गुन-काल वसन्त ऋतु का वैदिक काल है। वसन्त-काल में सूर्य, पृथिवी की भूमध्य रेखा को लांघ कर, उत्तर दिशा की ओर गति करने लगता है। वैदिक कल्पना में भूमध्य रेखा के उत्तर के भाग में पृथिवी-माता का दाहिना हाथ माना गया है, जिसका पाणिग्रहण वसन्तकाल में सूर्य करता है। इसी आधिदैविक-पाणिग्रहण के आधार पर मानुष-पाणिग्रहण भी फाल्गुन मास में माना गया है।

सूर्य द्वारा पाणिग्रहण के कारण पृथिवी अपने नियम पर व्यवस्थित है। सूर्य का आश्रय यदि पृथिवी को न मिले तो पृथिवी और पृथिवीवासी अत्यन्त दारुण व्यथा को प्राप्त हो जायें, पृथिवी नष्टभ्रष्ट हो जाय। देखो मन्त्र (मा व्यथिष्ठा मया सह)।

सूर्य पति के कारण पृथिवी व्यथा को प्राप्त नहीं होती। साथ ही पृथिवी इस सूर्यपति के सम्बन्ध से ही प्रजा और धन को प्राप्त हो रही है। पृथिवी पर जितनी और जितने प्रकार की, प्राणिजगत्-तथा-ओषधिजगत् की, उत्पत्तियाँ हो रही हैं, उनका मूलकारण, उसका पति सूर्य ही है। इसी सूर्यपति द्वारा पृथिवी को ये सन्तानें मिली हैं।

पृथिवी की भूमध्यरेखा के दक्षिणभाग में तो लगभग समुद्र ही है और उत्तरभाग में भूभाग है। पृथिवी की लगभग सभी प्रजा अर्थात् सन्तानें पृथिवी के उत्तरभाग में पैदा होतीं तथा रहती हैं। सूर्य जब भूमध्य-रेखा से उत्तर की ओर जाने लगता है तब इस का ताप और प्रकाश उत्तर की ओर अधिकाधिक होने लगता है। यह पृथिवी रूपी पत्नी को, ताप-और-प्रकाश रूपी शक्ति का, दान करने लगता है, कुछ काल पश्चात् सूर्य वर्षारूपी शक्ति का भी दान पृथिवी के प्रति करने लगता है। पृथिवी ताप-प्रकाश-वर्षा रूपी शक्ति का दान प्राप्त कर सन्तानों को पैदा करती है।

जैसे सूर्यपति द्वारा पृथिवी को सन्तानों की प्राप्ति होती है वैसे ही सूर्यपति के द्वारा पृथिवी को धन भी मिल रहा है। अन्न-अनाज, फल, वनस्पतियाँ, ओषधियाँ तथा खानों की सम्पत्ति — यह सब कुछ धन, पृथिवी को, सूर्य द्वारा मिल रहा है।

इस प्रकार सूर्यपति को पाकर पृथिवी न तो सामान्य व्यथाओं को प्राप्त होती है और न सन्तानाभाव तथा धनाभाव की व्यथा को अनुभव करती है।

इस आधिदैविक पाणिग्रहण के आधार पर मानुष-पाणिग्रहण की विधि बनाई गई है। मानुष-पाणिग्रहण में वर अपनी वधू के दाहिने हाथ का ग्रहण अपने हाथों द्वारा करता है। और उस उद्देश से करता है जिस उद्देश से कि अग्निमयसूर्य ने पृथिवी का पाणिग्रहण किया है। सूर्य और पृथिवी के पाणिग्रहण में कामुकता, विषयभोग-तृष्णा तथा इन्द्रियतृप्ति को बिल्कुल स्थान नहीं। इस पाणिग्रहण के मुख्य उद्देश हैं, (१) पृथिवी को किसी प्रकार की व्यथा न होने देना, (२) पृथिवी को सन्तानाभाव की व्यथा न होने देना, (३) इसे धनाभाव की व्यथा न होने देना।

इसी प्रकार मानुष-विवाह के पाणिग्रहण में भी कामुकता, विषयभोगतृष्णा तथा इन्द्रियतृप्ति को मुख्य उद्देश न समझना चाहिये, अपितु इन्हें गौण समझ कर, विवाह के पश्चात् पत्नी को हर एक व्यथा से बचाना, उसे स्वस्थ तथा उत्तम सन्तानों की माता बनाना, तथा गृहस्थोपयोगी धन द्वारा उसे विभूषित करना — ये पाणिग्रहण के मुख्य उद्देश समझने चाहिये ।

पाणिग्रहण तथा पति के गुण

(४६) देवस्ते सविता हस्तं गृह्णातु

सोमो राजा सुप्रजसं कृणोतु ।

अग्निः सुभगां जातवेदाः

पत्ये पत्नीं जरदण्टि कृणोतु ॥

(अथर्व० १४।१।४६)

(देवः) दिव्यगुणों वाला (सविता) तथा प्रेरणा-शक्ति वाला पति (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ का गृह्णातु) ग्रहण करे, (सोमः) वीर्यशक्ति वाला वह (राजा) पतिरूप राजा (सुप्रजसम्) तुझे उत्तम प्रजा से सम्पन्न (कृणोतु) करे, (अग्निः) आगे बढ़ने वाला (जातवेदाः)

- १ मन्त्र संख्या ८ में अग्नि का वर्णन हुआ है वहां अग्नि द्वारा रज-शक्ति का ग्रहण किया गया है । ८ वें मन्त्र के साथ समन्वय के निमित्त इस मन्त्र का निम्नलिखित अर्थ भी सम्भव है । “सविता अर्थात् तेरा पिता हे वधू ! तेरे हाथ को (कन्यादान या लाजाहोम के सम्य) सहारा दे. सोमराजा अर्थात् तेरे भावी पति की वीर्य-शक्ति तुझे उत्तम सन्तान देवे तेरे सब उत्पन्न होने वाले बच्चों में जो अंश रूप में विद्यमान होगा ऐसा तेरा रज तुझे सुभगा बना कर

तथा ज्ञान और धन से सम्पन्न पति (पत्ये) अपने लिए (पत्नीम्) तुम्हें पत्नी को (सुभगाम्) उत्तम भगों से सम्पन्न तथा (जरदष्टिम्) जरा-वस्था तक पहुँचने वाली (कृणोतु) करे।

इस मन्त्र में पति अपनी बधू को निम्नलिखित आश्वासन देता है:-
पाणिग्रहण करने वाला तेरा यह पति दिव्य गुणों वाला है,
राक्षसीय या आसुरीय गुणों वाला नहीं।

यह प्रेरणा-शक्ति वाला है। गृह जीवन में यह मुख्य प्रेरक-शक्ति है। पति घर का सम्राट् है और पत्नी सम्राज्ञी है। अतः गृह-जीवन में प्रेरणा-शक्ति का केन्द्र पति है।

यह वीर्यवान् है निर्वीर्य नहीं। अतः निश्चय रख कि शक्ति से सम्पन्न यह पति तुम्हें अवश्य उत्तम प्रजा से सम्पन्न कर सकता है।

यह अग्रणी है। प्रत्येक कार्य में आगे बढ़ने वाला है, अग्रगण्य है, उत्साह-हीन या कायर नहीं है।

यह धन तथा ज्ञान से सम्पन्न है। यह तुम्हें उत्तम ऐश्वर्य, उत्तम धर्म, उत्तम यश, उत्तम श्री, उत्तम ज्ञान तथा उत्तम वैराग्य से सम्पन्न कर सकता है, तुम्हें सुभगा बना सकता है। तथा उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न पति सदा तेरे दीर्घ जीवन के लिए कोशिश करेगा।

पति के निमित्त तय्यार करे। और तुम्हें जरावस्था तक पहुँचने के समर्थ बनावे”।

पाणिग्रहण में साक्षी

(५०) गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं

मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।

भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं

त्वादुर्मर्हिपत्याय देवाः ॥

(अथर्व० १४।१।५०)

(सौभगत्वाय) हे पत्नी ! अपने सौभाग्य के लिये (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ का (गृह्णामि) मैं ग्रहण करता हूँ, (यथा) ताकि (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (जरदष्टिः) जरावस्था तक पहुँचने वाली (असः) तू हो, (भगः) मैं भग सम्पन्न हूँ, (अर्यमा) श्रेष्ठ मनवाला अथवा श्रेष्ठों का मान करनेवाला हूँ, (सविता) उत्पादन-शक्ति से सम्पन्न हूँ, (पुरन्धिः) गृह का धारण तथा पोषण करने वाला हूँ अथवा बहुत बुद्धिवाला हूँ । (देवाः) इन सब देवों अर्थात् दिव्यगुणों अथवा विद्वत्समाज ने (गार्हपत्याय) गृहस्थाश्रम के कर्मों के अनुष्ठान के लिये (मह्यम्) मुझे (त्वा) तुझको (अदुः) दिया है ।

पत्नी को पति कहता है कि मैं अपने सौभाग्य के लिये तेरा पाणिग्रहण करता हूँ । बिना पत्नी के पुरुष में सौभाग्य नहीं आता, पति उत्तम भगों का निवास नहीं बनता । वर्त्तमान रीन्निरिवाज में पति के होते पत्नी सौभाग्यवती कही जाती है । यह बात है भी सत्य । वेद कहता है कि पत्नी के बिना पति भी सौभाग्यवान् नहीं हो सकता ।

पति कहता है कि हे पत्नी ! तू जरावस्था तक मेरे साथ रह

अर्थात् मेरा तुम्हारा वियोग न हो। जरावस्था के आने पर वानप्रस्थ या संन्यास के लिये तो वियोग सम्भव ही है।

इस मन्त्र में पति, अपने गुणों के सम्बन्ध में, पत्नी को अपने मुख से विश्वास दिलाता है और कहता है कि मैं भगों से सम्पन्न हूँ, आर्यमन वाला हूँ, अनायमन वाला नहीं, उत्पादन-शक्ति से सम्पन्न हूँ, निर्बल तथा नपुंसक नहीं।

पत्नी के बिना पति गृहस्थाश्रम के धर्मकृत्यों के अनुष्ठान के योग्य नहीं होता, क्योंकि गृहस्थाश्रम के धर्मकृत्य पति और पत्नी — उन दोनों के होने पर ही सम्भव हैं। पंचमहायज्ञ, तथा दर्शपौर्णमास आदि कर्म, और अन्य प्रकार के सत्कर्म, पति-और-पत्नी के परस्पर सहयोग द्वारा ही सम्भव होते हैं।

अन्त में पति कहता है कि इन देवों ने जो कि हमारे विवाह में साक्षी हैं और जो कि इस विवाह की वेदी में बैठे हुए हैं—मेरे प्रति तुम्हें दिया है। यहाँ देवों से अभिप्राय उन व्यक्तियों का है जो कि विवाह-कृत्य में शामिल हुए हैं।

पाणिग्रहण तथा धार्मिकसम्बन्ध

(५१) भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत् ।

पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥

(अथर्व० १४/१/५१)

(भगः) हे पत्नी ! भगों से सम्पन्न मैं पति (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ का (अग्रहीत्) ग्रहण कर चुका हूँ; (सविता) उत्पादन-शक्ति से सम्पन्न मैं पति (हस्तम्) तेरे हाथ का (अग्रहीत्) ग्रहण कर चुका हूँ; (धर्मणा) धर्म से (त्वम्) तू (पत्नी) मेरी पत्नी (असि) है, (अहम्) और मैं भी धर्म में ही (तव) तेरा (गृहपतिः) गृहपति हूँ।

पति कहता है कि मैं ६ भगों अर्थात् ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न हूँ । तथा मैं उत्पादन-शक्ति से भी सम्पन्न हूँ । तथा धर्मपूर्वक तू मेरी धर्म-पत्नी है और धर्मपूर्वक ही मैं तेरा पति हूँ । अर्थात् हमारे गृहस्थ जीवनो में अधर्म के अंश के आने पर हमारा पति-पत्नी सम्बन्ध टूट भी सकता है । इसलिये हम दोनों यत्न करें कि हमारे जीवन धर्म-मार्ग से च्युत न हों ।

पति अपने आप को गृहपति कहता हुआ पत्नी को यह विश्वास भी दिलाता है कि मैं घर का रक्षक हूँगा । तेरा, तेरी सन्तानों का, तथा गृह के अन्य वासियों का मैं रक्षक बनूँगा । कोई भी गृहवासी मेरे होते अपने आप को अरक्षित अनुभव न करेगा ।

पत्नी का भरण-पोषण

(५२) ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।

मया पत्या प्रजावति संजीव श दः शतम् ॥

(वथर्व० १४।१।५२)

(इयम्) यह पत्नी (मम) मेरी (पोष्या) पोषणीया तथा भरणणीया (अस्तु) हो, (मह्यम्) मेरे प्रसि (त्वा) तुझे (बृहस्पतिः^१) वेदों के विद्वान् पुरोहित^१ ने या परमात्मा^१ ने (अदात्) दिया है, (प्रजावति) हे उत्तम सन्तानोंवाली पत्नी ! (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (शतम्) सौ (शरदः) सालों तक (संजीव) मिलकर तू जीवन व्यतीतकर ।

१ “बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः” (ऐ० ब्रा० ८।२६) ।

“स एष बृहस्पतिसवो । बृहस्पतिरकामयत देवानां पुरोधां (पौरो-हित्यम्) गच्छेयमिति । स एतेनायजत स देवानां पुरोधामगच्छत्” ।

(तां० ब्रा० १७।१।४) ।

२ बृहस्पतिः = बड़ी २ शक्तियों का भी जो पति है वह परमात्मा ।

इस मन्त्र द्वारा पति पहले विवाह मण्डप में बैठे, देवों के प्रति और पुनः पत्नी के प्रति निम्नलिखित स्वीकृतियां देता है :—

पति, देवों अर्थात् विवाह के साक्षात्भूत देवों और देवियों के प्रति कहता है कि यह पत्नी मेरी पोष्या है, भरणीया है। मैं कभी भी अपने इस कर्तव्य को न भूलूंगा और सदैव इसका भरण-पोषण करता रहूंगा।

पत्नी के प्रति पति कहता है कि हे पत्नी ! तुझे मेरे प्रति बृहस्पति ने दिया है। यहाँ बृहस्पति से अभिप्राय पुरोहित का पृतीत होता है, जो कि बृहती अर्थात् वेदवाणी का पति होता है। यह बृहस्पति ही वेदमन्त्रों द्वारा पति और पत्नी के सम्बन्ध को जोड़ता है। अथवा पति और पत्नी के सम्बन्ध के जोड़ने में परमात्मा का हाथ है, यह भी अभिप्राय यहाँ समझा जा सकता है। इस अभिप्राय में पति और पत्नी के सम्बन्ध को परस्पर निभाते रहने की भावना जागृत होती है। क्योंकि जिस सम्बन्ध का परमात्मा ने बनाया है उस सम्बन्ध को बनाए रखना चाहिए, यह भाव आस्तिक के हृदय में जागृत अवश्य हो जाता है।

साथ ही पति यह भी कहता है कि हे पत्नी ! तू मुझ द्वारा उत्तम सन्तानों को प्राप्त कर और मेरे साथ अपने सौ वर्षों के जीवन को व्यतीत कर।

मन्त्र के पिछले आधे भाग का अर्थ निम्न प्रकार से भी किया जा सकता है :—

“मुझ पति द्वारा हे पूजा से सम्पन्न पत्नी ! तू सौ वर्षों तक जीती रह”। इस अर्थ में “मया पत्या” का सम्बन्ध “पूजावति” के साथ है। “सं जोव शरदः शतम्” के साथ नहीं। इस अर्थ में दो भाव पृतीत होते हैं। एक यह कि तू सन्तानों को मुझ पति से प्राप्त कर, मुझ से भिन्न किसी व्यक्ति से सन्तानों को प्राप्त न कर। और

दूसरा भाव यह कि तू गृहस्थ में अपने जीवन को ऐसे संयम में रख ताकि तेरी आयु १०० वर्षों तक की हो सके ।

पत्नी तथा सन्तानों के वस्त्र

(५३) त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं

बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम् ।

तेनेमां नारीं सविता भगश्च

सूर्यामिव परिधत्तां प्रजया ॥

(अथर्व० १४।१।५३)

(बृहस्पतेः) पुरोहित^१ की अथवा परमात्मा की (कवीनाम्) और विद्वानों की (प्रशिषा) आज्ञा द्वारा (त्वष्टा) कारीगर ने (शुभे) शोभा के लिए जिस (कम्) सुखदायी (वासः) वस्त्र का (व्यदधात्) विधान किया है, निर्माण किया है । (तेन) उस वस्त्र द्वारा (सविता) कन्या का पिता (भगश्च) और भगों से सम्पन्न पति अर्थात् ये दोनों (सूर्यामिव^२) पूर्वकाल की अर्थात् अनादि काल की आदित्य-ब्रह्मचारि-

१ देखो मन्त्रसंख्या ५२, टिप्पणी नं० १ । परमात्मा ने वेदों में स्थान २ पर पत्नी के वस्त्र आदि का वर्णन किया है । तदनुसार तथा पुरोहित और विद्वानों की आज्ञा के अनुसार कारीगरों को वस्त्र निर्माण करने चाहिये ।

२ सूर्यामिव :— इस शब्द का अन्वय “परिधत्तां” के साथ न मान कर सीधा अन्वय “नारीम्” के साथ भी किया जा सकता है । ऊपर दिये अर्थ में इसका अन्वय “परिधत्ताम्” के साथ माना है । “सूर्यामिव” का अन्वय “नारीम्” के साथ मानने पर आधि-

रिणियों की न्याईं वर्तमान (इमाम्) इस (नाराम्) नारी को (प्रजया) उसकी प्रजा समेत (परिधत्ताम्) ढांपा कर अर्थात् ये दानों प्रजा समेत इस नारी को वस्त्र आदि दिया कर ।

१- वधू पक्ष और वरपक्ष के पुरोहितों तथा विद्वानों की सम्मति के अनुसार तथा वेदों में लिखे प्रकार के अनुसार वधू के कपड़ों को बनाने की आज्ञा कारीगरों को देनी चाहिए ।

२- वधू का पिता तथा उसका पत दोनों ही वधू के लिए कपड़े आदि बनवाएँ ।

३- वधू के वस्त्र सुन्दर तथा शोभाजनक होने चाहियें । साथ ही ऐसे भी होना चाहियें जिनके कि पहिनने से शरीर सुख अनुभव करे ।

४- पूजा अर्थात् सन्तानों को भी, सन्तानों का नाना (पत्नी

दैविक सूर्या अर्थात् “भूमि” की न्याईं वर्तमान या “सूर्यकिरणों की न्याईं” कान्ति वाली इस नारी को—ऐसा अर्थ होगा ।

इसका एक और भाव भी यहां प्रतीत होता है । वह यह कि इन मन्त्रों में आदित्य और सूर्या के विवाह का वर्णन मुख्य रूप में किया गया है, अर्थात् आदित्य-ब्रह्मचारी और आदित्य-ब्रह्मचारिणी के आदर्श विवाह का वर्णन किया गया है । इससे यह न समझना चाहिये कि आदित्यकोटि के ब्रह्मचारियों तथा ब्रह्मचारिणियों के अतिरिक्त ब्रह्मचारियों का विवाह वेदाभिमत नहीं है । इन विवाहों को भी वेदानुकूल दर्शने के लिये इस मन्त्र में सूर्या का दृष्टान्तरूप में वर्णन किया गया है । अर्थात् वैदिक-पद्धति के अनुसार जिस प्रकार सूर्या के प्रति उसके पितृकुल तथा पतिकुल के कर्तव्य दर्शाए गए हैं, वैसे ही असूर्या-कोटि की ब्रह्मचारिणियों के विवाह में भी इनके प्रति पितृकुल तथा पतिकुल के कर्तव्य समझने चाहियें ।

का पिता) तथा सन्तानों का पिता दोनों ही कपड़े आदि बनवा कर देते रहें। सन्तानों के कपड़े भी शोभाजनक तथा सुखदायी होने चाहियें।

नारी-स्वास्थ्य के साधन

(५४) इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा

भगो अश्विनोभा ।

बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु ॥

(अथर्व० १४।१।५४)

(इन्द्राग्नी) विद्युत् और आग, (द्यावा पृथिवी) विस्तृत आकाश और विस्तृत पृथिवी, (मातरिश्वा) खुली वायु, (मित्रावरुणा) दिन और रात, (भगः) ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य, (उभा अश्विना) दोनों अश्वी अर्थात् सूर्य और चन्द्र, (बृहस्पतिः) पुरोहित, (मरुतः) मानसून वायुएं, (ब्रह्म) वैदिक ज्ञान, (सोमः) वीर्यशक्ति— (इमाम्) इस (नारीम्) नारी को (प्रजया) प्रजा समेत, (वर्धयन्तु) बढ़ावें ।

इस मन्त्र में, प्रजा समेत, नारी की वृद्धि का वर्णन है। एक सन्तान के उत्पादन में ही आज कल नारी अपने स्वास्थ्य को,—जाकि शरीर की अमूल्य सम्पत्ति है—खो बैठती है। इस मन्त्र में दर्शाया गया है कि निम्नलिखित साधनों द्वारा नारी तथा उसकी प्रजा बढ़ती रहती है, वह ह्रास को प्राप्त नहीं होने पाती।

स्वास्थ्य के लिए पहिला साधन है विद्युत्। विद्युत् द्वारा चिकित्सा करने से, तथा विद्युत् के अन्य गृह्य प्रयोगों—और—उपयोगों द्वारा नारी तथा उसकी सन्तानों की वृद्धि होती रहती है।

दूसरा साधन है अग्नि । अग्निहोत्र और अग्नि में ऋतुयागों द्वारा, तथा घर में गार्हपत्याग्नि के सेवन द्वारा घर तथा बाहर का वायुमण्डल शुद्ध हो कर स्वास्थ्य की वृद्धि करता है ।

तीसरा साधन है आकाश । घर में आकाश के पर्याप्त होने से, अर्थात् घर के पर्याप्त खुला होने से, तथा घर की छतों के ऊँचा होने से भी स्वास्थ्यवर्धन होता है ।

चौथा साधन है पृथिवी । स्वास्थ्यवर्धन के लिए घर के फर्श तथा आङ्गन खुले तथा विस्तृत होने चाहिए । तथा घरों को स्वास्थ्यकारी भूभाग पर बनाना चाहिए ।

पाँचवाँ साधन है मातरिस्वा अर्थात् वायु । घर में शुद्ध वायु के खुला आने जाने से स्वास्थ्य की वृद्धि होती है ।

छठा साधन है दिन और रात का नियमपूर्वक होना । जहाँ लम्बे दिन या लम्बी रातें होती हैं, अर्थात् जैसे कई २ दिनों का एक २ दिन या कई २ रातों की एक २ रात, जैसे कि उत्तरध्रुव तथा दक्षिण-ध्रुव आदि स्थानों में होता है,—वहाँ भी स्वास्थ्य बिगड़ जाता है ।

सातवाँ साधन है भग । ऐश्वर्य की विद्यमानता से भी स्वास्थ्य उत्तम होता है । निधनता के कारण गृहस्थ के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है । इसी प्रकार धर्म, यश, श्री, ज्ञान, और वैराग्यमय जीवन का भी स्वास्थ्य पर उत्तम प्रभाव पड़ता है ।

सूर्य और चन्द्र के खुले प्रकाश के सेवन से भी स्वास्थ्य उत्तम हो जाता है ।

इसी प्रकार पुरोहित-प्रथा का भी स्वास्थ्य पर उत्तम प्रभाव पड़ता है । पुरोहितों द्वारा घर में यदि धार्मिक कृत्य होते रहें, तो भी स्वास्थ्य बढ़ता है ।

इसी प्रकार मानसून आदि ऋतु-परिवर्तनों द्वारा भी स्वास्थ्य उत्तम हो जाता है। मानसून वायु चित्त को प्रसन्न तथा आह्लादित करती है, ग्रीष्मऋतु की गरमी को कम करती है, हरियावल को पैदा करती है,—ये सब गृहवासियों के स्वास्थ्य के बढ़ाने वाले होते हैं।

इसी प्रकार ब्रह्म अर्थात् वैदिक ज्ञान या वैदिक स्वाध्याय भी स्वास्थ्य-वृद्धि का कारण होता है। इससे मनुष्य-जीवन तथा अन्य आवश्यक सिद्धान्तों के सम्बन्ध के नियमों का परिज्ञान होता रहता है।

तथा सोम अर्थात् गृहस्थ में भी वीर्य-शक्ति की रक्षा से स्वास्थ्य उत्तम रहता है।

वधू के केशों को सजाना

(५५) बृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायाः

शीर्षे केशां अकल्पयत् ।

तेनेमामश्विना नारीं

पत्ये सं शोभयाममि ॥

(अथर्व० १४।१।५५)

(प्रथमः) प्रथम (बृहस्पतिः) पुरोहित ने (सूर्यायाः^१) इस आदित्य-ब्रह्मचारिणी के, जो कि पहिले बालिकावस्था में थी, शीर्षे

- १ इस मन्त्र में “सूर्या” के केशों के छेदन तथा सजाने का वर्णन है। आधिदैविक जगत् में जो सूर्या है, अर्थात् भूमि या सूर्य की ज्योति है, उसके सिर के केश न तो काटे जा सकते हैं और न सजाए जा सकते हैं। इसलिये स्पष्ट है कि इस मन्त्र में मनुष्य-देहधारी स्त्री के केशों के छेदन तथा सजाने का वर्णन है। अतः “सूर्या” का अर्थ आधिभौतिक दृष्टि में “मनुष्य-ब्रह्मचारिणी” भी है यह अत्यन्त स्पष्ट है।

सिर में (केशान्) केशों को (अकल्पयत्) सजाया है; (तेन) उन केशों द्वारा (अश्विना) हे वर के माता तथा पिता ! (इमाम्) इस (नारीम्) नारी को (पत्ये) पति के लिए (संशोभयामसि) हम उत्तम प्रकार से शोभासम्पन्न करते हैं ।

विवाह के समय पुरोहित तथा अन्य कार्यकर्ता लोग कन्या के केश-पाश को सँवार कर कन्या की शोभा बढ़ावें, ताकि पति का उस पर अनुराग हो सके ।

वधू की रूपसम्पत् तथा मननशक्ति

(५६) इदं तद्रूपं यदवस्त योषा

जायां जिज्ञासे मनसा चरन्तीम् ।

तामन्वर्तिष्ये सखिभिर्नवगैः

क इमान् विद्वान् वि चचर्त पाशान् ॥

(अथर्थं० १४।१।५६)

(तद्) वह (इदम्) यही (रूपम्) रूप-सौन्दर्य है (यद्) जिसे कि (योषा) स्त्री ने (अवस्त) वस्त्र आदि द्वारा धारण किया है, (मनसा) मन से (चरन्तीम्) विचरने वाली, विचार करने वाली, (जायाम्) जाया अर्थात् पत्नी का (जिज्ञासे) मैं जिज्ञासु हूँ, (ताम्) उसके (अनु^१) अनुकूल (नवगैः^२) प्रशंसनीय चाल-चलन वाले (सखिभिः) सखाओं समेत (अन्तिष्ये^१) मैं चलूँगा, (विद्वान्) विद्वान्

१ अन्वर्तिष्ये=अनुवर्तन करूँगा, अनुकूल वतूँगा, अनुकूल रहूँगा ।

२ नवगैः = नव (नू स्तुतौ) + गु (गति, व्यवहार)=प्रशंसनीय गतियों वाले, प्रशंसनीय व्यवहारों वाले ।

(कः^१) प्रजापति ने (इमान्) इन प्रेम-पाशों को विचर्त^२) ग्रथा है, दृढ़ बद्ध किया है।

केश-सम्पत् द्वारा, तथा शोभाजनक वस्त्रों द्वारा, उत्पन्न हुए नारी के रूप-सौन्दर्य का ख्याल कर पति कहता है कि यह सम्पत् भी एक वास्तविक सम्पत् है जिसका कि नारो में होना आवश्यक है।

परन्तु केवल इसी एक शारीरिक सम्पत् द्वारा ही गृहस्थ-जीवन सुखमय नहीं बन सकता। इसके लिए यह आवश्यक है कि पत्नी में मानसिक विचार करने का भी अभ्यास हो, वह मननशील तथा विचारशील भी हो।

ऐसी विचारशील पत्नी की खोज पति को करनी चाहिए। वेद के अनुसार पति ऐसी ही पत्नी का जिज्ञासु है। पति कहता है कि ऐसी पत्नी का तो मैं अनुवर्तन भी करूंगा, उसके अनुकूल चलूंगा। क्योंकि विचारशील पत्नी अपने हार्दिक प्रेम तथा उत्तम विचारों के कारण पति को अपने अनुकूल बना लेती है।

पत्नी को उसके सामाजिक-जीवन से वञ्चित नहीं रखना चाहिए। पति के मित्रों के साथ भी पत्नी का परिचय होना चाहिये। पति के ये मित्र भी उसकी सती-साध्वी पत्नी का मान करते हैं और

१ क = प्रजापति = परमात्मा। “कः” शब्द “किम्” से भी बनता है जिसका कि अर्थ है “क्या”। पहले इस मन्त्र में “कः” द्वारा प्रश्न किया गया है कि “किसने ये प्रेम-पाश दृढ़ किये हैं”। फिर इसी “कः” द्वारा उत्तर दिया है कि प्रजापति ने ये प्रेम-पाश दृढ़ किये हैं।

२ चतुर्ती हिंसाग्रन्थनयोः (तुदादिगण)। यहां ग्रन्थन अर्थ लिया गया है। ग्रन्थन = गाँठना।

ऐसी पत्नी को सत्कार के लिए योग्यपात्र समझते हैं, जिससे कि सामाजिक-जीवन में किसी ओर से भी पतन की सम्भावना नहीं रहती।

पति को ऐसे ही सखा बनाना चाहिये जो कि सदाचारी हों। दुराचारी लोगों को सखा बनाने से दुराचार-पक्ष में फँसने का भय हो जाता है। और न ऐसे दुराचारी सखाओं का परिचय ही अपनी पत्नी के साथ कराना चाहिये।

अन्त में पति, प्रेम-बन्धनों की स्वाभाविकता की ओर दृष्टिपात करता है और इन प्रेम-बन्धनों की गरिमा को अनुभव कर कहता है कि वास्तव में इन प्रेम-बन्धनों का बाँधने वाला परमात्मा है जो कि विद्वान् है, महत्तत्त्ववेत्ता है। पति अनुभव करता है कि परमात्मा ने इन प्रेम-बन्धनों को बिष्प्रयोजन नहीं बनाया। इन प्रेम-बन्धनों के बिना गृहस्थजीवन तथा सामाजिकजीवन निःसार हो जाते हैं। इस लिए गृहस्थ तथा सामाजिक जीवनों में इन प्रेम-बन्धनों का बहुत अधिक महत्व है।

पतिपत्नी का प्रेम-बन्धन

(५७) अहं विष्यामि मयि रूपमस्या

वेददित् पश्यन् मनसः कुलायम् ।

न स्तेयमद्मि मनसादमुच्ये

स्वयं श्रथनानो वरुणस्य पाशान् ॥

(अथर्व० १४।१।२७)

(अहम्) मैं पति (अस्याः) इस पत्नी के (रूपम्, रूप को, स्वरूप को, (मयि) अपने में (विष्यामि) बाँध लेता हूँ, (मनसः) अपने मन का (कुलायम्) घोंसला (वेदत् इत्) इस पत्नी को जानता

। वि+षिञ् (बन्धने) ।

हुआ, (पश्यन्) और देखता हुआ। (स्तेयम्) पत्नी से चुरा कर (न अदमि) मैं कभी नहीं खाता हूँ, (मनसा) मन से (उदमुच्ये) चोरी का खाना मैं छोड़ देता हूँ। (वरुणस्य) श्रेष्ठ परमात्मा के (पाशान्) इन प्रेम-पाशों को, प्रेम-बन्धनों को (स्वयम्) अपने आप (श्रथनानः!) मैं बाँधता हूँ, इन्हें दृढ़बद्ध करता हूँ, इन्हें ढीला नहीं होने देता।

इस मन्त्र में पति, अपनी पत्नी के सम्बन्ध में अपने अभिप्राय को प्रकट करता है। वह कहता है कि :—

पत्नी के इन दो रूपों को— जिनमें से एक शारीरिक है और दूसरा मानसिक, मैं अपने में बाँधता हूँ। इस वर्णन में “बाँधना” शब्द विशेष अभिप्राय रखता है। वह यह कि पति के गुण पत्नी के मन में और पत्नी के गुण पति के मन में गड़ से जाँय, ताकि एक दूसरे की विस्मृति किसी भी अवस्था में न होने पाए।

पति और पत्नी के जीवनो में, एक दूसरे का रूपाकृति तथा गुणों की फोटो सदा खींची रहे, जो कि सच्चे प्रेम की निशानी है और जिससे कि पति और पत्नी एक दूसरे का सदा स्मरण कर अपने जीवनो को उत्तम मार्गों पर डाल सकें।

साथ ही पति इस “बन्धन” के सम्बन्ध में एक युक्ति भी उपस्थित करता है। वह कहता है कि मैं अपने मन का घोंसला इस पत्नी को जान रहा हूँ तथा देख रहा हूँ। घोंसले में पक्षी कैसे आराम और निश्चिन्तता से रहता है। पति कहता है कि मैंने जान लिया है और देख लिया है कि यह पत्नी मेरे मन-रूपी पक्षी का घोंसला है। इस पत्नी-रूपी घोंसले को पाकर मेरा मन-रूपी पक्षी निश्चिन्त हो सकता है। इसीलिये पति विचारशील तथा सौन्दर्य की

१. श्रथन = Tying, binding (आपटे)।

पतिमा रूप अपनी पत्नी को अपने प्रेम का पात्र बनाना चाहता है ।

पति यह भी पूरा करता है कि वह चोरी से कभी भी कुछ न खाएगा । पत्नी और पति का खान-पान सदा इकट्ठा होना चाहिये । पत्नी से छिपकर पति, और पति से छिपकर पत्नी कभी अपना खान-पान न किया करे ।

पति न केवल छिप कर खाए ही न, अपितु, छिप कर खाने पीने का मानसिक विचार भी त्याग दे, अर्थात् अलग होकर खाने का कभी संकल्प तथा ह्याल भी न करे । "मनसोदयुच्ये" का यही अभिप्राय है ।

पति अन्त में कहता है कि इस प्रकार स्वयं-व्रत लेकर मैं गृहस्थ-जीवन में परमात्मा के इन प्रेम-पाशों को अपने हाथों से दृढ़ तथा दृढ़वद्ध करता हूँ, ताकि हमारे अनुराग दिनों-दिन बढ़ते जाँय, और हमारे गृहस्थ-जीवन में विराग, द्वेष तथा उपेक्षा को स्थान न मिल सके ।

पत्नीप्रेम तथा गृहाधिकार

(५८) प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्

येन त्वावधनात् सविता सुशेवाः ।

उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां

कृणामि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु ॥

(अथर्व० १४।१।२८)

(वरुणस्य) श्रेष्ठ परमात्मा के (पाशात्) उस प्रेम-पाश से (त्वा) तुम्हे (प्रमुञ्चामि) मैं प्रमुक्त करता हूँ, छुड़ाता हूँ, (येन) जिस प्रेम-पाश से कि (त्वा) तुम्हे (सुशेवाः) उत्तम कल्याणकारी

(सविता) तेरे उत्पादक पिता ने (अबध्नात्) तुझे बाँधा था ।
 (वधु) हे वधु ! (सहपत्न्यै) पति के साथ रहने वाली जो तू है
 (तुभ्यम्) उसके लिये (उरुम्) विस्तृत (लोकम्) गृहलोक को,
 और (अत्र) इस गृहलोक में (पन्थाम्) आने-जाने के मार्ग को
 (सुगम्) मैं सुगम (कृणोमि) करता हूँ ।

सन्तान के साथ माता-पिता का प्रेम स्वाभाविक होता है । यह प्रेम परमात्मा द्वारा स्वाभाविक बनाया गया है । यह प्रेम परमात्मा का पाश है, बन्धन है, जिसके द्वारा कि गृहस्थ आपस में बँधा रहता है । सभी माता-पिता सन्तान के लिए स्वाभाविक रूप से प्रेम करते हैं । माता-पिता के कल्याणमय हृदय सन्तान पर सदा रहते हैं । यही कारण है कि सन्तानें भी अपने माता-पिता पर अनुराग प्रकट करती हैं । विवाह के अनन्तर कन्या जब पति-गृह में जाती है तब उसे अपने माता-पिता का स्वाभाविक प्रेम बन्धन ढीला करना पड़ता है । इस प्रेम में क्षति की पूर्ति का होना, उसके आनन्दमय जीवन को बनाए रखने के लिए, आवश्यक है ।

पति इस लिए अपनी पत्नी के प्रति कहता है कि कल्याणकारी जिस तेरे पिता ने, परमात्मा के स्वाभाविक प्रेम-पाश द्वारा, तुझ बाँधा हुआ था, उससे अब मैं तुझे मुक्त करता हूँ, छुड़ाता हूँ, और अपन प्रेम-पाश में तुझ बाँधता हूँ ।

पत्नी जब पति के साथ रहने लगे, जब वह पति पर अनुराग प्रकट करने लगे, तब पति अपने गृह को पत्नी के सपुर्द कर दे, और तब से उस गृह के प्रत्येक स्थान में पत्नी का आना जाना निर्बाधित हो जाना चाहिए । पत्नी उस समय स्वामी के गृह की स्वामिनी हो जाती है, और अपने पत्नी-सम्बन्ध के कारण उसे अधिकार प्राप्त हो जाता है जिससे कि वह गृह की प्रत्येक वस्तु पर अपना स्वामित्व अनुभव कर सके ।

बुजुर्गों तथा पति के कर्तव्य

(५६) उद्यच्छध्वम् रक्षो हनाथेर्मा नारीं सुकृते दधात ।

धाता विपश्चित् पतिमस्यै विवेद भगो राजा पुर

एतु प्रजानन् ॥

(अथर्व० १४।१।२६)

(उद्यच्छध्वम्') उद्यम करो, (रक्षः) और राक्षसी-कर्म को (अप हनाथ) मार भगाओ, (इमाम्) इस (नारीम्) नारी को (सुकृते) उत्तम कर्म में (दधात) लगाओ । (विपश्चित्) विद्वान् (धाता) विधाता ने (अस्यै) इस वधू के लिए (पतिम्) पति (विवेद) प्राप्त कराया है । (भगः) ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, और वैराग्य से सम्पन्न (राजा) राजा, अर्थात् इस सम्राज्ञी का सम्राट्, इस रानी का राजा, अर्थात् पति (प्रजानन्) गृहस्थ-धर्म के कर्तव्यपथ को जानता हुआ (पुरः) इस पथ पर आगे २ (एतु) आए, चले ।

गृहस्थ-जीवन में, बुजुर्गों का कर्तव्य है कि वे उद्यमी हों । उनके उद्यमी होने से गृहस्थ में रहने वाले उनसे छोटे भी उद्यमी बनेंगे ।

गृहस्थ में उद्यमी-जीवनों के होने पर गृहस्थ-जीवन में राक्षसी कर्मों का नाश हो जाता है और जीवनों के निरुद्यमी होने पर गृह राक्षसी-कर्मों का निवास स्थान बन जाता है ।

गृहस्थ के बुजुर्गों का कर्तव्य है कि जिस प्रकार वे अपने आप को उत्तम कर्मों में लगावे उसी प्रकार अपने गृह में नवागत इस नारी

को भी, इस नववधू को भी, उत्तम कर्मों में लगावें। अर्थात् इस नववधू को भी वे शिक्षा द्वारा उद्यमी बनावें और अपने राक्षसी भावों तथा राक्षसी कर्मों का नाश करने वाली बनावें।

पति गृहस्थ के कर्तव्य-पथ को जाने और उस पर पति स्वयं पहिले चले। तत्पश्चात् पत्नी को भी उस पर चलने की प्रेरणा करे। गृहस्थ में पति के जीवन का, पत्नी के जीवन पर अधिक प्रभाव पड़ता है। इसीलिए इस मन्त्र में कहा है कि, बुजुर्ग लोग पत्नी को जिस कर्तव्य-पथ पर चलाना चाहते हैं, उस कर्तव्य पथ पर उन्हें इसके पति को पहिले चलाना चाहिए। पति जिस कर्तव्य-पथ पर चलेगा, पत्नी उस पथ पर स्वयमेव चलने लगेगी।

इस मन्त्र में पति को राजा कहा है। पहिले मन्त्रों में पत्नी को 'सम्राज्ञी' कहा है। इस प्रकार गृहस्थ-राज्य में ये दोनों राजा और राणी हैं। गृह की यह राणी अपने राजा की अनुगामिनी बने, तभी जब कि यह राजा सत्पथगामी हो।

इस मन्त्र में यह भी दर्शाया है कि ईश्वर ने इस पत्नी को यह पति प्रदान किया है। वैदिक विवाह-पद्धति में पति और पत्नी के हृदयों में यह भाव बार २ अंकित किया गया है कि पति का पत्नी को मिलना तथा पत्नी का पति को मिलना—इस में परमात्मा का हाथ है अतः वे दोनों परस्पर प्रेम को बढ़ाते हुए गृहस्थ-धर्म को पूरा करें, एक दूसरे से पृथक् होने तथा परस्पर सम्बन्धविच्छेद करने की ओर कभी न सोचें।

चार पुरुषार्थ और चार आश्रम

(६०) भगस्ततश्च चतुरः पादान्

भगस्ततश्च चत्वार्युष्पलानि ।

त्वष्टा पिपेश मध्यतोनु वर्धन्सा

नो अस्तु सुमङ्गली ॥

(अथर्व० १४।१।६०)

(भगः) ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न परमात्मा ने (चतुरः) पुरुषार्थ के चार (पादान्) पादों को (ततश्च) बनाया है; (भगः) तथा ऐश्वर्यादि से सम्पन्न उसी परमात्मा ने (चत्वारि उष्पलानि^१) जीवन के चार पल (ततश्च) बनाए हैं। (त्वष्टा) उस रचयिता कारीगर ने (मध्यतः) बीच २ में (अनु) लगातार (वर्धन्^२) दृढ़ बन्धनों को (पिपेश^३) रूप दिया है, उस कारीगर ने सुन्दर २ बन्धन बीच २ में लगा दिये हैं। (सा) इसलिये वह पत्नी (नः) हमें (सुमङ्गली) उत्तम मङ्गलकारिणी (अस्तु) हो।

पिछले मन्त्रों में, भग पद द्वारा, छः गुणों से सम्पन्न पति का ग्रहण किया गया है। इस मन्त्र में, भग पद द्वारा, परमात्मा का वर्णन प्रतीत होता है। परमात्मा भी प्रकृति देवी का पति है। अतः भग शब्द का प्रयोग परमात्मपति के लिये भी अनुपपन्न नहीं।

१ तच्च त्वच्च तनूकरणे (भ्वा० ग०) ।

२ उप् = जीवन । वस् निवासे (भ्वा० ग०) । वस् + क्विप् = उस् , (वचि स्वपि यजादीनां किति, अष्टा० ६।१।१५, । उप् = (शासिवासि घसीनां च. अष्टा० ८।३।६०) ।

३ वर्ध् = A leather strap or thong (आप्टे) ।

४ पिश अवयवे । इसीसे पेशः भी बनता है । पेशः = रूपम् (आप्टे) ।

परमात्मा ने पुरुषार्थ के चार पाद बनाए हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । गृहस्थ में इन चारों का प्रयोग होता है ।

परमात्मा ने जीवन अर्थात् आयु के भी चार भाग निर्दिष्ट किये हैं । ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास । इसलिये ताकि आश्रम-धर्मों का समुचित पालन हो सके ।

इसी रचयिता कारीगर ने आश्रम-यात्रा के मध्य २ में सुन्दर २ बन्धनों की भी रचना कर रखी है । जो इन बन्धनों में फँस गया वह आश्रम-यात्रा को सफल समाप्ति नहीं कर पाता । पत्नी यदि इस यात्रा के लिये सुमङ्गली हो, पत्नी का यदि मङ्गलमय हाथ इस यात्रा में सहायकारी हो तो पति-पत्नी दोनों ही अपनी इस आश्रम-यात्रा में सफल हो सकते हैं ।

मन्त्र में जीवन के प्रत्येक आश्रम को पल कहा है । जो लोग किसी आश्रम में भी रहते हुए यह समझ लेते हैं कि "समय पर्याप्त है" और इसलिये अपने कर्तव्यों में प्रमाद कर देते हैं वे अपने किसी भी आश्रम-जीवन को सफल नहीं बना सकते । वारतव में प्रत्येक आश्रम-काल को जीवन में पल के सदृश समझना चाहिये, और पल समझ कर ही अपने कर्तव्य-कर्मों को नियमित समय के अनुसार कर लेना चाहिये । ताकि यह प्राप्त हुआ पल कहीं सुस्ती और उपेक्षा में ही न गुजर जाय ।

गृहस्थ-रथ पर आरोहण

(६१) सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं

हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।

आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं

स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम् ॥

(अथर्व० १४।१।६१)

(सुकिंशुकम्^१) ढाक^२ के फूलों से सुसज्जित अथवा सुन्दर रीति से सुसज्जित, या प्रकाशमान^१, (विश्वरूपम्) नाना रूपों वाले, (हिरण्य-वर्णम्) सुवर्ण की नक्काशीवाले, (सुवृत्तम्) सुघड़ या उत्तम प्रकार से चलनेवाले, (सुचक्रम्) तथा उत्तमचक्रों वाले, (वहतुम्) रथ की न्याई वर्त्तमान, (वहतुम्) इस गृहस्थ-रथ पर, (सूर्ये) हे आदित्य ब्रह्म-चारिणी ! (आरोह) तू आरूढ़ हो, (अमृतस्य लोकम्) और जो गृहस्थ-रथ कि अमृत का स्थान है, उस गृहस्थ-रथ को (त्वम्) तू (पतिभ्यः) पति के लिये, तथा अपने सब रक्षकों के लिये (स्योनम्) सुखकारी (कृणु) बना ।

पत्नी जब पितृ-मृह से पति-गृह को जाने लगे तब पत्नी जिस रथ पर आरूढ़ हो वह ढाक आदि के फूलों से सुसज्जित होना चाहिये, तथा वह नाना रूपों से रूपित, सुवर्ण की नक्काशी वाला, सुघड़, उत्तम चलने वाला, तथा उत्तम चक्रों से युक्त होना चाहिये ।

आदित्य-ब्रह्मचारिणी विवाह के अनन्तर पति-मृह को जाने के लिये जब रथ पर आरूढ़ हो तब उसे कहना चाहिये कि तू अब इस रथ पर आरूढ़ होती हुई गृहस्थ-रथ पर आरूढ़ हुई है । यह गृहस्थ-रथ अमृत का स्थान है, इसे नरक का स्थान न बनाना । तथा गृहस्थ में ऐसा व्यवहार करना जिससे कि तेरा पति इस गृहस्थ को सुख का

१ सुकिंशुकम् = सुकाशनम्, किंशुकं कंसते: प्रकाशयतिकर्मणः ।

(निरु० अ० १२. खं० ८) ।

२ अथर्व० १४।१।१३ में फाल्गुन मास में विवाह का विधान किया गया है । ढाक के फूल भी इसी मास के लगभग खिलते हैं । सम्भवतः इसीलिये इस समय के विवाह में रथ को सजावट के लिये ढाक के फूलों का वर्णन किया है । किंशुक = ढाक के फूल ।

स्थान समझे । तथा पति-गृह में रहनेवाले जो तेरे अन्य रक्षक हैं—यथा सास, श्वसुर, देवर आदि,—उन्हें भी तू सुखी रखना । वास्तव में गृहस्थ को सुखकारी बनाना पत्नी का ही काम है ।

पति पत्नी के चार २ गुण

(६२) अभ्रातृघ्नीं वरुणापशुघ्नीं बृहस्पते ।

इन्द्रापतिघ्नीं पुत्रिणीमास्मभ्यं सवितर्वह ॥

(अथर्व० १४।१।६२)

(वरुण) हे श्रेष्ठ !, (बृहस्पते^१) हे वेदों के विद्वन् !, (इन्द्र^२) हे आत्मिक शक्ति से सम्पन्न !, (सवितः) तथा हे उत्पत्ति शक्ति से सम्पन्न पुत्र ! तू, (अभ्रातृघ्नीम्) भाईयों का हनन न करने वाली, (अपशुघ्नीम्) पशुओं का हनन न करने वाली, (अपतिघ्नीम्) पति का हनन न करने वाली, (पुत्रिणीम्) और पुत्रोत्पादन में समर्थ वधू को (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (आवह) ला ।

वर के माता पिता आदि वर को कहते हैं कि तू ऐसी वधू हमारे घर ला, जो कि :—

घर में आकर भाईयों अर्थात् देवों और जेष्ठों से अर्थात् तेरे छोटे तथा बड़े भाईयों से लड़ें झगड़ें नहीं ।

तथा जो घर के पशुओं का हनन न करे । अर्थात् जो न तो माँस खाने वाली हो और न घर के पशुपालन में उपेक्षावृत्ति वाली हो ।

१ बृहती = वेदवाणी । इसलिये बृहस्पत = वेदवाणी का पति ।

२ इन्द्रिय = इन्द्र के साधन । इन्द्र = आत्मा ।

तथा जो तेरे साथ प्रेम करे, तेरा कहना माने, तुझे कष्ट न पहुँचाए, और कष्ट पहुँचाकर जाने-अनजाने तेरी हत्या का कारण न बने ।

तथा जो बन्ध्या न हो । पुत्रों और पुत्रियों के उत्पादन का सामर्थ्य जिसमें हो ।

ये उपरोक्त चार गुण वधू में होने चाहियें । इसी प्रकार वर में भी चार गुण होने चाहिएँ जो कि निम्नलिखित हैं :—

वर गुणों में श्रेष्ठ हो, निर्गुण या दुर्गुणी न हो ।

वर बृहस्पति हो, अर्थात् वेदों का विद्वान् हो । यथा :—

वेदानधीत्य वेदो वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।

अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥

(मनु० ३।२)

वर इन्द्र हो, अर्थात् आत्मिक शक्ति से सम्पन्न हो, ताकि गृहस्थ को वह भोगस्थली न बना दे ।

वर में सन्तानोत्पादन की शक्ति विद्यमान हो । वह निर्वीर्य और नपुंसक न हो ।

देवपथ-गामिनी पत्नी का अधिकार

[६३] मा हिंसिष्टं कुमार्यं स्थूणे देवकृते पथि ।

शालाया देव्या द्वारं स्योनं कृण्मो वधूपथम् ॥

(अथर्व १४।१।६३)

(स्थूणे) हे घर के दो स्तम्भो !, अर्थात् वृद्ध माता-और-पिता !, (देवकृते) देवों द्वारा बनाए गए, निश्चित किए गये (पथि) गृहस्थ-मार्ग में चलती हुई, (कुमार्यम्) कुमारी की, इस नववधू की (मा हिंसिष्टम्) तुम दोनों हिंसा न करो । (देव्याः शालायाः) दिव्य-

शाला के (स्थोनम्) सुन्दर तथा मङ्गल (द्वारम्) द्वार को, दरवाजे का, (वधूपथम्) वधू का मार्ग, वधू के आने जाने का मार्ग (कृष्णः) हम सब निश्चित करते हैं ।

वर अपने माता-पिता से प्रार्थना करता है कि :—

आप दोनों इस घर के स्तम्भ हो । वृद्ध माता-पिता के आशीर्वाद तथा उनकी देख-भाल में नवयुवक पति-पत्नी गृहस्थ-जीवन को आनन्दमय तथा उन्नतिशील बना सकते हैं । इसलिये पति-पत्नी को चाहिए कि वे अपने वृद्ध माता-पिता को अपने गृहजीवन के आधार-स्तम्भ समझा करें ।

अपने माता पिता के प्रति वर यह भी कहता है कि आप दोनों देवों द्वारा निश्चित किए गये अपने कर्तव्यपथ पर चलती हुई इस कुमारी को कष्ट न पहुँचाओ । कुमारी देवों द्वारा निश्चित किए गये अपने कर्तव्यपथ से भ्रष्ट होकर यदि आसुर-पथ या राक्षसीपथ पर चलने लगे तो इसे समझाने तथा सत्पथ पर लाने का अधिकार इन बुजुर्गों को अवश्य प्राप्त है । वे बुजुर्ग समझाकर, सान्त्वना देकर, सामविधि या दण्डविधि का प्रयोग कर इसे देव-मार्ग पर लाने का सदा यत्न करते रहें ।

वर अपने गृह को “देवीशाला” अर्थात् देवगृह कहता है । आसुर-गृह या राक्षस-गृह नहीं । पति इस देवगृह के सुन्दर तथा मङ्गलमय द्वार में प्रवेश का अबाधित अधिकार, देव-पथ पर चलने वाली इस कन्या को, स्वयं भी देता है और अपने माता-पिता से भी इस अधिकार को देने के निमित्त प्रार्थना करता है ।

देवपुरी में वेदध्वनि

(६४) ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वब्रह्मान्ततो

मध्यतो ब्रह्म सर्वतः ।

अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना

पतिलोके वि राज ॥

(अथर्व० १४।१।६४)

(ब्रह्म) वेद (अपरम्) पश्चिम में (युज्यताम्) युक्त हो,
(ब्रह्म) वेद (पूर्वम्) पूर्व में, (ब्रह्म) वेद (अन्ततः) अन्त में,
(मध्यतः) और मध्य में, (ब्रह्म) वेद (सर्वतः) सर्वत्र युक्त हो ।
(अनाव्याधाम्) व्याधि से रहित (देवपुराम्) इस देवपुरी या देव-
गृह को (प्रपद्य) प्राप्त होकर, (शिवा) कल्याण करने वाली तथा
(स्योना) सुखदायिनी हो कर हे पत्नी ! तू, (पतिलोके) पतिलोक
में (विराज) विराजमान हो या राज्य कर ।

घर के बुजुर्ग लोग नववधू के प्रति कहते हैं कि:—

हे देवी ! तेरी सत्ता से इस देवपुरी या देव-गृह के पूर्व और
पश्चिम में, अन्त और मध्य में, तथा सर्वत्र वेद-ध्वनियां सदा हुआ
करें । गृह-जीवन का यह बहुत उत्तम आदर्श है । वैदिक-ध्वनियां तथा
वैदिक गीत गृहवासियों के श्रोत्रों को पवित्र करते हैं तथा भावों को
उदार और विनीत करते हैं ।

वे बुजुर्ग वधू को यह भी आश्वासन देते हैं कि यह गृह व्याधि-
रहित है, वंश-परम्परा आदि कारणों से आने वाले रोगों से रहित

हैं। वंश-परम्परा से आने वाले कतिपय रोगों की परिगणना मनुस्मृति^१ के विवाह-प्रकरण में की गई है।

बुजुर्ग यह भी उपदेश करते हैं कि हे वधु ! यह गृह देवपुरी है, देव-गृह है। इसमें रहने वाले सब व्यक्ति देवकोटि के हैं। तू ने भी इस देवपुरी या देव-गृह में आकर सच्ची देवी बनना है।

तथा तू ने इस देवपुरी को प्राप्त होकर सब पर कल्याण करने वाली तथा सब पर सुखों की वर्षा करने वाली होना है।

इस प्रकार के गुणों वाली होकर इस देवपुरी में तू ने राज्य करना, कल्याण का राज्य करना, तथा सुखमय राज्य करना।

I हीनक्रियं निस्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।

क्षयामयव्यपस्मारि श्वितृकुण्टिकुलानि च ॥ (मनु० ३।७)

जो कुल बवासीर, क्षय, दमा, खौंसी, मिरगी, श्वेतकुण्ड और गलित-कुण्ड से युक्त हों, उन कुलों की कन्या का वर के साथ विवाह होना न चाहिये, क्योंकि ये सब दुर्गुण और रोग विवाह करने वाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं। इस लिए उत्तम कुल के लड़के और लड़कियों का आपस में विवाह होना चाहिये।

नयाँ प्रकरण

सूर्या का क्रमिक विकास

(६५) तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्या वहतुना सह ।

स नः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥

• (अथर्व० १४।२।१.)

(अग्ने) हे अग्नि ! (सूर्याम्) सूर्या अर्थात् आदित्य ब्रह्म-
चारिणी को, दिव्य शक्तियों ने, (अग्रे) मनुष्यज-पति के साथ विवाह
से पहिले (तुभ्यम्) तुम्हें अर्थात् तेरे प्रति (पर्यवहन्) प्राप्त कराया था,
(सः) वह तू अब (अग्न) हे अग्नि ! (नः) हम (पतिभ्यः) मनुष्यज-
पतियों के लिए (प्रजया सह) प्रजानमेत अर्थात् उत्पादनशक्ति से

- १ यहाँ पर भी अग्निपद द्वारा कन्या में प्रकट हुए मासिक धर्म की ओर निर्देश किया गया है । (देखो मन्त्र संख्या ८) ।
- २ देखो मन्त्र संख्या ६७ ।
- ३ मन्त्र संख्या ६७, ६८ के अनुसार अग्निशक्ति, मनुष्यज-पति को पत्नी का प्रदान करती है । मन्त्र संख्या ६८ में “तुरीयस्ते मनुष्यजाः” इस चतुर्थ पाद में “तुरीय” शब्द तथा “मनुष्यजाः” शब्द एकवचनान्त हैं । इसी प्रकार मन्त्र संख्या ६८ में “मह्यम्” शब्द भी (जो कि मनुष्य-पति का द्योतक है) एकवचनान्त है । इस से प्रतीत होता है कि वैदिक-धर्म में एक पत्नी का एक ही मनुष्यज-पति हो सकता है । परन्तु मन्त्र संख्या ६९ में “पतिभ्यो जायां दा अग्ने” इन शब्दों में “पतिभ्यः” शब्द बहुवचनान्त है । अग्नि

युक्त इस (जायाम्) जायावस्थापन्न कुमारी को (वहतुना सह) विवाह-विधि के साथ (दाः) दे ।

इस मन्त्र में मनुष्य-पति के साथ विवाह में, कन्या का आदर्श, आदित्य ब्रह्मचारिणी का रखा गया है । इस आदित्य ब्रह्मचारिणी का पति भी आदित्य ब्रह्मचारी ही होना चाहिए ।

परन्तु आदित्य ब्रह्मचारिणी की इस ऊंची अवस्था से पूर्व भी, तीन अमनुष्यज-पतियों के साथ, भिन्न २ काल में, कन्या के तीन विवाहों की कल्पना, मन्त्र संख्या ६७ और ६८ में की गई है । इन

शक्ति के प्रति कहा गया है कि “हे अग्नि ! तू सूर्या को प्रजोत्पादन की शक्ति से सम्पन्न करके उसे विवाह की विधि के साथ हम “पतियों” के लिये दे ।” इस मन्त्र में ‘सूर्या’ और ‘जाया’ शब्द एकवचनान्त हैं, और “पतिभ्यः” शब्द (जो कि मनुष्यज पतियों का सूचक है) बहुवचनान्त है । इस से यह भाव सूचित हो सकता है कि वैदिक विधि में एक जाया के बहुत पति भी हो सकते हैं । इसका समाधान निम्नलिखित है:—

(क) सम्भवतः यहां नियोग-विधि के मनुष्यज पतियों का वर्णन हो, जो कि सन्तान-धर्म के निमित्त आज्ञा लेकर क्रमानुसार नियुक्त किये जा सकते हैं ।

(ख) या इस मन्त्र में “पतिभ्यः” शब्द यौगिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । केवल वीर्यदाता पति के अर्थ में ही नहीं । पति का अर्थ है रक्षक । इस प्रकार मुख्य रूप से तो वीर्यदाता विवाहित पति ही पति हैं, परन्तु रक्षकरूप में पतिगृह के अन्य वासी भी पति कहे जा सकते हैं । जैसे कि राजा को प्रजापति और सभाध्यक्ष को सभापति तथा सेनानायक को सेनापति कहते हैं । प्रजापति, सभापति, और सेनापति में प्रयुक्त पति शब्द केवल रक्षकार्थक है ।

तीन अमनुष्यज-पतियों में से एक अमनुष्यज-पति अग्नि है, जिसका कि वर्णन इस मन्त्र में आया है। इन तीन अमनुष्यज-पतियों की विशेष व्याख्या मन्त्र संख्या ६७, ६८ में की जायगी।

सूर्यावस्था की कन्या का मनुष्यज-पति के साथ वास्तविक विवाह होने के पूर्व, कन्या का काल्पनिक विवाह, अग्नि-शक्ति के साथ यहां वर्णित हुआ है। अग्नि-शक्ति के साथ विवाह के पश्चात् कन्या जब आदित्य ब्रह्मचारिणी की अवस्था पर पहुँचती है तब उसका विवाह आदित्य ब्रह्मचारी पदवी वाले मनुष्यज-पति के साथ होता है। उस समय वह कन्या प्रजोत्पादन की अनुद्बुद्ध (Potential) अवस्था से गुजर कर प्रजोत्पादन की उद्बुद्ध अवस्था अर्थात् वास्तविक प्रजोत्पादन की अवस्था में आती है। इस लिए इस अवस्था में प्रजा का भी वर्णन मन्त्र में किया गया है। मन्त्र संख्या ६७, ६८ में अग्नि को तीसरा पति माना है। इस से पूर्व दो पति और कहे हैं, सोम और गन्धर्व।

दीर्घायु वाला पति

(६६) पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा ।

दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥

(अथर्व० १४।२।२)

(पुनः) फिर (अग्निः) अग्नि ने, (आयुषा) आयु और (वर्चसा) तेज के (सह) साथ वर्तमान हुई (पत्नीम्) पत्नी को (अदात्) मनुष्यज-पति के लिए दिया। (अस्याः) इस पत्नी का (यः) जो (पतिः) मनुष्यज-पति है वह (दीर्घायुः) दीर्घ आयु वाला है, (शतम्) सौ (शरदः) सालों तक (जीवाति) वह जीवे

“प्राकृतिक-शक्ति-रूप अग्नि ने, कन्या के साथ, मनुष्यज-पति से पूर्व, विवाह किया था, — ऐसा वर्णन मन्त्रसंख्या ६५ में हुआ है। अग्नि के साथ विवाह होने के कुछ काल पश्चात् अग्नि ने अपनी पत्नी को दीर्घायु तथा तेजः-पूर्ण बना कर दीर्घ आयु वाले मनुष्यज-पति को दिया” — यह भाव इस मन्त्र का है। इस कथन से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि अप्रौढ़ावस्था में और वचं अर्थात् तेज से रहित अवस्था में ही कन्या का पति अग्नि है। इस अग्नि-पति के साथ रह कर कन्या, जब दीर्घायु वाली तथा शारीरिक कान्ति से सम्पन्न हो जाती है, तदनन्तर ही अग्नि-पति, दीर्घायु वाले तथा पूर्ण-युवा मनुष्यज-पति को वह कन्या दे देता है, इससे पूर्व नहीं। दीर्घायु में विवाह करने का परिणाम यह होता है कि सूर्या का पति १०० वर्षों तक जीता रहता है। छोटी अवस्था में विवाह करने से पति-और-पत्नी दोनों ही क्षीण शक्ति वाले होकर शीघ्र ही मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं।

सूर्या के चार पति

(६७) सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेपरः पतिः ।

तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥

(अथर्व० १४।२।३)

हे सूर्या ! तू, (प्रथमम्) पहिले (सोमस्य) सोम की (जाया) पत्नी होती है; (ते) तेरा (अपरः) दूसरा (पतिः) पति (गन्धर्वः) गन्धर्व होता है; (ते) तेरा (तृतीयः) तीसरा (पतिः) पति (अग्निः) अग्नि होता है; (ते) और तेरा (तुरीयः) चौथा पति (मनुष्यजाः) मनुष्य से जन्मा हुआ होता है, मनुष्य-सन्तान होती है।

मन्त्र के चतुर्थ पाद में चौथे पति को “मनुष्यजाः” कहा है। इससे प्रतीत होता है कि मनुष्यज-पति से पूर्व के तीन पति मनुष्यरूप

नहीं है, अर्थात् मनुष्यज-पति से पूर्व के तीन पति काल्पनिक हैं; प्राकृतिक शक्तिरूप हैं, वास्तविक मनुष्य नहीं हैं। अतः एक पत्नी के “बहु-मनुष्यज-पतियों” की आशंका इन मन्त्रों में न करनी चाहिये। इन से अगले तथा पूर्व के कई मन्त्रों में एक पत्नी के साथ बहुपतियों के सम्बन्ध का वर्णन आता है। इन सब मन्त्रों में सम्भवतः इन तीन प्राकृतिक शक्तियों का, तथा एक मनुष्यज-पति का ही वर्णन इस प्रकार किया गया है। क्योंकि इन तीन प्राकृतिक शक्तियों को भी पति कहा गया है।

साथ ही यह भी जानना चाहिये कि वेदों का पति शब्द यौगिक है। इस पति शब्द का अर्थ है रक्षक, रक्षा करने वाला। इस पति शब्द का अर्थ केवल वह मनुष्य ही नहीं जिस द्वारा कि पत्नी को सन्तान प्राप्त होती है, अपितु पत्नी की रक्षा करने वालों को भी इन मन्त्रों में पति कहा है। वीर्यदाता पति भी पत्नी की रक्षा करता है इसीलिये वीर्यदाता पति को भी पति कहा जाता है।

चार पतियों का क्रम

(६८) सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो ददद्ग्नये ।

रयि च पुत्राँश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥

(अथर्व० १४/२/४)

(सोमः) सोम ने पत्नी (गन्धर्वाय) गन्धर्व के लिये (ददत्) दी। (गन्धर्वः) गन्धर्व ने (अग्नये) अग्नि के लिये (ददत्) दी। (अग्निः) और अग्नि ने (मह्यम्) मेरे लिये (रयि च) धन को, (पुत्रान् च) पुत्रों को, (अथो) तथा (इमाम्) इस जाया को (अदात्) दिया।

इस मन्त्र में मनुष्यज-पति कहता है कि “यह जाया पहिले तो

“सोम” की जाया थी। सोम ने फिर यह जाया गन्धर्व को दे दी, और इस समय इस जाया का पति “गन्धर्व” बना। गन्धर्व ने जाया फिर अग्नि को दी और इस समय इस का पति “अग्नि” बना। अग्नि ने यह जाया फिर मुझे दी,—जो मैं कि मनुष्य-जन्मा हूँ, मनुष्य-सन्तान हूँ। मनुष्य-पति कहता है कि न केवल अग्नि ने मुझे जाया ही दी अपितु इसके साथ धन तथा पुत्र भी अग्नि ने मुझे दिये।

इस सब सन्दर्भ का क्या अभिप्राय है ?। प्रतीत होता है कि (६५ से ६८ तक के) मन्त्रों में कन्या की चार अवस्थाओं का वर्णन हुआ है।

कन्या जब छोटी होती है तब वह सौम्यगुणों से सम्पन्न रहती है। इसीलिये छोटे बच्चे को संस्कृत में “सौम्य” शब्द द्वारा पुकारते तथा संबोधित करते हैं। छोटी अवस्था में सौम्यगुण-प्रधान होने के कारण कन्या का पति सोम कहा गया है। धात्वर्थ से पति शब्द का अर्थ है रक्षक या रक्षा करनेवाला। इस अवस्था में कन्या का पति अर्थात् रक्षक है “सौम्य” गुण। इस लिये सोम को इस अवस्था में कन्या का पति कहा है।

-
१. अथर्व० २।१३।२ में नवप्रविष्ट छोटे ब्रह्मचारी को “सोम राजा” कहा गया है। सोम का अर्थ है वीर्य। गुरुकुल में ऐसी आयु के ब्रह्मचारी प्रविष्ट होने चाहियें जब कि उनमें “सोमशक्ति” का प्रादुर्भाव हो जाय। ऐसी आयु में सोमशक्ति के नियन्त्रण के लिये, छोटे ब्रह्मचारियों को, गुरुकुल के सात्विक वायुमण्डलों में वास करना चाहिये। ऐसे छोटे ब्रह्मचारियों का गुरुकुल-प्रवेश का उद्देश होता है,—अपनी सोमशक्ति का संयमन करना और साथ २ स्वाध्याय भी करना। इस उद्देश से भी सम्बन्धित छोटे बच्चे को “सौम्य” कहे जाने की प्रथा चल पड़ी हो। छोटी कन्या के सम्ब-

कन्या की अवस्था अब और बढ़ी, सौम्य गुणों का बाहुल्य शनैः २ कम होने लगा और कन्या में यौवनावस्था के चिन्ह दिखलाई देने लगे। सौम्य-जीवन की पिछली अवस्था में मानसिक-विकार शनैः २ जड़ पकड़ने लगे। प्रेम और अनुराग के हाव-भाव दृष्टिगोचर होने लगे। इस समय कन्या की अवस्था गन्धर्वावस्था की बन गई।

इस समय मानो कन्या के देह पर “गन्धर्व” का आधिपत्य है। इस समय कन्या का पति गन्धर्व है, साम नहीं। गन्धर्वावस्था अनुराग की अवस्था है, इसमें निम्नलिखित प्रमाण हैं। :—

गन्धर्व का अर्थ “गाने वाला” भी होता है। (गानं धारयति = गन्धर्वः)। गाने की अवस्था तथा अनुराग का अवस्था में बहुत समता है। गीति अनुराग को उत्पन्न करती है। भक्ति के गीत भक्ति के अनुराग को पैदा करते हैं, शान्ति के गीत शान्तावस्था को लाते हैं, तथा पति पत्नी के प्रेम के गीत पति-पत्नी सम्बन्धी अनुराग का उत्पन्न करते हैं। इसीलिये “गन्धर्व विद्या” का अर्थ है गान-विद्या।

विवाह के ८ प्रकार मनु^१ आदि स्मृतियों में लिखे हैं, उनमें

न्ध में भी यही बात लागू समझी जा सकती है। इस अवस्था के बालक तथा बालिकाएँ चूँकि कोमल स्वभाव के होते हैं इस लिये “सौम्य” शब्द के साथ कोमल-प्रकृति की भावना का भी सम्बन्ध हो गया प्रतीत होता है। पिछले कई मन्त्रों में “सोम” का अर्थ आदित्य-ब्रह्मचारी किया गया है, वह सोम की पराकाष्ठा की अवस्था की दृष्टि से है।

1 ब्राह्मो दैवस्तथैवार्पः प्राजापत्यस्तथाऽसुरः।

गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ मनु० ६।२१ ॥
अर्थात् विवाह आठ प्रकार का होता है। एक ब्राह्म, दूसरा दैव, तीसरा आर्ष, चौथा प्राजापत्य, पाँचवाँ आसुर, छठा गान्धर्व,

से एक गान्धर्व-विवाह भी है, जिसका कि आधार केवल परस्पर प्रेम या परस्परानुराग होता है। इस से भी प्रतीत होता है कि कन्या की अनुरागावस्था में उसका पति गन्धर्व होना सर्वथा उचित है।

गन्धर्व के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाणों पर और विचार करना चाहिए। यथा :— “वरुण आदित्यो राजेत्याह, तस्य गन्धर्वा विशः त इम आसते इति युवानः शोभना उपसमेता भवन्ति” (शांख्या-यन श्रौतसूत्र १६, २, ८ । तथा आश्वायन श्रौतसूत्र १०, ७, ३) ॥ इस प्रमाण में कहा है कि “शोभायुक्त युवावस्था के लोग गन्धर्व हैं”।

इसी प्रकार “गन्धो मे, मादा मे, प्रमोदो मे । तन्मे युष्मासु (गन्धर्वेषु) । (जैमिनीय ३, ३, २५, ४) । अर्थात् गन्धर्व व हैं जिन्हें कि “गन्ध, मोद तथा प्रमोद प्रिय हैं”।

“इसी प्रकार “रूपमिति गन्धर्वाः (उपासते) । (श० ब्रा० १०, ५, २, २०) अर्थात् रूप को उपासना करने वाले गन्धर्व हैं”।

इन प्रमाणों द्वारा यह प्रतीत होता है कि कन्या में जब अनुरागाङ्कुर जमन लगता है, वह जब गानविद्या की रसिका होने लगती है, जब उसमें वशभूषा की शोभा की लालसा उत्पन्न हो जाती है, जब उसका मन गन्ध, माद, प्रमोद, रूप आदि की ओर आकृष्ट होने लगता है, तब से उसके जीवन में गन्धर्वावस्था प्रकट होने लगती है। यही अवस्था गन्धर्वावस्था है और इसी अवस्था में कन्या का पति गन्धर्व है। यह अवस्था कन्या की पालना तथा रक्षा करने वाली है अतः पति है। पति = रक्षक, पालक।

यह अनुरागावस्था जब पकने लगती है और रजोदर्शन की

सातवां राक्षस, आठवां पैशाच। इनमें से अनियम, असमय किसी कारण से वर-कन्या का इच्छापूर्वक परस्पर संयोग होना “गान्धर्व” कहा जाता है।

अवस्था समीप आती है तब कन्या का पति “अग्नि” होता है । स्त्री के रज को आयुर्वेद में आग्नेय माना है । अतः कल्पना की जा सकती है कि पृथम-रजो-दर्शन से लेकर पूर्ण-यौवनावस्था तक जब तक कि उसका विवाह मनुष्यज पति के साथ नहीं होता - कन्या का पति अग्नि होता है ।

अग्नि-पति के आधिपत्य में रहकर कन्या जब पूर्ण युवति हो जाय और उसके शरीर में पूर्ण यौवन के चिन्ह दिखाई देने लगें, तथा शरीर में उचित तेज, कान्ति और बर्ब भजकने लगे, तब, अग्नि-पति मनुष्यज-पति के प्रति कन्या को सौंपे, अर्थात् इस अवस्था में कन्या का विवाह मनुष्यज-पति के साथ होना चाहिये । इस समय से उस कन्या का, जो कि अब सूर्या हो चुको है, मनुष्यज-पति होता है । इस अवस्था में कन्या सन्तानोत्पादन की अधिकारिणी होती है । इसीलिए कन्या की इस अवस्था के साथ पुत्रों का तथा मनुष्यज-पति का वर्णन किया गया है । मनुष्यज-पति के साथ विवाह से पूर्व की अवस्थाओं में कन्या के साथ पुत्रों का वर्णन नहीं किया गया । क्योंकि इसी अन्तिम अवस्था में कन्या का वास्तव में विवाह होता है, और विवाह में कन्या का पिता यथाशक्ति दहेज भी देता है, अर्थात् अपनी पुत्री की सहायतार्थ यथा-सम्भव धन आदि की सहायता भी उसके पति को देता है । अतः इस अवस्था के साथ धन के सम्बन्ध का भी वर्णन मन्त्र में हुआ है ।

इन चार पतियों का “बोधायन धर्मसूत्र”, प्रश्न २, अध्याय २, सूत्र ५८ में निम्नलिखित रूप में वर्णन हुआ है । यथा :—

सोमः शौचं ददत्तातां गन्धर्वः शिक्षितां गिरम् ।

अग्निश्च सर्वभक्षत्वं तस्मान्निष्कल्मषाः स्त्रियः ॥

अर्थात् “सोम ने स्त्रियों को शुचिपन दिया है, गन्धर्व ने शिक्षिता बाणी दी है अग्नि ने सब-को खा जाने का गुण दिया है, इस

लिये स्त्रियां कल्मष अर्थात् अशुद्धि या पाप से रहित हैं" । अभिप्राय यह कि कन्या की सौम्यावस्था में, उसकी सुकुमारावस्था में, उसमें स्वाभाविक रूप से भावों तथा व्यवहारों में शुचिता होती है, उसमें छल तथा कपट नहीं होता । तथा इसी सुकुमारावस्था से ही उसे शुद्ध रहने तथा घर, वस्त्रों और शरीर की शुद्धि का परिज्ञान दे देना चाहिये । गन्धर्व का सम्बन्ध गानविद्या से है,—यह दर्शाया जा चुका है । गानविद्या द्वारा वाणी शिक्षित हो जाती है । जिस से गाने के उतराव-चढ़ाव आदि में व्यक्ति निपुण हो जाता है । तथा अग्नि-शक्ति अर्थात् मासिक रजोदर्शन के प्रभाव से कन्या के शारीरिक दोष नष्ट हो जाते हैं । ठीक प्रकार से रजोदर्शन न होने पर स्त्रियाँ रुग्ण हो जाती हैं । ठीक प्रकार से रजादर्शन के होन पर रजोदर्शन की अग्नि, स्त्रियों के सब रोगों का भक्षण कर लेती है । मन्त्र में और इस सूत्र में लगभग एक सा भाव है ।

- । महर्षि दयानन्द जी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश में ऋग्वेद के इसी प्रकार के मन्त्र का निम्नलिखित अर्थ दिया है । :—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।

तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ऋ० १०।८५ ॥

हे स्त्री ! जो (ते तेरा (प्रथमः) पहिला विवाहित (पतिः) पति मुझको (विविदे) प्राप्त होता है उसका नाम (सोमः) सुकुमार-तादि गुण युक्त होने से सोम, जो दूसरा नियोग से (विविदे) प्राप्त होता वह (गन्धर्वः) एक स्त्री से सम्भोग करने से गन्धर्व, जो (तृतीय उत्तरः) दो के पश्चात् तीसरा पति होता है वह (अग्निः) अत्युष्णतायुक्त होने से अग्निसंज्ञक, और जो (ते) तेरे (तुरीयः) चौथे से लेके ग्यारहवें तक नियोग से पति होते हैं वे (मनुष्यजाः) मनुष्य नाम से कहाते हैं ।

दसवां प्रकरण

गृहस्थियों की कामनाएं

(६६) आ वामगन्तुमतिर्वाजिनीवसु

न्यश्विना हत्सु कामा अरंसत ।

अभूतं गोपा मिथुना शुभस्पती

प्रिया अर्यम्णो दुर्या अशीमहि ॥

(अथर्व० १४।२।५)

(वाजिनीवसु^१) उपा और सूर्य की न्याईं वर्तमान (अश्विनी) हे माता-और- पिता ! (हत्सु) हमारे हृदयों में (कामाः) कामनाएं (न्यरंसत) रमी हुई हैं, बसी हुई हैं, वे ये कि (वाम्) तुम दोनों की (सुमतिः) उत्तम मति (आगन्) हमें प्राप्त हो, (शुभस्पती) हे शोभा या शुभकर्मों के रक्षको ! या स्वामियो ! (मिथुना) तुम दोनों हमारे (गोपा=गोपौ) रक्षक (अभूतम्) होओ, (अर्यम्णः^२) आर्यमन वाले व्यक्ति के अथवा न्यायकारी परमात्मा के (प्रियाः) हम प्यारे बनें, (दुर्यान्)

१ वाजिनी (उपा) च, वसुः (सूर्यः च = वाजिनीवसु । वाजिनी= उपा (निघ० अ० १, खं० ८) । वसु= सूर्य (अग्निश्च पृथिवी च, वायुश्चान्तरिक्षं च, आदेत्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि च,— एते वसवः । (श०, ब्रा० १२, ६ ३. २) ।

२ आर्यान् मानयति । अर्थात् जो आर्यों या अश्रेष्ठों का मान करता है, और अनार्यों या अश्रेष्ठों का अपमान करता है, अर्थात् मान नहीं करता ।

गृहमुखों को या गृहों को (अशीमहि) हम प्राप्त करें।

मन्त्र में वृद्ध माता-पिता को “वाजिनीवसू” तथा “अश्विनौ” कहा है। वाजिनी का अर्थ है उषा और वसू का अर्थ है सूर्य। माता उषा है और पिता सूर्य है। उषा और सूर्य का पारस्परिक जो सम्बन्ध है वह पत्नी और पति के लिए आदर्श सम्बन्ध है। उषा और सूर्य का सम्बन्ध नित्य है, उषा के बिना सूर्य और सूर्य के बिना उषा नहीं हो सकती। इसी प्रकार का पत्नी और पति का भी पारस्परिक सम्बन्ध होना चाहिए। एक दूसरे से पृथक् रहना पत्नी-और-पति के लिये उचित नहीं। उषा का स्वरूप सुन्दर तथा कोमल है और सूर्य का पक्षर। इसलिये पत्नी में रमणीयकता तथा कोमलता का निवास होना चाहिये और पति में पौरुष-शक्ति का।

वृद्ध माता-पिता अपने पारस्परिक-सम्बन्धों में उषा-और-सूर्य की न्याईं होने चाहिएँ, ताकि नए वर-वधू पर उनके पारस्परिक सम्बन्ध का उत्तम तथा क्रियात्मक प्रभाव पड़ सके। नए वर-वधू के पारस्परिक सम्बन्ध के लिये, आदर्श-सम्बन्ध, उनके माता-पिता का पारस्परिक-सम्बन्ध होना चाहिये। और माता पिता के पारस्परिक सम्बन्ध के लिये, आदर्श-सम्बन्ध, उषा और सूर्य का परस्पर-सम्बन्ध होना चाहिये। वृद्ध माता-पिता के इस क्रियात्मक कर्तव्य को सूचित करने के लिये इस मन्त्र में उन्हें “वाजिनीवसू” शब्द द्वारा सम्बोधित किया गया है।

ये वृद्ध माता-पिता नए वर-वधू के लिए सच्चे मार्गदर्शक होने चाहियें। इसी आशा से नए वर-वधू, वृद्ध माता-पिता से, कहते हैं कि हे अश्विनो ! हे माता-पिता ! हमारे हृदयों में निम्नलिखित कामनाएं

१ दुर्गाः=गृहनाम (निघ०)।

हैं, आप इन कामनाओं की पूर्ति में हमारे सहायक बनें। यथा :—

आप दोनों की सुमति, — अर्थात् गृहस्थ-जीवन की गाड़ी को उत्तम रीति से चला सकने की उत्तम मति, आप दोनों के उपदेश द्वारा, हमें सदा प्राप्त होती रहे।

आप दोनों सदा हमारे रक्षक बने रहें, (गोपौ = गुप् रक्षणे)। हम पर आप की छाया बनी रहे।

आप हमें सदा ऐसे पथ पर चलाइये जिस से कि हम आर्यमन वाले बन सकें और श्रेष्ठ जनों के प्यारे बन सकें, इनके प्रेमपात्र बन सकें। और इस प्रकार न्यायकारी परमात्मा के भी प्यारे बन जायें।

तथा आप दोनों की कृपा हम पर बनी रहे ताकि हम गृह-जीवन के दुःखों को दूर करते हुए गृहसुखों को भोग सकें। तथा गृह को प्राप्त करने के हम अधिकारी बन सकें।

इस द्वारा यह भी सूचित किया गया है कि नव पति-पत्नी यदि इन गुणों वाले नहीं हैं तो वे गृह-सम्पत्ति से वञ्चित भी किये जा सकते हैं।

वीरसन्तान और गृहस्थतीर्थ

(७०) सा मन्दसाना मनसा शिवेन

रयिं धेहि सर्ववीरं वचस्यम् ।

सुगं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती

स्थाणुं पथिष्ठामप दुर्मतिं हतम् ॥

(अथर्व० १४।२।६)

(सा) हे पत्नी ! वह तू, (मन्दसाना) मुदित और हर्षित होती हुई, आनन्दित और प्रसन्न होती हुई, (शिवेन) शिव (मनसा) मन से,

(वचस्यम्) प्रशंसनीय तथा (सर्ववीरम्) जिससे सब सन्तानें वीर उत्पन्न होती हैं ऐंसे (रयिम्^१) वीर्य का (धेहि^२) धारण कर और उसका पोषण कर । (शुभस्पती) शोभा अथवा शुभकर्मों के पति अर्थात् स्वामी-रूप हे माता-पिता ! तुम दोनों (तीर्थम्) हमारे गृहस्थ-तीर्थ को (सुगम्) सुगम (सुप्रपाणम्) और खान-पान से भरपूर करो, (पथिष्ठाम्) और मार्ग में स्थित (दुर्मतिम्) दुर्मतिरूप (स्थाणुम्) स्थाणु अर्थात् खूटे-रूप प्रतिबन्धक को (अपहतम्) उखेड़ फेंको ।

मन्त्र के प्रथम अर्ध-भाग में पति अपनी पत्नी के प्रति कहता है कि तू :—

सदा, तथा विशेषरूप से गर्भाधान के काल में और गर्भाधान के अनन्तर भी, मुदित तथा हर्षित रहा कर, आनन्द तथा प्रसन्नता में रहा कर ।

गर्भाधान के समय तथा उसके अनन्तर मन को शिव बनाए रखा कर, मन में अशिव संकल्पों को स्थान न दिया कर ।

तथा गर्भधारण कर लेने पर उस बच्चे के पालन-पोषण में तत्पर रहा कर ।

इस विधि से तू प्रशंसनीय वीरसन्तानें प्राप्त करेगी । माता को प्रसन्नतामया और आनन्दमया भावना, उसके शुभ संकल्प, तथा गर्भ के पोषण में उसकी तत्परता, वास्तव में सन्तति को उत्तम तथा वीर बनाती है ।

१ रयिः = वीर्य । “वीर्यं वै रयिः” । (श० ब्रा० १३।४।२।१३) ।

२ वेदों में “धेहि” शब्द का प्रयोग बहुत करके गर्भ-के-आधान के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त होता है । यथा :— गर्भं धेहि सिनीबालि गर्भं धेहि सरस्वति” । (अथर्व० ५।२५।३) ।

मन्त्र के द्वितीय अर्ध-भाग में पति अपने माता-पिता के प्रति प्रार्थना करता है कि:—

आप दोनों हमारे गृहस्थ-तीर्थ^१ को सुगम बनाइए। सुगमता से तरने योग्य बनाइए। गृहस्थ स्वयमेव तीर्थ है। सब से बड़ा और पवित्र तीर्थ है। इसे वे ही व्यक्ति तर सकते हैं जो कि संयमी, धिन्-संकल्पों वाले, तथा यज्ञमयी भावना वाले होते हैं। गृहस्थ-तीर्थ को पूरा करने से मानो सभी तीर्थों के फल पा लिए। यह गृहस्थ-तीर्थ सुगमता से तरने लायक तभी हो सकता है जब कि नवागत वर-वधू, अनुभवी माता-पिता के उपदेशों के अनुसार, अपने गृहस्थ-जीवन को व्यतीत करें।

साथ ही वह माता-पिता से यह भी प्रार्थना करता है कि आप हमें ऐसी विधियों पर चलावें जिस से कि हमारा गृहस्थ-जीवन खान-पान के साधनों की दृष्टि से कष्टमय न हो, हमारा गृहस्थ सदा खान-पान की सामग्री से भरा रहे, और इसके द्वारा हम अपनी सन्तानों की तथा अभ्यागत अतिथियों की सेवा-शुश्रूषा कर सकें।

पति अपने माता-पिता से यह भी प्रार्थना करता है कि आप दोनों हमारी दुर्मतियों को अपने उपदेशों द्वारा दूर कीजिए। गृहस्थ-जीवन के सुमार्ग तथा सन्मार्ग में, “दुर्मति”,—मार्ग में स्थित स्थाणु की न्याईं बाधक होती है। इस लिए दुर्मति को हटाने के लिए विशेष यत्न करना चाहिए।

माता-पिता के जीवनों को आदर्श-रूप में दर्शन के लिए माता-पिता को, मन्त्रों में, “शुभस्पती” कहा गया है। वास्तव में जिस घर

१ तीर्थ = A passage; Road; a holy place. (आपटे कोष)।

तीर्थ शब्द “तृ” धातु से बना है जिसका अर्थ है “तैरना”।

में वृद्ध माता-पिता शुभ कर्मों के अनुष्ठान करने वाले होते हैं, उस घर की सन्तति-परम्परा भी शुभ-कर्मों के करने वाली हो जाती है।

गर्भिणी की स्वास्थ्य-रक्षा

(७१) या ओषधयो या नद्यो यानि क्षेत्राणि या वना ।

तास्त्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः ॥

(अथर्व० १४।२।७)

(याः) जो (ओषधयः) ओषधियाँ हैं, (याः) जो (नद्यः) नदियाँ हैं, (यानि) जो (क्षेत्राणि) खेत हैं, (या = यानि) तथा जो (वना = वनानि) वन हैं, (ताः) वे सब पदार्थ (रक्षसः) रक्षक होकर, (वधु) हे वधु ! (पत्ये) पति के लिए (प्रजावतीम्) प्रजोत्पन्न करने वाली (त्वा) जो तू है उसकी (रक्षन्तु) रक्षा करें ।

I “रक्षसः” और “रक्षन्तु”—इन दोनों में रच् धातु है। अतः रक्षसः शब्द में रच् धातु के अर्थ को ही मुख्य अर्थ मान कर उपरोक्त अर्थ किया गया है। अथर्व० १३।४।२५ में “रक्षः” शब्द, रक्षक अर्थ में, परमात्मा के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। “रक्षसः” शब्द को पञ्चमी विभक्ति मान कर यह अर्थ भी हो सकता है कि “यह सब पदार्थ रक्षस से तेरी रक्षा करें”। गर्भिणी-अवस्था में रोग तथा रोगजनक-कृमि गर्भिणी के लिये रक्षस रूप हो जाते हैं। अतः इन से गर्भिणी की रक्षा करना अत्यावश्यक है। इन रक्षसों से रक्षा के उपायों का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है। उचित ओषधियोंका सेवन करना, तथा नदी, खेतों और वनों के दृश्यों को देखना, और इन स्थानों में भ्रमण करना गर्भिणी के लिये स्वास्थ्योत्पादक है। इस प्रकार रोग गर्भिणी पर आक्रमण नहीं करते।

पत्नी जब गर्भिणी हो तो वह उचित ओषधियों का सेवन करे जिससे कि उसकी, तथा बच्चे के शरीर की, रक्षा होती रहे। तथा पत्नी नदी आदि स्थानों, खेतों और वनों में भ्रमण किया करे। ये स्वच्छ तथा रम्य स्थान गर्भिणी के रक्षक होते हैं।

गृहस्थ-तीर्थ का मार्ग

(७२) एमं पन्थामरुक्षाम सुगं स्वस्तिवाहनम्।

यस्मिन्वीरो न रिष्यत्यन्येषां विन्दते वसु ॥

(१४।२।८)।

(इमम्) इस (पन्थाम्^१) मार्ग पर (आ+अरुक्षाम) हम आरूढ़ हुए हैं, (सुगम्^२) जो कि सुगम है, तथा (स्वस्तिवाहनम्) कल्याण प्राप्त कराने वाला है। (यस्मिन्) जिस मार्ग में (वीरः) पुत्र (न रिष्यति) नष्ट नहीं होता, (अन्येषाम्) और अन्यों, दूसरों अर्थात् माता-पिता के तथा अन्य सज्जनों के (वसु) सुमति आदि धन को (विन्दते) प्राप्त करता है, या उन द्वारा उपाजित सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनता है।

नव-विवाहित वर-और-वधू वृद्ध माता-पिता से सुमति^३ प्राप्त करके कहते हैं कि हम तो गृहस्थ-तीर्थ के इस सुमति-मार्ग पर आरूढ़ हो चुके हैं। सुमति, -मार्ग है गृहस्थ-तीर्थ में विचरने का।

वे अपने अनुभव से कहते हैं कि गृहस्थ-तीर्थ का यह सुमति मार्ग सुगम है, दुर्गम नहीं। लोग इसे दुर्गम समझते हैं परन्तु यह मार्ग दुर्गम

१ अथर्व० १४।१।५८ ॥ तथा पुस्तक की मन्त्रसंख्या ५८।

२ अथर्व० १४।१।५८ तथा १४।२।६ ॥ पुस्तक की मन्त्र संख्या ५८, ७०।

३ अथर्व० १४।२।५, ६ ॥ पुस्तक की मन्त्रसंख्या ६५, ७०।

नहीं, अपितु सुगम है ।

तथा गृहस्थतीर्थ का यह सुमति-मार्ग न केवल सुगम ही है अपितु स्वस्तिवाहन अर्थात् कल्याण-कारी भी है । दुर्मति का मार्ग कल्याण-कारी नहीं होता ।

गृहस्थतीर्थ के इस सुमति-मार्ग पर चलने से पुत्र नष्ट नहीं होते । दुर्मति-मार्ग पर चलने से पुत्रों का नाश अवश्य होता है । जिन के माता-पिता सुमति-मार्ग पर चलने वाले हैं उन के पुत्र-तथा-पुत्रियां भी उसी सुमति-मार्ग पर चला करते हैं । इस प्रकार वे नाश से बचे रहते हैं ।

इस प्रकार पुत्र न केवल अपने माता-पिता तथा अन्य सज्जनों के सुमति-धन को ही प्राप्त करते हैं अपितु त्रिरजीवी हो कर वे अपने माता-पिता आदि की उपाजित सम्पत् के भी उत्तराधिकारी बनते हैं ।

वेद में पुत्रों को वीर कहते हैं । वीर-पुत्र वैदिक समाज के बहुमूल्य रत्न समझे गये हैं । शूरवीर, धर्मवीर तथा दानवीर आदि सभी प्रकार के वीर-पुत्र समाज की सम्पत्तियां हैं ।

श्रेष्ठ पुत्रों की प्राप्ति

(७३) इदं सु मे नरः शृणुत

ययाशिषा दम्पती वाममश्नुतः ।

ये गन्धर्वा अप्सरसश्च

देवीरेषु वानस्पत्येषु येधितस्थुः ।

स्योनास्ते अस्यै वध्वै भवन्तु

मा हिंसिषुर्वहतुमुद्यमानम् ॥

(अथर्व० १४।२।६)

(नरः^१) हे नर-नारियो ! (मे) मेरे (इदम्) इस सुमति-मार्ग के उपदेश को (मुशृणुत) ध्यानपूर्वक सुनो कि (यया आशिषा^२) जिस सुमति-मार्ग की इच्छा करने से (दम्पती^३) जाया और पति (वामम्) सुन्दर तथा श्रेष्ठ पुत्र को (अश्नुतः^४) प्राप्त करते हैं । तथा (ये) जो (गन्धर्वाः^५) वेदों के विद्वान् (च और (अप्सरसः^६ देवीः) रूपवती तथा जलों में विचरने वाली देवियाँ, (ये) जोकि (एषु) इन (वानस्पत्येषु) वृक्षों तथा वनस्पतियों में अर्थात् वनों में (अधितस्थुः) अधिष्ठित हुए हैं, वानस्पत्स्थियों के रूप में बसे हुए हैं, (ते) वे (अस्यै^७) इस (वधू) वधू के लिये (स्योनाः) सुख देने लाले (भवन्तु) हों, (उह्यमानम्^८) ली जाती

१ नराश्च नार्यश्च = नरः । 'कशेष, बहुवचनस्थाने एकवचनम् । अथवा "नर" शब्द "नृ" का बहुवचन है । और यह शब्द नारी का भी उपलक्षक है ।

२ आडः शासुः इच्छायाम् । अर्थात् आ+शास् = इच्छा ।

३ "दम्" शब्द गृहवाची भी है । (निघं० अ०३, ख०४) । अंग्रेजी का Dome शब्द भी इसी भाव का वाची है । Domestic Science का अर्थ होता है गृहविद्या । सम्भवतः दम्पती शब्द का मौलिक अर्थ हो "गृह के दो पति" अर्थात् वर और वधू ।

४ गां वेदवाणीं धारयति । वेदवाणी के विद्वान् ।

५ अप्सरसः = अप्स (रूप) + र (वाची), अर्थात् रूपवती स्त्रियां । तथा 'अप्' = जल, उसमें "सरस्" सरण करने वाली, विचरने वाली । अर्थात् वनों की नदियों तथा जलाशयों के पास जिन्होंने अपने निवास-स्थान बनाए हुए हैं ।

६ आपस्तम्ब में पाठ है "उह्यमानाम्" । इस स्त्रीलिङ्गी पाठ से प्रतीत होता है कि इस मन्त्र में "वधु" पद द्वारा वधू का ग्रहण करना

हुई (वहतुम्) वधू की (मा) न (हिसिषुः) हिंसा करें ।

सम्भवतः विवाह कराने वाला पुरोहित विवाह-संस्कार में इकट्ठे हुए नर-नारियों के प्रति कहता है कि इस विवाह का मुख्य उद्देश्य है “उत्तम सन्तानों की प्राप्ति” । परन्तु उत्तम सन्तान की प्राप्ति तब तक नहीं हो-सकती जब तक कि पति और पत्नी इस सम्बन्ध में उत्तम संकल्प न करें । वह उत्तम संकल्प है “सुमति-मार्ग की आशंसा” अर्थात् इच्छा करना । पति-पत्नी यदि इच्छापूर्वक इस सुमति-मार्ग का अवलम्बन करेंगे तो निश्चय से उन की सन्तानें सुन्दर, उत्तम तथा श्रेष्ठ बनेंगी । यह सुमति-मार्ग क्या है,—इसका वर्णन पहिले मन्त्रों में हो चुका है ।

विवाह के अनन्तर वधू का रथ, यदि पतिगृह की ओर जाते हुए, वन में से गुजरे तो उस समय उसे चाहिये कि उस वन के निवासी वानप्रस्थियों का भी आशीर्वाद वह प्राप्त करती जाय । और यदि विवाहमण्डप में वानप्रस्थी नर-और-नारियाँ उपस्थित हों तो उनसे भी वधू के लिये आशीर्वाद देने की प्रार्थना करनी चाहिये ।

उनसे यह भी प्रार्थना करनी चाहिये कि यह वधू जब अपने पति-गृह में जाकर बसे तब आप वानप्रस्थी इस के भी गृह के अतिथि बन कर इसके रचाए पितृयज्ञ तथा अतिथियज्ञ में सत्कारों को ग्रहण करनेवाले बनें, तथा इसे इस प्रकार के उपदेश देते रहें ताकि गृहस्थ-जीवन में इस की हिंसा न हो, यह इस जीवन में उन्नति पर उन्नति करती जाय ।

चाहिये । वहतु का अर्थ रथ, पालकी, तथा विवाह भी होता है ।

सम्भवतः वहतु = व (ह) तु = वतु = वधु ।

सत्कार-पूर्वक वधू को भोजना

(७४) ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यच्चा यन्ति जनां अनु ।

पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः ॥

(अथर्व० १४।२।१०)

(ये) जो (यच्चाः^१) पूजनीय लोग, अर्थात् कन्यापक्ष के माननीय लोग, (वध्वः) वधू के (चन्द्रम्^२) आह्लादकारी या चन्द्र के समान शोभा वाले (वहतुम्) रथ के (अनु) साथ २, या पीछे २ (यन्ति) चलते हैं, (जनान् अनु) तथा वधू को ले जाने वाले वरपक्ष के जनों के साथ २, या उनके पीछे २ चलते हैं, (तान्) उन माननीय लोगों को, (यज्ञियाः) विवाह-यज्ञ में आए हुए (देवाः) देव, अर्थात् वर-पक्ष के लोग, (पुनः) फिर वापिस (नयन्तु) ले जाँय, पहुँचा दें, (यतः) जहाँ से कि (आगताः) वे आए थे ।

वधू जिस रथ पर चढ़कर पतिगृह को जाने लगे वह रथ खूब सजा हुआ तथा सुन्दर होना चाहिये, चन्द्र के समान आह्लादकारी होना चाहिये ।

वधू रथ पर सवार होकर जब पतिगृह को जाने लगे तब कन्या-पक्ष के पूजनीय पुरुष वधू के रथ के साथ २ या उसके पीछे २ तथा वरपक्ष के जनों के साथ २ या उनके पीछे २ चलें । यह पद्धति सत्कार के लिए है ।

पश्चात् वर-पक्ष के देव लोग कन्या-पक्ष के इन पूजनीय लोगों को सम्मान-पूर्वक वापिस लौटा दें, अर्थात् इन्हें वे रथ के साथ २ बहुत

१ यच्चाः = यच्च पूजायाम् (चुरादि गण) ।

२ चदी आह्लादने दीसौ च ।

दूर तक जाने का कष्ट न उठाने दें। यह पद्धति कन्या-पक्ष और वर-पक्ष के पूजनीय लोगों में एक दूसरे के सम्मानार्थ है।

कन्या-पक्ष से आशीर्वाद

(७५) मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती ।

सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरतयः ॥

(अथर्व० १४।२।११)

(परिपन्थिनः) मार्ग-विरोधी शत्रु, (ये) जो कि (दम्पती) जाया और पति पर (आसीदन्ति) आ बैठते हैं, वे (मा विदन्) इस जाया और पति को न प्राप्त हों, या जान नहीं। (सुगेन) सुगम अर्थात् सुमति-मार्ग द्वारा (दुर्गम्) दुर्गम अर्थात् दुर्मति-मार्ग को (अतीताम्) वे दोनों लाँघ जावें, (अरातयः) और शत्रु (अप द्रान्तु) दूर हो जावें।

मन्त्रसंख्या ६९, ७० और ७२ में गृहस्थ-जीवन में सुमति-पथ की प्राप्ति तथा दुर्मति-पथ के त्याग का वर्णन आया है। पाठक उन मन्त्रों में सुमति-पथ की व्याख्या देखें।

उपर्युक्त संख्याओं में यह भी कहा गया है कि सुमति-पथ "सुग" अर्थात् सुगम है। इस कथन से यह अर्थापत्ति निकलती है कि इन मन्त्रों के अभिप्राय के अनुसार दुर्मति-पथ सुगम नहीं, अपितु "दुर्गम" है। दुर्मति-पथ को इस मन्त्र में "दुर्ग" शब्द द्वारा सूचित किया गया है। और "सुमति-पथ" को "सुग" शब्द द्वारा। दुर्ग = दुःख से गमन करने योग्य, अर्थात् दुर्गम। सुग = सुख से गमन करने योग्य अर्थात् सुगम।

मन्त्र में "परिपन्थी" पद में "पथ" शब्द पढ़ा है, और "परि" का अर्थ है "विरोधी"। इस शब्द-संगठन से प्रतीत होता है कि इस

मन्त्र में, “परिपन्थी” शब्द द्वारा सम्भवतः सुमति-पथ के विरोधी अर्थात् दुर्मति-पथ का निर्देश किया है। सदाचार, शिष्टाचार, त्याग, यज्ञ, सेवा, परोपकार तथा अन्य उत्तम कर्मों का करना,—गृहस्थ-जीवन का “सुमति-मार्ग” है। और इससे उल्टे भाव-और-कर्म गृहस्थ-जीवन के परिपन्थी हैं, अर्थात् उल्टे मार्ग के हैं, अर्थात् शत्रु हैं।

ये उल्टे भाव-और-कर्म शत्रुरूप हैं, जिनकी कि जाया और पति पर आकर बैठने की प्रायः सम्भावना रहती है। जाया और पति सुमति-पथ पर दृढ़ रहें, ताकि ये शत्रु, जो कि जाया और पति पर प्रायः आ बैठा करते हैं, वे इन्हें प्राप्त न हो सकें, वे इन्हें जानें तक न, अर्थात् इनके साथ उनका कभी संपर्क भी न होने पाए।

जो जाया-और-पति सुगम अर्थात् सुमति-पथ का अवलम्बन कर, दुर्ग अर्थात् दुर्मति-पथ को लाँघते हैं, त्याग देने हैं। उनके ये शत्रु स्वयमेव दूर भाग जाते हैं।

कन्या-पक्ष के पूजनीय पुरुष वापिस लौटते समय दम्पती को इस मन्त्र द्वारा आशीर्वाद देते हैं।

ग्याग्रहवां प्रकरण

वधू का परिचय

(७६) सं काशयामि वहतुं ब्रह्मणा गृहैर्घोरेण

चक्षुषा मित्रियेण ।

पर्याणद्धं विश्वरूप यदस्ति स्योनं पतिभ्यः

सविता तत् कृणोतु ।

(अथर्व० १४।२।१२)

(वहतुम्^१) वधू^१ को, (ब्रह्मणा) अपने पुरोहित-ब्राह्मण के

देखो अथर्व० १४।२।१६ ॥ तथा पुस्तक की मन्त्र संख्या ७३, । इस मन्त्र में भी “वहतु” का अर्थ वधू ही प्रतीत होता है । इस में कारण यह है कि एक तो सारे मन्त्र का अर्थ वधू अर्थ में अच्छा घटता है । दूसरा यह कि आपस्तम्ब में इस मन्त्र के तृतीय पाद में “अस्ति” पाठ के स्थान में “अस्याम्” पाठ है । इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि आपस्तम्ब शाखा में इस मन्त्र में वधू का वर्णन ही अभीष्ट है । प्रोफेसर द्विटनी (अमरीका) अथर्ववेद के इस मन्त्र के अनुवाद में लिखते हैं कि “The commentator Apastamb understands the ornaments worn by the bride as indicated by the reading “अस्याम्” । इस लिये मन्त्र में वहतु=व (ह) तु=वतु=वधु । अथवा “मञ्जाः क्रोशन्ति” की न्याईं वहतु अर्थात् रथ में स्थित वधू को लक्षणा से वहतु कह दिया है ।

साथ, तथा (अघोरेण) घोरता अर्थात् क्रूरता से रहित (मित्रियेण) और स्नेहपूर्ण (चक्षुषा^१) चक्षु वाले (गृहैः) गृह-व्यक्तियों के साथ (सं काशयामि) परिचित कराता हूँ। (पर्याणद्धम्^२) चारों ओर पहना हुआ, (स्योनम्) सुखकारी, (विश्वरूपम्) और विविध प्रकार का (यत्) जो वस्त्र और आभूषण आदि (अस्ति) है, (सविता) कन्या का पिता (तत्) उसे (पतिभ्यः^३) पतियों के सुपुत्र (कृणोतु) कर देवे।

वधू जब पति-गृह के समीप पहुँचे, तब वधू का, वर-पक्ष के पुरोहित तथा वर-पक्ष के गृह-व्यक्तियों के साथ, परिचय करा देना चाहिये।

वर-पक्ष के गृह-व्यक्ति वधू के साथ मित्र की दृष्टि से व्यवहार करें, इस के साथ क्रूर-दृष्टि का व्यवहार न करें।

कन्या का पिता अपनी कन्या को विवाह के समय आभूषणों से अलंकृत कर के वर को देवे। विवाह के समय कन्या के शरीर पर नाना प्रकार के सुन्दर २ आभूषण होने चाहिए।

कन्या-प्रेषण के समय कन्या का पिता, कन्या के आभूषणों को, कन्या के रक्षकों अर्थात् पति तथा श्वसुर आदि के सुपुत्र कर देवे, ताकि मार्ग में किसी प्रकार का चोरी आदि का तथा गुम हो जाने का भय न रहे।

१ चक्षुषा = चक्षुषा उपलक्षितैः गृहैः ।

२ पर्याणद्धम् = परि + आ + नद्धम् (Dressing, Putting on clothes, ornament (आपटे)) ।

३ मन्त्र में "पतिभ्यः" में बहुवचन का प्रयोग है। अतः इसका अर्थ है—“विवाहित कन्या के रक्षक लोग”। पति = पा (रक्षणे) ।

पत्नी की सम्पत्ति

(७७) शिवा नारीयमस्तमाग

न्निमं धाता लोकमस्यै दिदेश ।

तामर्यमा भगो अश्विनोभा

प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु ॥

(अथर्व० १४।२।१३)

(शिवा) कल्याणकारिणी (इयम्) यह (नारी) नारी (अस्तम्) घर अर्थात् पतिगृह में (आ+अगन्) आई है, (धाता) विधाता ने (अस्यै) इस पत्नी के लिए (इमम्) यह (लोकम्) स्थान अर्थात् पति-लोक या पति-गृह (दिदेश^१) निदिष्ट किया है, अथवा धारण-पोषण करने वाले पति ने इस पत्नी को अपना यह गृह दिया है, उसे उसकी सम्पत्तिरूप में दे दिया है। (ताम्) उसे (अर्यमा) आर्य-मन वाला (भगः) छः भगों से सम्पन्न (प्रजापतिः^२ प्रजापालक पति, तथा ' उभा

१ दिश् = To point out, to show, to assign, allot, to give, grant, ... (आपटे कोष) ।

२ प्रजापति पद में ' पति' शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, जिस अर्थ में कि पति शब्द पत्नी के सम्बन्ध में वर्तमान समय में प्रयुक्त होता है। यहां पति का अर्थ है "रक्षक"। अतः वेदों में एक पत्नी के सम्बन्ध में जहां "पतिभ्यः" इस प्रकार बहुवचन में "पति" शब्द का प्रयोग होता है वहाँ "रक्षक" अर्थ भी लिया जा सकता है, केवल विवाहित पति ही नहीं। विवाहित पति के अतिरिक्त, पति के माता, पिता आदि गृह के सब बुजुर्ग नववधू के रक्षक होते हैं इसलिये वे पति कहलाते हैं।

अश्विना = उभौ अश्विनौ) पति के दोनों माता-पिता (प्रजया) प्रजा द्वारा, सन्तान द्वारा (वर्धयन्तु) बढ़ावें।

वधू जब पतिगृह में प्रवेश करे तब गृह-पुरोहित कहे कि :—

यह नारी शिव-स्वरूप है, कल्याण-स्वरूप है, जो कि इस घर में आई है।

पति-पत्नी के इस सम्बन्ध को विधाता ने निश्चय किया है, इसलिये इस सम्बन्ध को, बुद्धिमत्ता से, स्थिर, पवित्र तथा आनन्दमय बनाए रखना चाहिये।

विवाह के अनन्तर पति को चाहिए कि वह अपना निजगृह अपनी विवाहित पत्नी के नाम कर दे, उसे अपनी पत्नी की सम्पत्ति के रूप में निश्चित कर दे।

पति में तीन गुण होने चाहिएँ। पहला यह कि वह आर्यमन वाला हो। दूसरा यह कि वह छः भगों से सम्पन्न हो। और तीसरा यह कि वह अपनी सन्तान की रक्षा तथा पालना कर सकने में समर्थ हो। भग = ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य।

पति तथा पति के माता-पिता, वधू को, प्रजा द्वारा बढ़ावें। पत्नी की वास्तविक वृद्धि केवल अचेतन धन तथा पशुओं द्वारा ही नहीं होती, अपितु इसको वास्तविक वृद्धि का कारण है उसकी गोद में पुत्र-रत्नों का होना। इसलिए पत्नी को चाहिए कि वह अपनी इस अमूल्य सम्पत्ति की रक्षा प्राणपण से किया करे।

आत्मिकशक्तियुक्त उपजाऊ पत्नी

(७८) आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन्

तस्यां नरो वपत बीजमस्याम् ।

सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो

विभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः ॥

(अथर्व० १४।२।१४)

(आत्मन्वती) आत्मवती, आत्मावाली, आत्मिकशक्ति से युक्त, (उर्वरा^१) और उपजाऊ, (इयम्) यह (नारी) नारी (आ + अगन्) आई है, (तस्याम्, अस्याम्) उन शक्तियों से सम्पन्न इस नारी में, (नरः^२) हे नरो ! (बीजम्) बीज (वपत^३) बोओ, सा) वह नारी (ऋषभस्य) श्रेष्ठ पति के (दुग्धम्) दूध सदृश (रेतः) वीर्य को (विभ्रती) धारण तथा पोषण करती हुई (वक्षणाभ्यः^३) पेट से (वः^३) तुम्हारे लिये

- 1 नारी का विशेषण उर्वरा दिया है । उर्वरा शब्द का प्रयोग "उ-जाऊ भूमि" के अर्थ में हुआ करता है । नारी के सम्बन्ध में उर्वरा शब्द के प्रयोग द्वारा सूचित किया है कि नारी भूमि सदृश है । इसीलिए इस पुस्तक की मन्त्र संख्या १ में भूमि का अर्थ स्त्री किया गया है । मन्त्र संख्या १०२ में भी स्त्री में बीज बोने का वर्णन हुआ है ।
- 2 इस मन्त्र के दूसरे पाद में बीज बोने वाले अनेक प्रतीत होते हैं, जैसे कि "नरः" और "वपत" इन बहुवचनान्तर शब्दों द्वारा प्रतीत हो रहा है । सम्भवतः विवाहित पति तथा नियुक्त पतियों की दृष्टि से यहां का बहुवचन सार्थक हो । तीसरे पाद के "वः" पद का भी यही समाधान सम्भव है ।
- 3 वक्षणा = The stomach or abdomen ; (आपटे) ।

(प्रजाम्) सन्तान को (जनयत्^१) जन्म देवे ।

गृह-पुरोहित उपदेश देता है कि :—

आत्मिकशक्ति से सम्पन्न स्त्री में बीज बोना चाहिये । क्योंकि आत्मिक शक्ति से विहीन स्त्री में बोया गया बीज यदि उपजेगा तो वह निःसार, निःशक्त, डरपोक तथा लम्पट होगा, और अनात्म पदार्थों में आसक्त रहने वाला होगा ।

इसी प्रकार अन्न-उपजाऊ स्त्री में भी बीज न बोना चाहिये । अनुपजाऊ अर्थात् वन्ध्या में डाला गया बीज व्यर्थ जाता है, वह पुरुष की शक्ति का नाशक होता है और निष्प्रयोजन होता है । कोई किसान अनुपजाऊ भूमि में अपना बीज नहीं बोया करता । इसी प्रकार अनुपजाऊ स्त्री में भी अपनी शक्ति का बीज न बोना चाहिए — इस भाव को समझाने के लिए ही स्त्री के सम्बन्ध में उपजाऊ या उबरा विचरण दिया गया है ।

वधू को चाहिए कि वह ऋषभ अर्थात् श्रेष्ठ पति के वीर्य को अपने गर्भ में स्थापित करे और तत्पश्चात् उस गर्भ का पोषण करे । कभी भी वह अश्रेष्ठ, कुकर्मी तथा अधर्मी के वीर्य को अपने गर्भ में न आने दे । इस भय से कि सन्तान कहीं अश्रेष्ठ उत्पन्न न हो जाय ।

श्रेष्ठ वीर्य की पहचान यह है कि वह या तो गौ के दूध के रंग वाला हो या शहद के गन्ध और रंग वाला हो^२ ।

१ लट् लकार, अट् । अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा में जनयात् प्रयोग है ।

२ अथवा मन्त्र में “विभ्रती दुग्धम्” का यह अभिप्राय भी प्रकट किया गया है कि नारी अपने स्तनों में दूध को धारण करती हुई सन्तान को जन्म देवे । उत्पन्न हुए बच्चे के लिये अपनी माता का दूध ही परम अन्न है । इसलिये माता को यत्न करना चाहिये कि उस का दूध पुष्टिदायक, नीरोग तथा पर्याप्त मात्रा में हो ।

गृहमन्दिर की देवता

(७६) प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति ।

सिनीवालि प्र जायतां भगस्य समतावसत् ॥

(अथर्व० १४।२।१५)

(प्रति तिष्ठ) हे पत्नी ! तू दृढ़ रूप से स्थित हो, (विराट् असि) तू विराट् है । (सरस्वति) हे सरस्वती ! (इह) इस पति-गृह में (विष्णुरिव) विष्णु की न्याई तू है । (सिनीवालि) हे सिनीवालि ! (प्रजायताम्) तुझ से प्रजा उत्पन्न हो, (भगस्य) जो कि भग की (सुमतौ) सुमति में (असत्) रहे ।

गृह-पुरोहित नव-वध को उपदेश देता कि :—

इस पति-गृह में तू दृढ़रूप से स्थित हो, इस से तू विचलित न हो, इस गृह को तू अपना गृह जान, इसे छोड़कर तू अन्यत्र न जा । तथा इस गृह में तू इस प्रकार से व्यवहार कर जिससे कि इस गृह में तथा सर्वत्र तेरी प्रतिष्ठा फैले ।

तू विराट् है, पृकृति है । पृकृति और परम-पुरुष का अनादि सम्बन्ध है । पृकृति से जगत् उत्पन्न होता है और परम-पुरुष उस में प्रेरक है । इसी प्रकार इस गृहस्थ-जगत् में तू पृकृति-रूप है और तेरा

1 विष्णु व्याप्तौ ।

2 “सिनीवाली देवपत्नी”—इति नैरुक्ताः । सिनमन्नं भवति, तद्वती = सिनी । वालैस्तद्वती = वाली । (निरु० अ० ११, पा० ३, ख० १०) । अर्थात् अन्न वाली और वालों वाली देवपत्नी को सिनीवाली कहते हैं ।

3 छः भगों से सम्पन्न पति को यहां भग कहा है ।

पति परम-पुरुष-रूप है । पृकृति और परम-पुरुष का जो सम्बन्ध है, वैसा ही पवित्र सम्बन्ध तुम दोनों का भी हो ।

तू सरस्वती वन, विद्या तथा ललितकला की प्रीतिमा वन । ताकि तेरे इस गृह-जगत् में ज्ञान और विद्या का प्रकाश बना रहे । वैदिक दृष्टि से आदर्श पत्नी “सूर्या” है, आदित्य-ब्रह्मचारिणी है । जिस प्रकार आदित्य-ब्रह्मचारी विद्या से पूर्ण होता है उसी प्रकार आदित्य-ब्रह्मचारिणी भी विद्या से पूर्ण होनी चाहिये ।

गृह-पुरोहित कहता है कि तू विष्णु है । विष्णु जगत् का परमदेव है, जोकि जगत् में व्याप्त है । तू इस गृह-जगत् की परम-देवता है, तू गृह के सब कार्य-धन्धों में व्याप्त हो । तू गृह-देवता है, तू साक्षात् विष्णु है । तू सिनीवाली है । “सिनी” का अर्थ है अन्न वाली । तथा “वाली” का अर्थ है वालों वाली । पत्नी को अन्न की विद्या अवश्य ज्ञात होनी चाहिये । अन्नो का ऋतु-अनुकूल ज्ञान, उन के परिपाक का ज्ञान, उन्हें स्वादिष्ट बनाने का ज्ञान पत्नी को अवश्य होना चाहिये । साथ ही सिर पर बालों का रखना भी पत्नी का एक विशेष शृङ्गार है । इन दो दृष्टियों से पत्नी को सिनीवाली कहा गया है । निरुक्त सम्प्रदाय के मत में सिनीवाली देवपत्नी है, देवों अर्थात् विद्वानों की पत्नी है । इस प्रकरण के अनुसार “सूर्या” अर्थात् आदित्य ब्रह्मचारिणी को यहां सिनीवाली कहा है । वह आदित्य-देव की पत्नी है, आदित्य-ब्रह्मचारी की पत्नी है । अतः सिनीवाली देवपत्नी है,— यह कथन बहुत उचित प्रतीत होता है ।

तुझ से उत्तम सन्तति उत्पन्न हो, और उसे तू इस प्रकार से शिक्षित कर ताकि वह अपने पिता की सुमति में रहे । अर्थात् तेरी सन्तान अपने पिता की आज्ञा में रहे, उसकी सुमति पर चले, दुर्मेति-पथ पर न चले ।

स्त्रियों के हृदयों में शान्ति की लहरें

(८०) उद् व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत ।

मादुष्कृतौ व्येनसावघ्न्यावशुनमास्ताम् ॥

(अथर्व० १४।२।१६)

(शम्याः^१) हे शान्त स्वभाव वाली स्त्रियो ! तुम से (वः) तुम्हारी (शम्या) शान्तिमयी (ऊर्मिः) लहर (उद् हन्तु^२) उठा करे । (आपः^३) हे जल की न्याईं शान्त स्त्रियो ! (योक्त्राणि) तुम बन्धनों को (उन्मुञ्चत) त्याग दो, खोल दो । (अदुष्कृतौ) तुम दोनों अर्थात् पति-और-पत्नी दुष्कर्मों से रहित हो कर, (व्येनसौ) और पापों से रहित हो कर, (अघ्न्यौ) और अवध्य हो कर, (अशुनम्^४) असुख को, (मा) न (आ+अस्ताम्^५) प्राप्त होओ ।

१ “शम्या” शब्द का दो बार अन्वय किया गया है । एक बार तो “शम्या” शब्द स्त्रियों का विशेषण हुआ है और दूसरी बार ऊर्मि का । प्रथम अवस्था में शम्यापद बहुवचनान्त है, यथा “शम्याः”, और दूसरी अवस्था में शम्या शब्द एकवचनान्त है, यथा ‘शम्या’ । मन्त्र में “शम्या” की विसर्ग लुप्त है, अतः इसे दोनों प्रकार से समझा जा सकता है ।

२ उद्+हन्तु = उद्+गच्छतु । हन्=गतौ । हन् हिंसागत्योः ।

३ आपः वै योषा । (श० ब्रा० १-१-१-१८) । तथा “शान्तिं वा आपः । (ऐ० ब्रा० ७।५) । “आपो हि शान्तिः” । (ताँ० ब्रा० ८, ७, ८) ।

४ अशुन् = अ+शुन (सुख) ।

५ ऋ गतिप्रापणयोः (भ्वादि गण) ।

इस मन्त्र द्वारा, वरपक्ष का पुरोहित, पहिले वधू और वधू के साथ बँठी हुई स्त्रियों को उपदेश देता है, और फिर वधू और वर दोनों को उपदेश देता है कि:—

पुरोहित स्त्रियों को “आपः” शब्द द्वारा सम्बोधित करता है। ‘आपः’ शब्द का अर्थ है जल। जल में स्वाभाविक शीतलता तथा शान्ति होती है। गरमी जल का स्वाभाविक गुण नहीं। इस लिए “आपः” शब्द द्वारा स्त्रियों को निदिष्ट कर के पुरोहित उन्हें यह उपदेश देता है कि तुम्हें जल की न्याईं शीतल तथा शान्त होना चाहिए। शीतलता तथा शान्ति तुम्हारे स्वाभाविक गुण होने चाहिए। पुरोहित कहता है कि जल में जैसे शान्त लहरें उठा करती हैं वैसे ही तुम्हारे हृदयों में भी शान्त लहरें उठें, जिससे कि तुम्हारे चारों ओर का वायुमण्डल शीतल तथा शान्त बना रहे। और तुम्हारे गृहजीवनों में कलह की गरमी होने न पावे।

पुरोहित स्त्रियों के प्रति यह भी कहता है कि तुम बन्धनों को ढीला कर दो, उन्हें त्याग दो, छोड़ दो। अनुचित राग-द्वेष, अनुचित काम क्रोध, अनुचित लोभ-मोह आदि के बन्धनों के त्यागने की ओर यहाँ निर्देश किया गया है।

पुरोहित वधू और वर को भी उपदेश देता है और कहता है कि तुम दोनों दुष्कर्मों को त्याग दो। पापों से रहित हो जाओ। और इस प्रकार अवध्य हो जाओ। तथा असुख को प्राप्त न होओ।

इन चार उपदेशों में कार्यकारणभाव की शृङ्खला है। दुष्कर्मों से पृथक् होने पर पापों से मुक्त हो जाना युक्ति-सिद्ध है। पापों से मुक्त हो जाने पर व्यक्ति अवध्य बन जाते हैं, इनका नाश नहीं होता, ये पूर्ण आयु भोग कर मरते हैं, और अन्त में जन्म-मरण

के बन्धन से छूट जाते हैं। इस प्रकार अवध्य हो जाने पर व्यक्ति असुख को प्राप्त नहीं होते।

असुख के दो अर्थ होते हैं। एक “सुख का न होना” और दूसरा “दुःख का होना”। “सुख का न होना” और “दुःख का होना”—ये दोनों अवस्थाएं उपादेय नहीं हैं। मनुष्य दुःख से तो सदा द्वेष करता है, और सुखाभाव की अवस्था को भी इच्छापूर्वक नहीं चाहता। दुष्कर्मों और पापों से रहित होने पर मनुष्य जब अवध्य हो जाता है तब वह “असुख” को प्राप्त नहीं होता। तब उस की आत्मा में आध्यात्मिक सुख सदा बना रहता है और वह दुःखों से छुटकारा पा जाता है। वह जीवन्मुक्त सा हो कर सांसारिक दुःखों की कटु-अनुभूतियों से ऊपर उठ जाता है।

बाह्यवां प्रकरण पत्नी का प्रेममय-व्यवहार

(८१) अघोरचक्षुःपतिघ्नी स्योना

शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः ।

वीरसूदेवकामा सं त्वयै—

धिषीमहि सुमनस्यमाना ॥

(अथर्व० १४।२।१७)

(अघोरचक्षुः) न क्रूर आँखों वाली, (अपतिघ्नी) न पति-वातिनी, (गृहेभ्यः) गृहवासियों के प्रति (स्योना) सुखदायिनी, (शग्मा^१) सबको शान्ति पहुँचाने वाली, (सुशेवा^२) उत्तम प्रकार से सबकी सेवा करने वाली, (सुयमा^३) उत्तम नियन्त्रण करने वाली तथा यम-नियमों का सेवन करने वाली, (वीरसूः) वीरपुत्रों को पैदा करने वाली, (देवकामा^४) देवों की कामना करने वाली, (सुमनस्यमाना) उत्तम मन वाली तथा पूसन्न-चित्त रहने वाली तू बन । (त्वया) इन गुणों से सम्पन्न जो तू

१ शं गमयति प्रापयति । (जो शान्ति पहुँचाने वाली हो)

२ शेवृ सेवने ।

३ नियमों में रखने वाली, अथवा उत्तम प्रकार से यम-नियमों का पालन करने वाली ।

४ महर्षि दयानन्द संस्कार-विधि में “देवकामा” की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि “तू देव की कामना करती हुई अर्थात् नियोग की भी इच्छा करने वाली..... सदा हो” ।

है उस द्वारा (समेधिषीमहि) हम सब सम्यक् प्रकार से बढे ।

पुरोहित के उपदेश के पश्चात् गृहवासी, नववधू को गृहस्थ-जीवन के मार्ग का निर्देश करते हैं । यथा :—

तेरी आंख क्रूर कभी न हो, तू गुस्सा करने वाली कभी न हो । अपितु प्रेमभरी दृष्टि वाली सदा हो ।

तू पति-घातिनी न हो, अपितु पति के साथ प्रेम करने वाली हो ।

तू गृहवासियों के प्रति सुखदायिनी, उन्हें शान्ति पहुंचाने वाली, उन सबकी उत्तम विधि से सेवा करने वाली, तथा उन पर उत्तम शासन करने वाली बन । तथा स्वयं भी शासन में रहने वाली बन ।

तू वीर सन्तानों को उत्पन्न करने वाली बन । डरपोक, कमजोर और धर्म के भावों से शून्य सन्तानों का तू उत्पन्न न करने वाली बन ।

तू देवों और ज्येष्ठों की भी कामना कर । कामना कर कि वे भी तेरे पति-गृह में सुखपूर्वक रहें । उनकी उन्नति तथा समृद्धि की सदा कामना किया कर ।

तू सदा सुप्रसन्न रहा कर । कभी भी अप्रसन्नता की रेखा तेरे मुख पर न दीखे ।

तू यदि इन गुणों से सम्पन्न होगी तो हम सब गृहवासी तुझ द्वारा सम्यक् प्रकार से बढ सकेंगे, तुझ द्वारा हमारे कुल की वृद्धि हो सकेगी, नहीं तो घर अशान्ति, कलह और लड़ाई-दंगे का अखाड़ा बना रहेगा ।

पत्नी द्वारा अग्निहोत्र

(८२) अदेवृध्न्यपतिघ्नीहैधि

शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः ।

प्रजावती वीरसूदेवृकामा

स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्यं ॥

(अथर्व० १४।२।१८)

हे वधु ! (इह) इस पतिगृह में तू (अदेवृध्नी) देवों की हत्या न करने वाली, (अपतिघ्नी) पति की हत्या न करने वाली, (पशुभ्यः) पशुओं के लिए (शिवा) उनकी सेवा करने वाली, (सुयमा) उत्तम नियन्त्रण करने वाली, उत्तम शासन करने वाली, या उत्तम रूप से यम-नियमों पर चलने वाली, (सुवर्चाः) उत्तम प्रकार से तेज से और शारीरिक कान्ति से युक्त, (प्रजावती) उत्तम पूजा से सम्पन्न, (वीरसूः) वीर प्रसविनी, (देवृकामा) देवों की कामना वाली, (स्योना) तथा सबको सुख देने वाली (एधि) बन । (एनम्) और इस (गार्हपत्यं-अग्निम्) गार्हपत्याग्नि की (सपर्यं) परिचर्या किया कर, सेवा किया कर ।

पाणिनि मुनि ने “गार्हपत्य” पद की सिद्धि के लिये एक सूत्र रचा है । यथा “गृहपतिना संयुक्ते न्यः” (अष्टाध्यायी ४।४।१०) । इस सूत्र द्वारा सिद्ध किया गया है कि गार्हपत्य वह अग्नि है जिसका कि सम्बन्ध गृहपति के साथ होता है । मनुष्य जब गृहपति बनता है अर्थात् वह विवाह कर जब गृह का स्वामी बनता है, तभी से उसे इस अग्नि की स्थापना अपने गृह में करनी होती है । कर्द्यों का यह विचार है कि विवाह की अग्नि को ही छाकर उसे गृह में

इस मन्त्र में भी गृहवासी नववधू को उपदेश देते हैं कि :—

तू ने देवों को कष्ट न पहुँचाना । पति को कष्ट न पहुँचाना ।

घर के पशुओं की सेवा करना, उनकी देख-भाल में आलस्य न करना । गृहवासियों पर उत्तम शासन अर्थात् प्रेम का शासन करना । तथा स्वयं यम-नियमों का पालन करना ।

गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए भी अपने शारीरिक-वर्चस् को, अपनी शरीर की दीप्ति, कान्ति तथा तेज को बनाए रखना, उत्तम पूजा वाली होना, वीर सन्तान को उत्पन्न करना । सब गृहवासियों को सुखी रखना तथा प्रतिदिन गार्हपत्य-अग्नि की पूजा किया करना, इसे कभी बुझने न देना और इसमें दैनिक अग्निहोत्र किया करना ।

अग्निहोत्र के बाद पत्नी-मनन

(८३) उचिष्ठेतः किमिच्छन्तीदमागा

अहं त्वेडे अभिभूः स्वाद् गृहात् ।

शून्यैषी निऋते याजगन्धो—

त्तिष्ठाराते प्रपत मेह रंस्थाः ॥

(अथर्व० १४।२।१६)

अग्निहोत्र करने के बाद (इतः) इस गार्हपत्य-अग्नि के स्थान से हे पत्नी ! तू (उत्तिष्ठ) उठ, और उठने के बाद प्रतिदिन सोचा कर

गार्हपत्याग्नि के रूप में रखा जाता है । यह अग्नि गृह में सदा विद्यमान रहनी चाहिये । गृहवासियों को इसी में दैनिक अग्निहोत्र करना चाहिये । इस मन्त्र में गार्हपत्याग्नि की सेवा का कार्य पत्नी को सौंपा गया है ।

(किम् इच्छन्ती) कि किस उद्देश्य की इच्छा से (इदम्) इस पति-गृह में (आ + अगाः) तू आई है । (अहम्) मैं पति (त्वा ईडे) तेरी स्तुति करता हूँ ; तेरे सदगुणों का गान करता हूँ ; जो तू कि इस प्रकार से गार्हपत्य-अग्नि की सेवा करनेवाली तथा अपने गृहस्थ-जीवन के उद्देश्य पर विचार करनेवाली है । हे पत्नी ! कष्ट के प्रति तू कहा कर कि (निर्ऋते !) हे मूर्तिमयी आपत्ति ! (स्वाद् गृहात्) मैं अपने गृह से (त्वा) तुझे (अभिभूः) पराभूत करती हूँ, तुझे निकाल देती हूँ, (शून्यं-पां) क्योंकि तू गृह का शून्य बना देनेवाला है, (या) जो तू (आजगन्ध = आजगन्ध) हमारे गृह में आ गई है, वह तू (उत्तिष्ठ) यहाँ से उठ जा, चली जा, (अराते) हे शत्रु-रूप आपत्ति ! (पूत) यहाँ से भाग जा, (इह) इस हमारे गृह में (मा, तू मत (रंस्थाः) रमण कर ।

पत्नी प्रतिदिन गार्हपत्य-अग्नि में अग्निहोत्र कर, वहाँ से उठकर, सोचा करे कि पति-गृह में उसके आने का क्या प्रयोजन है ? ताकि इस प्रयोजन के अनुसार ही वह अपने गृहस्थ-जीवन को ढाल सके ।

जो पत्नी अपने गृहस्थ-जीवन के उद्देश्य को समझती है और उसके अनुसार गृहस्थ-जीवन में चलती है उस गुणवती देवी का, पति, सदा सत्कार किया करे, उसके गुणों के कारण उसकी सदा पूजा किया करे ।

पत्नी गृह-कष्टों का भी मनन किया करे । उनके कारणों को खोज कर उन्हें हटाने के लिए यत्न किया करे, ताकि घर में कष्टों को स्थान न मिल सके ।

अथवा

(निर्ऋते) हे मूर्तिमयी आपत्ति ! (इतः) इस घर से (उत्तिष्ठ) तू उठ जा, (किम्) क्या (इच्छन्ती) चाहती हुई (इदम्) इस घर में (आगाः) तू आई है ? , (अभिभूः) तेरा पराभव करनेवाली (अहम्) मैं

(स्वात्) अपने (गृहात्) घर से (त्वा) तुझे (ईडे^१) निकाल देती हूँ ।
 (शून्यैषी) शून्यता चाहने वाली, गृह को शून्य बना देने वाली, (या)
 जो तू (आजगन्ध) इस गृह में आ गई है (उत्तिष्ठ) वह तू उठ जा,
 (अराते) हे शत्रुरूप ! (पूपत) यहाँ से दौड़ जा, भाग जा, (इह) इस
 गृह में (मा) तू मत (रंस्थाः) रमण कर ।

दैनिक अग्निहोत्र के पश्चात् पत्नी प्रतिदिन ऊपर लिखा संकल्प
 किया करे । और अग्निहोत्र द्वारा गृह की विमारियों को भगाया करे,
 तथा प्रयत्न और बुद्धिमत्ता के द्वारा गृह के अन्य कष्टों का मुकाबिला
 किया करे ।

अग्निहोत्र के बाद नमस्कार

(८४) यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम् ।

अथा सः स्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥

(अथर्व० १४।२।२०)

(यदा) जब (इयम्) यह (वधूः) वधू (पूर्वम्) पहिले (गार्हपत्य-
 मग्निम्) गार्हपत्य-अग्नि की (असपर्यैत्) परिचर्या कर ले, अर्थात् अग्नि-
 होत्र कर ले, (अथा) तदनन्तर (नारि) हे नारी ! हे वधू ! तू
 (सरस्वत्यै) सरस्वती^२ को, सास को, (पितृभ्यश्च) और फिर पितरों

१ ईडे = ईरे । र, ल और ड में प्रायः अभेद हो जाया करता है ।

ईर = गति और कम्पन ।

२ देखो, अथर्ववेद १४।२।१५ । इस मन्त्र में विदुषी स्त्री को सरस्वती
 कहा है । “पढ़ी लिखी और विदुषी सास को यहां सरस्वती कहा
 है” । मन्त्र में सरस्वती का अर्थ ‘विद्या’ भी किया जा सकता
 है । इस दृष्टि में “सरस्वती” का अर्थ है “स्वाध्याय” । अग्नि-

को, ससुर आदि को, (नमः कुरु) नमस्कार किया कर ।

बधू पहिले गार्हपत्य-अग्नि की प्रतिदिन सेवा किया करे ।
अर्थात् गार्हपत्य-अग्नि में अग्निहोत्र किया करे ।

तदन्तर सास को नमस्कार किया करे और पुनः ससुर आदि
बुजुर्गों को नमस्कार किया करे । आजकल सास और ससुर आदि
बुजुर्गों को प्रतिदिन नमस्कार करना, पत्नी अपनी बान तथा लज्जा-
शीलता के विरुद्ध समझती है । परन्तु वेद उपदेश देता है कि सास
और ससुर आदि बुजुर्गों का, नमस्कार द्वारा सत्कार करना, पत्नी का
प्रतिदिन का कर्तव्य है । अग्निहोत्र में देव-पूजन के करने के पश्चात्
पत्नी को घर के देवों अर्थात् माता, पिता आदि का भी प्रतिदिन पूजन
अवश्य करना चाहिये ।

होत्र के पश्चात् पत्नी को प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिये । इस
अर्थ के होते "पितृभ्यः" पद में एकशेष मानना चाहिये । अर्थात्
"पितृभ्यः" का अर्थ होगा "पिता और माता आदि बुजुर्गों को" ।

तेरहवां प्रकरण

प्रसूति-गृह में दैनिक अग्निहोत्र

(८५) शर्म वर्मेतदा हरास्यै नार्या उपस्तरे ।

सिनीवालि प्रजायतां भगस्य सुमतावसत् ॥

(अथर्व० १४।२।२१)

(शर्म^१) सुख देने वाली, (वर्म) और कवच रूप, (एतत्^२) इस गार्हपत्य-अग्नि को, (अस्यै नार्यै=अस्या नार्याः) इस नारी के (उपस्तरे) बिस्तरे, बिछौने के समीप (आहर) हे पति ! तू ला । (सिनीवालि) हे सिनीवाली ! (प्रजायताम्) उत्कृष्ट सन्तान तुझ से उत्पन्न हो, (भगस्य) जो कि छः भगों से सम्पन्न अपने पिता की (सुमतौ) सुमति में (असत्) रहे ।

प्रसूति-काल^३ में गर्भवती ऐसे कमरे में रहे जिसमें कि गार्हपत्य-अग्नि सदा जलती रहे और उसमें दैनिक अग्निहोत्र होता रहे । यह गार्हपत्य-अग्नि आसन्न-प्रसवा वधू के बिस्तरे या बिछौने के समीप हो ।

यह गार्हपत्य-अग्नि शर्म है अर्थात् सुख देने वाली है, स्वास्थ्य तथा आरोग्यता देने वाली है ।

यह अग्नि वर्म है । यह रोगों को आने नहीं देती । यह गार्ह-

१ शर्म = सुख । (निरुक्त १।३१ पर दुर्गाचार्य की व्याख्या) ।

२ “एतत्”—पद सर्वनाम है । अतः मन्त्रसंख्या ८२ से ८४ में वर्णित गार्हपत्याग्नि का द्योतक है ।

३ गर्भाधान की विधि का वर्णन आगे के मन्त्रों में होगा । यहां केवल यह दर्शाना अभीष्ट है कि जब सन्तानोत्पत्ति का काल निकट हो उस समय प्रसूतिकर्म के लिये क्या २ करना चाहिये ।

पत्य-अग्नि आसन्न-प्रसवा स्त्री का मानो कवच है। इस कवच के होते आसन्न-प्रसवा स्त्री पर रोगों के तीर प्रहार नहीं कर सकते।

मन्त्र के पिछले आधे भाग का भाव पुस्तक संख्या ७६ में अथवा अथर्व० १४।२।१५ में देखो।

प्रसूति के समय का विद्यौना

(८६) यं बल्वजं न्यस्यथ चर्मं चोपस्तृणीथन।

तदा गोहतु सुप्रजा या कन्या विन्दते पतिम् ॥

(अथर्व० १४।२।२२)

(यम्) जिस (बल्वजम्^१) बल्वज-घास को (न्यस्यथ) नीचे फैकते हो, नीचे भूमि^२ पर बिछाते हो, (चर्मं च) और चर्म अर्थात् मृगचर्म को (उपस्तृणीथन) उस बल्वज घास पर बिछाते हो, (तद्) उस पर (सुप्रजा) उत्तम प्रजा उत्पन्न करने वाली पत्नी (आरोहतु) आरुढ़ हो, (या) जो पत्नी कि पहिले कन्या थी और जिसने कि (पतिम्) पति को (विन्दते) प्राप्त कर लिया है, अर्थात् जिसका विवाह हो चुका है।

सन्तान को जन्म देने के लिए उसकी माता को प्रसूतिगृह^३ में

१ बल्वज = Eleusine indica. A coarse rush-like grass (द्विडनी, अथर्व०)। चरक में प्रसूतिगृह में “बल्वज” के बिछाने का विधान है (चरक, शारीरस्थान अध्याय ८)।

२ प्रसवपीड़ा के समय, चरक में, भूमि पर शयन का विधान है। यथा-आवीप्रादुर्भावे तु भूमौ शयनं विदध्यात्, मृदास्तरणोपपन्नम्। आवी=प्रसव वेदना। (चरक, शारीरस्थान, अध्याय ८)।

३ चरक में प्रसूतिगृह का निम्नरूप में वर्णन हुआ है। यथा :—

मृगचर्म पर लेटाना चाहिए जिस के नीचे बल्वज-घास बिछी हो । यह बिछीना भूमि पर होना चाहिए ।

प्रसूतिकाल में अग्निहोत्र

(८७) उप स्तृणीहि बल्वजमधि चर्मणि रोहिते ।

तत्रोपविश्य सुप्रजा इममग्निं सपर्यतु ॥

(अथर्व० १४।२।२३)

(बल्वजम्) बल्वज घास को (उपस्तृणीहि) पहले भूमि पर बिछाओ, (तत्र) और उस पर (अधिरोहिते) बिछाए गए (चर्मणि)

प्राक् चैवास्या नवमान्मासात् सूतिकागारं कारयेत् । ... पशुस्त रूपरसगन्धायां भूमौ, पादद्वारमुदक्द्वार वा । तत्र बैलवानां काष्ठानां, तिन्दुकैर्द्वादकानां भल्लातकानां वारणानां खदिराणां वा, यानि चान्यान्यपि, ब्राह्मणाः शंसैर्युग्धवेदावदः । ... तैन्दुकैर्द्वादानि च काष्ठानि अग्निसन्धुत्तणानि ॥ (चरक, शारीरस्थान, अ० ८) । अर्थात् प्रसूति के लिये पहिले से ही सूतिकागृह तय्यार करवा रखना चाहिये । सुन्दर दृश्यों वाली, रसीले वृत्तों वाली तथा फूलों के गन्धों से सुगन्धित भूमि में, यह सूतिकागृह बनवाना चाहिये । इसका द्वार पूर्व या उत्तर की ओर हो । अग्निहोत्र के लिये इसमें बेल, तेंदु, गोंदी भिलावा, वरणा वा खैर की समिधाएँ होनी चाहियें तथा इसमें वह सब सामान भी होना चाहिये जिसे कि आवश्यकता अथर्ववेद के विद्वान् कहें । (चरक, शारीरस्थान, अ० ८) ।

I कई इसका अर्थ करते हैं कि “लाल चर्म पर बल्वज-घास को बिछा कर और उस पर बैठ कर पत्नी गार्हपत्य-अग्नि की सेवा

मृगचर्म^२ पर, सुप्रजाः) उत्तम सन्तान को जन्म देने वाली वधू (उप-विश्य) बैठ कर (इमम्) इस (अग्निम्) गार्हपत्य अग्नि की (सपयंतु) सेवा करे अर्थात् इस अग्नि में अग्निहोत्र^३ करे, या इसमें प्रसूति के समय की आहुतियां देवे ।

करे” । परन्तु मन्त्रसंख्या ८८ में चर्म पर सीधे आरोहण का वर्णन हुआ है । इसलिये चर्म को ऊपर बिछाने का ही विधान सूचित होता है ।

- २ मृगचर्म पर बैठ कर अग्निहोत्र करने का विधान चरक में गर्भाधान प्रकरण में किया गया है । यथा :— “तां पश्चिमेनाहतवस्त्र-संचये श्वेतर्षभे वाप्यजिन उपविशेत् ब्राह्मणप्रयुक्तः । राजन्य-प्रयुक्तस्तु वैयाघ्रे चर्मण्यानदुहे वा । वैश्यप्रयुक्तस्तु रौरवे वास्ते वा । तत्रोपविष्टः पालाशांभिरैङ्गुलीभिरौदुम्बरीभिर्मधुकीभि वा समिद्भि-रग्निमुपसमाधाय..... काम्यामिष्टिं निर्वपेत् ॥ (चरक, शारीर-स्थान अ० ८) ॥

अर्थात् उस वेदि के पश्चिम में एक नया वस्त्र बिछा कर, उस पर सुफेद बैल या मृग का चर्म बिछा कर बैठे । यह विधि ब्राह्मण के घर की है । क्षत्रिय के घर में व्याघ्र या बैल का चर्म बिछावे । वैश्य के घर में रूख या बकरे का चर्म बिछावे । तदनन्तर ढाक, गोंदी, गूलर या माधुकी की समिधाओं में अग्नि-स्थापन कर गर्भाधान याग करे । इन मन्त्रों में आदर्श-विवाह की विधि में “ब्रह्मा” के विवाह का वर्णन आदर्श रूप में किया गया है । अतः मन्त्रसंख्या ८६, ८७, ८८ में मृगचर्म का ग्रहण करना चाहिये । ब्रह्मा=ब्राह्मण ।

प्रसूतिकाल में अग्निहोत्र से लाभ

(८८) आ रोह चर्मोप सीदाग्निमेष

देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा ।

इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै

सुज्यैष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः ॥

(यथर्व० १४।२।२४)

हे पत्नी ! तू (चर्म) मृगचर्म पर (आरोह) आरूढ़ हो, (अग्निम्) गार्हपत्य अग्नि के (उपसीद^१) समीप बैठ और उसकी उपासना कर । (एषः) यह (देवः) अग्निदेव (सर्वा रक्षांसि) सब राक्षसों का अर्थात् रोगों और रोगकृमियों का (हन्ति) नाश करता है । (इह) इस मृगचर्म पर (अस्मै पत्ये) इस पति के लिए (प्रजाम्) पूजा को (जनय) जन्म दे, (एषः) यह (ते) तेरा (पुत्रः) पुत्र (सुज्यैष्ठ्यः) बड़ी आयु वाला (भवत्) हो, अथवा उत्तम तथा महान् हो ।

पुत्रोत्पादन के काल में पत्नी का विस्तरा मृगचर्म होना चाहिए जिसके कि नीचे बल्वज घास बिछा हो । प्रसूतिकाल के इन दिनों में पत्नी को गार्हपत्याग्नि के समीप ही वास करना चाहिये । क्योंकि यह गार्हपत्याग्नि रोगों और रोग-जनक कृमियों का नाश करता है । साथ ही पत्नी सदा ख्याल रखे कि उसका पुत्र उत्तम तथा महा-पुरुषों के गुणों से सम्पन्न होकर उत्पन्न हो ।

१ उप + सद् (आस्) = उपसदन या उपासन = समीप बैठना, समीप रहना तथा सोना ।

सन्तानें जन्म से पशुवत् हैं

(८६) वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थानानारूपाः

पशवो जायमानाः ।

मुमङ्गल्युप सीदेमग्निं संपत्नीं प्रति भूपेह देवान् ॥

(अथर्व० १४।२।२५)

(अस्याः) इस (मातुः^१) माता की (उपस्थात्) उपस्थेन्द्रिय से, गर्भ से (नानारूपाः) नाना रूपों वाले, नाना आकृतियों और गुणों वाले (पशवः) पशु अर्थात् सन्तानें (जायमानाः) उत्पन्न हो कर (वि तिष्ठन्ताम्) विविध स्थितियों को प्राप्त हों । (मुमङ्गली) उत्तम मङ्गलस्वरूपा तू हे वधू ! (इमम्) इस (अग्निम्) गार्हपत्याग्नि के (उपसीद) समीप बैठ कर, इस अग्नि की उपासना किया कर, (संपत्नी) और पति की सहचारिणी हो कर (इह) इस गृह में (देवान्) दिव्य गुणों की (प्रतिभूष) शोभा को बढ़ाया कर, अथवा माता-पिता, अतिथि, आचार्य आदि देवों की शोभा को बढ़ाया कर, अथवा अग्निहोत्र द्वारा देव-यज्ञ के देवों को सुभूषित किया कर ।

सन्तानें नाना आकृतियों वाली, नाना रूप-रंगों वाली, अथवा नाना गुणों वाली होनी चाहिए ।

उत्पत्ति के समय से लेकर सन्तानें जब तक प्रकट रूप में भिन्न २ गुणों से सम्पन्न नहीं हो जातीं तब तक वे पशु-सदृश ही होती हैं । अतः मन्त्र में सन्तान को जन्म से पशु कहा गया है । अतः वैदिक सिद्धान्त में वर्णव्यवस्था जन्म से नहीं मानी गई है । जन्म से

१ इस मन्त्र में वधू या पत्नी को माता कहा है । अतः ८६ से ८९ तक के मन्त्रों में सन्तान-प्रसव का वर्णन प्रतीत होता है ।

सब पशुवत् है ! शास्त्रकार यह भी कहते हैं कि “जन्मना जायते शूद्रः” अर्थात् जन्म से सभी शूद्र हैं । इन दोनों कथनों का कि “जन्म से सब पशु हैं”, या “जन्म से सब शूद्र हैं”—एक ही अभिप्राय है ।

बीजरूप में अर्थात् उत्पत्ति के समय अव्यक्तरूप में नाना गुणों से सम्पन्न सन्तानें उत्पन्न हो कर, संसार में विविध स्थितियों को प्राप्त हों । विविध स्थितियों से अभिप्राय विविध पेशों तथा काम-धन्धों का है ।

विविध २ गुणों वाली सन्तानों को उत्पन्न करने के लिए पत्नी अपने आप को मङ्गलमय बनाए और किसी भी अमङ्गलमय भाव को वह अपने मन में स्थान न दे और न कोई अमङ्गल कार्य ही करे । जिस सद्गुण से युक्त सन्तान चाहिए उसी सद्गुण का वह सदा ध्यान और चिन्तन करती रहे, तथा तदनुकूल ही भोजनाच्छादन करे ।

मङ्गल-भावनाओं और कामनाओं वाली हो कर, पुत्रोत्पादन के काल में वह माता गार्हपत्य-अग्नि के समीप रहा करे, तथा अग्निहोत्र किया करे ।

पत्नी सदा पति की सहचारिणी हो । उस से पृथक् रहने वाली न हो ।

वह गुणों में इतनी उत्कृष्ट हो ताकि वह दिव्यगुणों की शोभा बढ़ाने वाली हो सके । अर्थात् उसके नाम से दिव्य गुणों की शोभा बढ़े । गुण, व्यक्ति की, शोभा को बढ़ाया करते हैं, परन्तु श्रेष्ठ तथा महान् व्यक्ति गुणों की शोभा बढ़ाने वाले हुआ करते हैं । तथा पत्नी उस गृह के जीवित देवों अर्थात् ससुर, सास, अतिथि तथा आचार्य आदि की भी शोभा सदा बढ़ाती रहे, उनके सदा गुणगान करती रहे ।

चौदहवाँ प्रकरण

पत्नी गृहस्थ-सागर की नौका है

(६०) सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः ।

स्याना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशोमान् ॥

(अथर्व० १४।२।२६)

(सुमङ्गली) उत्तम मङ्गलमयी, (गृहाणाम्) गृह सागर की (प्रतरणी^१) उत्कृष्ट नौका, (पत्ये) पति के लिए (सुशेवा) उत्तम सेवा करने वाली, (श्वशुराय) श्वसुर के लिए (शंभू) शान्ति उत्पन्न करने वाली, (श्वश्र्वै) और सास के लिए (स्याना) सुख देने वाली होकर हे पत्नी ! तू (इमान्) इन (गृहान्) गृहों में प्रविश प्रवेश कर ।

बधू का गृह में आना उत्तम मंगल-रूप गिना जाता चाहिए । सत्पत्नी वास्तव में मंगल की मूर्ति है । उसकी कामनाएँ तथा व्यवहार सदा मंगलमय होने चाहिये ।

उसे गृह-सागर के तरने में उत्कृष्ट नौका-रूप होना चाहिए । गृहस्थ-जीवन वास्तव में, उत्तम विधि से, धर्मपूर्वक, तथा सुख-शान्ति से तभी निभाया जा सकता है जब कि गृह की शोभारूप-पत्नी सदाचारिणी, धार्मिक, धैर्यवाली, उदार, सहिष्णु, तथा शान्ति वाली हो । बिना उत्तम नौका के जैसे समुद्र या नदी-नद का तरना कठिन है, इसी प्रकार बिना सत्पत्नी के गृहस्थ-सागर का निभाना कठिन है ।

पत्नी पति के लिए उत्तम सेवा करने वाली होनी चाहिये ।

I तरणी = Boat (आपटे) ।

ससुर और सास को शान्ति तथा सुख पहुँचाना भी पत्नी का काम है ।

ऐसी सती-साध्वी पत्नी हमारे घरों में प्रवेश करे, यह आदर्श अपने सम्मुख सदा रखना चाहिए ।

पत्नी सुखमयी मूर्ति बने

(९१) स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः ।

स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥

(अथर्व० १४।२।२७)

हे पत्नी ! (श्वशुरेभ्यः) ससुरों के लिए (स्योना) तू सुख देने वाली (भव) बन । (पत्ये) पति के लिए (गृहेभ्यः) और गृहवासियों के लिये (स्योना) सुख देने वाली बन । (अस्यै इस (सर्वस्यै) सब (विशे)) मनुष्य-समाज के लिए, समग्र प्रजा के लिए, (स्योना) सुख देने वाली बन । (स्योना) इन सबको सुख देने वाली (भव) बन । (एषाम्) तथा इन सब के पुष्टाय, पोषण के लिए तू बन ।

पति का पिता, चाचा तथा ताऊ—ये सब वधू के ससुर हैं । इन के सुख का ध्यान वधू को होना चाहिए ।

वधू पति को सदा सुख देनेवाली हो । तथा पत्येक गृहवासी के प्रति, चाहे वह पति के सम्बन्धी हों, अथवा भृत्य या पशु आदि हों, उन सब के सुख की चिन्ता पत्नी को सदा करनी चाहिए ।

सब मनुष्य-समाज के लिए, समग्र प्रजामात्र के लिए पत्नी को सुख-स्वरूप होना चाहिए । पत्नी के उदार तथा विशाल हृदय के बिना अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ तथा भूतयज्ञ आदि गृह्यधर्मों का यथावत् पालन होना सम्भव नहीं । प्राणि-मात्र के प्रति ऐसी उदार-भावना पत्येक गृहस्थ की पत्येक पत्नी को अपने हृदय में रखनी चाहिए ।

पत्नी का यह भी कर्तव्य है कि वह इन सब के भरण-पोषण की सदा इच्छा रखे, और जहां तक बन सके इन सब का भरण-पोषण किया करे। क्योंकि गृहस्थ-जीवन तो एक महायज्ञ है। इस महायज्ञ में प्रत्येक के सुख की अधिक से अधिक चिन्ता पत्नी को होनी चाहिए। क्योंकि सभी आश्रमों के व्यक्तियों के पालन-पोषण का भार गृहस्थ-आश्रम पर ही है।

वधूदर्शन और आशीर्वाद

(६२) सुमङ्गलीरियं वधूग्निमां समेत पश्यत ।

सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतत ॥

(अथर्व० १४।२।२८)

(सुमङ्गली) मङ्गल की मूर्ति (इयम्) यह (वधूः) वधू है, (समेत) हे सद्गृहस्थो ! तुम इकट्ठे होओ, (इमाम्) और इस वधू को (पश्यत) देखो। (अस्यै) इसे (सौभाग्यम्) सौभाग्य का आशीर्वाद या उपदेश (दत्त्वा) देकर, (दौर्भाग्यैः) और इसे दौर्भाग्यों से पृथक् कर के, (विपरेतन) अपने अपने स्थानों को वापिस जाओ।

वधू के सम्बन्धी, वधू के स्वागत के लिए वधू के गृह में आए हुए सद्गृहस्थों के प्रति, निवेदन करते हैं कि :—

हमारी यह वधू मङ्गल-रूपा है, सद्गुणों से अलङ्कृत है। आप सब इकट्ठे हों और इस वधू को देखें। ताकि आप सब का इस के साथ और इस का आप सब के साथ परिचय हो जाय।

वधू-परिचय के साथ २ आप सब इसे सौभाग्य के गुणों का उपदेश भी दें। ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छः भगों के उत्तम स्वरूपों का वर्णन आप इस वधू के प्रति करें। ताकि

यह वधू इन उत्तम सौभाग्य-गुणों से युक्त हो सके। इसके संमुख आप गृहस्थ के दौर्भाग्यों का भी वर्णन कीजिए, ताकि वधू दौर्भाग्यों के त्याग के लिए यत्नशील हो सके। इस प्रकार इस वधू को उपदेश तथा आशीर्वाद देकर आप आदरपूर्वक अपने अपने गृहों को जाइए।

स्त्रियों का वधू को आशीर्वाद

(६३) या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि ।

वर्चो न्यस्यै संदत्ताथास्तं विपरेतन ॥

(अथर्व० १४।२।२६)

(याः) जो (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदयों वाली (युवतयः) युवतियाँ, (च) और (याः) जो (जरतीः) दुष्ट हृदयों वाली वृद्धियाँ (अपि) भी, (इह) वधू के दर्शन के लिए यहाँ एकत्रित हुई हैं, वे तुम सब (अस्यै) इस वधू के लिए (वर्चः) तेजस्विता का उपदेश (संदत्त) मिल कर दो, (अथ) और इसके पश्चात् (अस्तम्) अपने २ घर (विपरेतन) वापिस जाओ।

वधू को देखने के लिए पति-गृह में जो स्त्रियाँ युवा-तथा-वृद्धा एकत्र हुई हैं, उनके प्रति वधू के सम्बन्धी निवेदन करते हैं कि आप सब इस वधू को अपना २ आशीर्वाद दें और इसे सदुपदेश दें। परन्तु इस समागम में सम्भवतः यदि कोई बुरे हृदय वाली युवा-या-वृद्धा स्त्री, किसी बुरे उद्देश्य से, या ईर्ष्या अथवा द्वेष के भाव से भी सम्मिलित हुई हो तो ऐसी स्त्रियों के प्रति भी वधू के सम्बन्धी यही प्रार्थना करते हैं कि आप भी इस समय अपने २ हृदयों की शुद्धभावनाओं से इसे सदुपदेश ही दें और इसके प्रति सद्भावना को ही रखें, और इसे आशीर्वाद दें कि इसका तेज इस गृहस्थ-जीवन में सदा बढ़े।

सौभाग्य के लिए गृहस्थ-प्रवेश

(६४) रुक्मपूस्तम्भं वह्यं विश्वा रूपाणि विभ्रतम् ।

आगेदत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम् ॥

(अथर्व० १४।२।३०)

(रुक्मपूस्तम्भम्) सुवर्ण-जटित गहों वाले, (विश्वा) तथा नाना (रूपाणि विभ्रतम्) रूपों वाले (वह्यम्) गृहस्थ की पालकी पर, (सावित्री) जीवित पिता वाली (सूर्या) आदित्य-ब्रह्मचारिणी, (बृहते) बड़े (सौभगाय) सौभग के लिए, सौभाग्य के लिए, (कम्) सानन्द (आरोहत्) आरूढ़ हुई है ।

सूर्या-वबू के बैठने योग्य पालकी मामूली न होनी चाहिए । वह अच्छी सजी-बजी होनी चाहिए । उस में स्वर्ण की नक्काशी वाले गहरे बिछे होने चाहिए । तथा बाहर और अन्दर से वह पालकी नाना रूपों से सुसज्जित होनी चाहिए ।

इस मन्त्र में पालकी से गृहस्थ को रूपित या उपमित किया गया है । गृहस्थ में ऐश्वर्य-सम्पत् होनी चाहिए, इस भाव को "रुक्म-पूस्तरम्" इस शब्द द्वारा सूचित किया गया है । "विश्वा रूपाणि" शब्दों का सम्भवतः वही अभिप्राय है जो कि मन्त्रसंख्या ८० में "नाना रूपाः" शब्द का है ।

विवाह के समय कन्या का पिता यदि जीवित हो तो कन्या का यह विशेष सौभाग्य है । इस भाव को सावित्री शब्द द्वारा सूचित किया गया है । सावित्री = सविता (पिता) वाली ।

गृहस्थ-पालकी पर, विशेष भावों को लेकर, आरूढ़ होना चाहिए । उन भावों को सौभग शब्द द्वारा सूचित किया गया है ।

वर्तमान समय के, गृहस्थ-जीवन में, वैदिक आदर्श के प्राण नहीं हैं । माता-पिता जैसे तैसे अपने बच्चों को गृहस्थ-जीवन में धकेलना ही चाहते हैं । इसीलिए गृहस्थ-जीवन में दुःख, कलह, अशान्ति, आदि दुर्भाग्यों का राज्य दृष्टिगोचर हो रहा है । वरों तथा वधुओं को ऊँची भावनाओं से प्रेरित हो कर ही गृहस्थ-जीवन की ओर कदम बढ़ाने चाहियें ।

वधू के पति-गृह में एकत्रित सज्जन अपने २ घर वापिस जाते समय, इस मन्त्र द्वारा, वधू को, उपरोक्त विधि से आशीर्वाद देते प्रतीत होते हैं, और कहते हैं कि “धन-सम्पत् से सम्पन्न तथा नाना रूपों वाले, इस गृहस्थ-जीवन को, सानन्द, इस वधू ने, बड़े सौभाग्य के लिए, स्वीकार किया है, परमात्मा की कृपा हो कि इस का सौभाग्य दिनों-दिन बढ़ता रहे” ।

पन्द्रहवां प्रकरण पत्नी में आत्मिकशक्ति

(६५) आरोह तल्पं सुमनस्यमानेह
प्रजां जनय पत्ये अस्मै ।

इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना
ज्योतिरग्रा उपसः प्रति जागरासि ॥

(अथर्व० १४।२।३१)

(सुमनस्यमाना) हे पत्नी ! सुप्रसन्नचित्त होकर तू (तल्पम्) पलङ्ग पर (आरोह) आरूढ़ हो, (इह) और यहाँ अर्थात् इस गृहस्थाश्रम में (अस्मै पत्ये) इस पति के लिए (प्रजाम्) प्रजा को (जनय) उत्पन्न कर । (सुबुधा) सुबोध तू (बुध्यमाना) और भी बोध को प्राप्त होकर, (इन्द्राणीव^१) आत्मिक-शक्ति की न्याई तू सात्विक-शक्ति से सम्पन्न बन । (ज्योतिरग्राः) और ज्योति है आगे २ जिन के (उपसः प्रति) ऐसे उपा कालों में (जागरासि) तू सदा जागती रहा कर ।

इस मन्त्र में वधू के प्रति गृहस्थ-धर्म का उपदेश दिया गया है कि हे वधू ! तू दैनिक कृत्यों से निवृत्त हो कर जब रात्रि के समय चारपाई पर सोने के लिये जाया करे तब प्रसन्नचित्त हो कर चारपाई

१. इन्द्र = जीवात्मा । इस जीवात्मा (इन्द्र) के उपकरण अर्थात् साधन होने के कारण ही आंख आदि को इन्द्रिय कहते हैं । अतः सिद्ध हुआ कि इन्द्र का अर्थ जीवात्मा भी है । इसलिए इन्द्राणी का अर्थ है “जीवात्मा की शक्ति या आत्मिक-शक्ति” ।

पर आरोहण किया कर । सोने से पूर्व चित्त अवश्य प्रसन्न होना चाहिये । इस से निद्रा शीघ्र आ जाती है और गाढ-निद्रा आती है, साथ ही इन्द्रियों और शरीर की शिथिलता भी दूर हो जाती है ।

वधू को यह भी कहा गया है कि शिक्षा तथा उच्चकोटि के ब्रह्मचर्य के कारण यद्यपि तूने पहले से ही पर्याप्त रूप में बोध को, ज्ञान को, प्राप्त किया हुआ है, तो भी गृहस्थ-जीवन में भी तूने स्वाध्याय को छोड़ना नहीं, अपितु नए २ बोध की प्राप्ति के लिये तूने सदा प्रयत्न करते रहना ।

साथ ही तूने आत्मिक-शक्ति की मूर्त्त-प्रतिनिधि भी बनना । पत्नी में यदि आत्मिक-शक्ति न हो तो गृहस्थ केवल भोग का साधन बन जाता है ।

साथ ही यह भी उपदेश दिया गया है कि प्रातः काल अर्थात् ब्रह्म-मुहूर्त्त के समय में तूने सावधान रहा करना । इस सात्विक समय को सुस्ती, निद्रा तथा आलस्य में कभी न बिताना, उषा-काल से बहुत पहिले उठ कर गृहस्थ तथा धर्म के कार्यों में सदा जागरूक रहना ।

गृहस्थ-जीवन शिष्ट-सम्मत है

(६६) देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः ।

सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या संभवेह ॥

(अथर्व० १४।२।३२)

(देवाः) देव (अग्रे) आरम्भ से ही (पत्नीः) पत्नियों को (न्यपद्यन्त) प्राप्त करते आए हैं, (तन्वः) और शरीरों का (तनूभिः) शरीरों के साथ (समस्पृशन्त) प्रेमपूर्वक स्पर्श करते आए हैं ।

(नारि) हे नारि ! (महिम्ना) अपनी महिमा के कारण (सूर्या इव) आदर्श आदित्य-ब्रह्मचारिणी की तरह (विश्वरूपा) सर्व गुणों से सुभूषित तू, (प्रजावती) उत्तम सन्तान की इच्छा वाली होकर, (इह) यहां अर्थात् इस गृहस्थ-जीवन में (पत्या) अपने पति के साथ (संभव) मिला कर, सम्पर्क किया कर ।

“गृहस्थ-धर्म के कृत्य पवित्र हैं, लज्जा के विषय नहीं” इस सिद्धान्त को हृदयंगत कराने के लिए पुरावाद के रूप में, यह मन्त्र है । इस मन्त्र में कहा है कि देव अर्थात् उच्च-कोटि के विद्वान् भी इस प्रकार से विवाह करते आए हैं, गृहस्थ-धर्म के कृत्यों का पालन करते आए हैं । अतः इन कृत्यों में अपवित्रता नहीं समझनी चाहिए । ये कृत्य लज्जाजनक नहीं हैं ।

गृहस्थ-धर्म में मूल प्रेरक-भाव होना चाहिए “प्रजा सम्बन्धी-इच्छा” । प्रजा की उत्पत्ति गौण उद्देश्य और “भोगेच्छा” मुख्य उद्देश्य नहीं होना चाहिए । अर्थात् गृहस्थ-धर्म में “भोग” इस इच्छा से होना चाहिए ताकि उत्तम सन्तानें उत्पन्न हो सकें । अभिप्राय यह कि सन्तानें भोगेच्छा का आनुषङ्गिक परिणाम रूप न होनी चाहिए ।

गृहस्थ में प्रवेश करते हुए प्रत्येक वधू के संमुख आदित्य-ब्रह्म-चारिणी का आदर्श होना चाहिए । छोटी उम्र तथा अल्पविद्या में

- १ अथवा सूर्या अर्थात् “सूर्य की किरणों” जिस प्रकार अपनी महिमा के कारण विश्वरूपा हैं, विश्व को रूपित अर्थात् प्रकाशित करती हैं, इसी प्रकार तूने भी संसार में प्रकाश को फैलाने वाली बनना । या सूर्या अर्थात् भूमि जिस प्रकार नाना रूपों वाले पदार्थों को उत्पन्न कर रही है वैसे तूने भी नानारूपों अर्थात् नाना आकृतियों तथा नाना गुणों वाली सन्तानें उत्पन्न करना । देखो मन्त्रसंख्या ५३, ५५ ।

विवाह आदर्श-रूप नहीं है। आदर्श विवाह वही है जिसमें कि पति आदित्य-ब्रह्मचारी हो और पत्नी आदित्य-ब्रह्मचारिणी। इसीलिये वधुओं के लिये “सूर्या” को दृष्टान्त रूप में उपस्थित किया गया है। इस दृष्टान्त द्वारा निचली कोटि के ब्रह्मचारियों तथा ब्रह्मचारिणियों का भी विवाह वेदसम्मत है।

गर्भाधान में विश्ववासी का ध्यान

(६७) उत्तिष्ठेतो विश्वावसो नमसेडामहे त्वा ।

जामिमिच्छ पितृषदं न्यक्तां स ते

भागो जनुषा तस्य विद्धि ॥ (१४।२।३३)

(विश्वावसो) हे विश्व में वसने वाले प्रभो ! (इतः) यहाँ से अर्थात् हमारे इन हृदयों से (उत्तिष्ठ) तू जागृत हो, (नमसा) नमस्कार पूर्वक (त्वा) तेरी (ईडामहे) हम स्तुति प्रार्थना करते हैं। (पितृषदम्) माता-पिता की सेवा में स्थित रहने वाली, (न्यक्ताम्^१) तथा नितरां गति-शील (जामिम्) इस कन्या अर्थात् वधू की (इच्छ) तू इच्छा कर, (सः) वह (ते) तेरा (भागः) काम (जनुषा) तेरे स्वभाव से सिद्ध है, अर्थात् स्तुति तथा प्रार्थना करने वालों पर कृपा करना तेरा स्वाभाविक धर्म है, (तस्य) उसे (विद्धि) हे प्रभो ! तू जान ।

गर्भाधान के निमित्त, वधू तथा वधू का पति परमात्मा से प्रार्थना करते हैं ताकि उन के भाव गर्भाधान के निमित्त पवित्र बने रहें ।

वे कहते हैं कि हे प्रभो ! तू विश्ववासी है, विश्व में वसने वाला है। तू हमारे हृदयों में भी वस रहा है, रम रहा है। हमारे

१ न्यक्ता = नि + अक्ता (अञ्जु व्यक्तिप्रचण कान्ति गतिषु, तनादि)

हृदय-स्थलों में तू जागृत हो, तेरा उज्ज्वल प्रकाश हमारे हृदयों में चमके, तेरे दिव्य-स्वरूप का भान हमारे हृदयों में सदा रहे । ताकि हम तुझे किसी भी कर्म के करने के समय भूलें नहीं ।

वे परमात्मा से बल चाहते हैं ताकि वे नमस्कार-पूर्वक इसकी स्तुति प्रार्थना सदा करते रहें ।

अन्त में परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि उसकी कृपा इस वधू पर सदा बनी रहे । जो वधू कि सास-रूपी माता और ससुर-रूपी पिता तथा अन्य वजुर्गों की सेवा में सदा दत्तचित्त रहती है, तथा जो कि सदा उद्यमशील है ।

अन्त में मन्त्र में कहा है कि सत्पथ पर चलने वाले मनुष्यों पर परमात्मा की सदा कृपा हुआ करती है । कृपा करने का यह काम परमात्मा का स्वाभाविक-धर्म है ।

जगद्व्यापी पति-पत्नी भाव

(९८) अप्सरसः सधमादं मदन्ति

हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ।

तास्ते जनित्रमभि ताः परेहि

नमस्ते गन्धर्वतुना कृणोमि ॥

(अथर्व० १४।२।३४)

(हविर्धानम्^१) पृथिवी (सूर्यं च) और सूर्य के (अन्तरा) अन्तराल में, मध्य में, (अप्सरसः^२) जो नाना रूपों वाली प्राकृतिक-

१ हविर्धान = हविः (अन्न) का स्थान । पृथिवी में सब अन्न उत्पन्न होते हैं । अतः 'यहां हविर्धान का अर्थ "पृथिवी" किया गया है ।

२ अप्सरसः = अप्स + रस (अप्स = रूप) । रूप ही जिनका

शक्तियां दृष्टिगोचर हो रही हैं, (सधमादं मदन्ति) और जो कि सामुदायिक-आनन्द में आनन्दित हैं, (ताः) वे नाना रूपों वाली शक्तियां (ते) हे विश्ववासी प्रभो ! तेरे (जनित्रम्) उत्पत्ति के साधन हैं, उन की सहायता से तू जगत् को उत्पन्न कर रहा है । (ताःअभि) उन्हें तू (परेहि) प्राप्त हुआ २ है, पति-रूप से प्राप्त हुआ २ है । (गन्धर्व^२) हे जगत् के धारण करने वाले प्रभो ! (ते) तुझे (ऋतुना) ऋतु २ में, (नमः) नमस्कार (कृणोमि) मैं करती हूं ।

इस मन्त्र द्वारा विशेष रूप से वधू, विश्ववासी प्रभु की स्तुति करती है और कहती है कि:—

हे प्रभो ! पृथिवी और सूर्य के बीच के आकाश में तुम्हारी मनोमोहक नाना प्राकृतिक-शक्तियां कार्य करती हुई दृष्टिगोचर हो रही हैं । जो कि जगत् के कार्य-भार का वहन, परस्पर मिल कर, एक दूसरे की सहायता से कर रही हैं । वे नाना रूपों वाली शक्तियां तेरे द्वारा की गई उत्पत्ति के साधन रूप हैं । वे तेरी पत्नीरूप हैं, और तू उनमें पतिरूप से प्राप्त हो रहा है । इस प्रकार वधू अपने हृदय में, जगद्व्यापी पति-पत्नी के भाव में और अपने गृहस्थ-जीवन के व्यवहार में, सादृश्य का अनुभव करती है । और अन्त में ऋतु २ के अनुसार परमात्मा के नाना तथा भिन्न २ रूपों को अनुभव कर उन रूपों के प्रति भक्ति के साथ झुकने का संकल्प प्रकट करती है ।

जीवन-रस है । अथवा अप्सराः = अप्स + र । अर्थात् रूपवाली ।

१ सध = सह । सधमाद = सहानन्द । साथ २ रहने का आनन्द । परस्पर सहयोग का आनन्द ।

२ गन्धर्व = गो (जगत्) + ध + व । अर्थात् जगत् का धारण करने वाला । (एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गौरूपम् , अथर्व० ६।७।२५) ।

इसके साथ ही वह अपने पत्येक ऋतु-दर्शन काल में भी, गर्भ-ग्रहण के समय से पूर्व, परमात्मा के पूति सदा नमस्कारों की भेंट चढ़ाने का संकल्प करती है ।

सन्तानार्थ काम, ईक्षण तथा तप

(६६) नमो गन्धर्वस्थ नमसे नमो भामाय

चक्षुषे च कृष्णः ।

विश्वावसो ब्रह्मणा ते नमोभि जाया

अप्सरसः परेहि ॥

(अथर्व० १४।२।३५)

(गन्धर्वस्थ) जगत् को धारण करने वाले परमात्मा के (नमसे=मनसे^१) मन अर्थात् मानसिक-रेतस्, अर्थात् काम के प्रति (नमः) हम

- १ अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा में “नमसे” शब्द के स्थान में ‘मनसो’ पठ है । प्रतीत होता है कि नमसे शब्द में “म” और “न” का स्थान-व्यत्यास या आद्यन्त-विपर्यय हो गया है । स्थान-व्यत्यास मान लेने से “नमसे” शब्द “मनसे” शब्द में परिवर्तित हो सकता है । अथवा मन्त्र में “नमसे” शब्द के धात्वर्थ का ग्रहण करना चाहिये । नमसे शब्द ‘नम्’ धातु से बना है । नम् का धात्वर्थ है “प्रह्वत्”, अर्थात् झुकना, किसी कार्य के प्रति झुकाव का होना । “कामना” वास्तव में काम्य-वस्तु के पूति एक मानसिक-झुकाव है । अतः मन्त्र में धात्वर्थ की दृष्टि से “नमसे” का अर्थ “कामना” लिया जा सकता है । अथर्ववेद १४।२।१ में काम को या कामना को “मानसिक रेतस्” कहा है । अर्थात् काम-शक्ति मन का रेतस् है, वीर्य है । जिस प्रकार कि वीर्य से सन्तानोत्पत्ति होती

नमस्कार (कृष्णः) करते हैं, (भामाय) उसकी दीप्ति के प्रति (नमः) नमस्कार करते हैं, (चक्षुषे च) तथा ईक्षणा-शक्ति के प्रति (कृष्णः) हम नमस्कार करते हैं। (विश्ववावसो !) हे विश्ववासी ! (ब्रह्मणा) वेद द्वारा, वेदोक्त रीति द्वारा (ते) तुम्हें (नमः) हम नमस्कार करते हैं। (जायाः) पत्नीरूप, सब जगत् की जननी-रूप (अप्सरसः अभि) नाना रूपों वाली प्राकृतिक शक्तियों को (परेहि) तू पति रूप में प्राप्त हो।

उपनिषदों में “सोऽकामयत^१ बहु स्यां प्रजायेयेति”। “तद् ऐक्षत्^२ बहु स्यां प्रजायेयेति तत्ते जोऽसृजत^३”। “स ईक्षत्^३ लोकान्सृजा इति स इमाँल्लोकान्सृजत^३”। “स तपो^१ ऽ तप्यत स तपस्तप्त्वा इदम् सर्वमसृजत^३”—ये वाक्य प्रायः आते हैं। उपनिषदों में इन वाक्यों द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति में परमात्मा की कामना (अकामयत), परमात्मा के ईक्षणा (ऐक्षत ईक्षत), तथा उसके तप (तपोऽतप्यत) को भी कारण माना गया है।

किसी भी वस्तु के निर्माण में कर्त्ता की तीन अवस्थाएँ हुआ करती हैं।

(१) कर्त्ता में कार्य करने के सम्बन्ध में “कामना” की अवस्था (अकामयत)।

(२) ‘कार्य किस तरह निर्मित होगा’ इस सम्बन्ध में “अनुसन्धान” की अवस्था (ऐक्षत)।

हे इसी प्रकार परमात्मा में स्थित कामना समग्र कार्य-जगत् की उत्पत्ति का कारण है।

१ तै० उप० ब्रह्मवल्ली, अनुवाक ६।

२ छा० उप० पूषा० ६, खं० २, १।

३ ऐत० उप० अ० १, खं० १, १।

(३) तथा कार्य के निर्माण में यत्न और परिश्रम की अवस्था (तपोऽतप्यत) ।

परमात्मा जब जगत् की रचना करने लगता है तो उसमें भी ये तीन अवस्थाएँ इसी क्रम से होती हैं । पहिली अवस्था “अकामयत” अर्थात् कामना को । दूसरी अवस्था “ऐक्षत” अर्थात् अनुसन्धान की । तथा तीसरी अवस्था “ तपोऽतप्यत ” अर्थात् यत्न की ।

मन्त्र में “नमसे” अर्थात् “मनसे” शब्द “अकामयत” अवस्था को सूचित करता है । क्योंकि वैदिक साहित्य में काम या कामना को “मानसिक^१ रेतस्” कह कर इसका सम्बन्ध मन के साथ किया गया है ।

“भामाय” शब्द “तपोऽतप्यत” को अवस्था सूचित करता है । क्योंकि भाम शब्द में “भा” धातु का अर्थ भी दीप्ति, प्रकाश या ताप ही है ।

इसी प्रकार “चक्षुषे” शब्द “ऐक्षत” अवस्था को सूचित करता है । क्योंकि “चक्षुः” और “ईक्षण” का परस्पर साक्षात् सम्बन्ध है ।

इस मन्त्र द्वारा गर्भाधान-संस्कार के निमित्त गृहस्थ-के-सज्जन परमात्मा के,—काम, ईक्षण तथा तप का मान करते हैं, और सन्तानोत्पत्ति के लिये परमात्मा की इन अवस्थाओं का ध्यान कर उन के प्रति भुक्ते और अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं । और इस द्वारा नई बधू तथा उसके पति को क्रियात्मक उपदेश देते हैं कि तुम भी उत्पत्ति के निमित्त तय्यार हो रहे हो, इस लिए तुम भी अपने पवित्र-काम, सच्चे-ईक्षण अर्थात् निरीक्षण, तथा तप के द्वारा भावी संतानोत्पत्ति को करो । तुम्हारी इस भावी सन्तान-उत्पत्ति में अपवित्र-काम या लम्पटता को कोई

१ कामस्तद्ध्रे समवर्तत “मनसो रेतः” प्रथमं यदासीत् ।

स्थान न मिलना चाहिए । तुम विना परिणाम के सोचे-समझे, विना परिस्थितियों का निरीक्षण किये, तथा विना अपने तपोमय जीवन के, इस नई सन्तान-उत्पत्ति में व्यापृत न होओ । इस प्रकार भावी सन्तान-उत्पत्ति की दृष्टि से वधू तथा वर “काम, ईक्षण, और तप” को अपने जीवनो में यथोचित स्थान देते हैं ।

गृहस्थ को परम-सधस्थ बनाओ

(१००) राया वयं सुमनसः

स्यामोदितो गन्धर्वमावीवृताम् ।

अगन्तस देवः परमः

सधस्थमगन्म यत्र प्रतिगन्त आयुः ॥

(अथर्व० १४।२।३६)

(राया^१) धन के कारण (वयम्) हम (सुमनसः) उत्तम मनो वाले अर्थात् प्रसन्नचित्त (स्याम) हों । (इतः) और इस धन के द्वारा हम ने (गन्धर्वम्) जगत् के धारण करने वाले परमात्मा को (उदावी-वृताम्^२) उत्तम रूप से अपनी ओर आवर्तित किया है, आकृष्ट किया है, भुकाया है । (सः) वह (देवः) जगद्धारक देव (परमम्) परम,

१ “राया” शब्द “रै” का बना हुआ है । “रै” का अर्थ है धन । परन्तु “रै” का धात्वर्थ है “देना” (रा = देना) । इस से प्रतीत होता है कि वैदिक समाजशास्त्र के अनुसार धन दान करने के लिए है, न कि केवल स्वार्थ-साधन के लिए ।

२ आवृत् = To return ; Come or turn back ; To go to or towards ; To attract ; win over. (आपटे कोष) ।

उत्कृष्ट (सधस्थम्^१) सधस्थावस्था को (अगन्) पहुँचा हुआ है। (अगन्म) हम भी पहुँचे हैं [उस सधस्थावस्था को] (यत्र) जिस अवस्था में कि (आयुः) आयु को (प्रतिरन्ते) बढ़ाते हैं।

इस मन्त्र में गृहस्थ के व्यक्ति मिल कर निम्नलिखित भावनाएँ करते हैं :—

धन हमारे पास हो। क्योंकि गृहस्थ-जीवन बिना धन-सम्पत् के चल नहीं सकता। धन के बिना गृहस्थ-जीवन में प्रसन्नता नहीं रह सकती। इसलिए मन्त्र में धन के कारण हो सकने वाली प्रसन्नता का वर्णन किया गया है।

गृहस्थ के व्यक्ति यह भी भावना अपने मन में करते हैं कि यह धन हमें उल्टे मार्ग में न ले जाय, इस द्वारा हम केवल स्वार्थसाधना में ही न लगे रहें। अपितु धन का उपार्जन कर और उपार्जन के पश्चात् हम पञ्चमहायज्ञों द्वारा अथवा अन्य वेदोक्त-विधियों द्वारा जगत् का उपकार करें और इस प्रकार जगत् के प्रभु की प्रसन्नता के पात्र बनें, उसे हम अपनी ओर भुकाएँ, और उस के कृपा-पात्र बनें।

गृहस्थ के व्यक्ति मिल कर परमात्मा के “सधस्थ जीवन” पर भी ध्यान करते हैं। “सधस्थ-जीवन” वैयक्तिक-जीवन का विरोधी जीवन है। जिस जीवन में बहुत व्यक्ति मिल कर बैठें वह जीवन “सधस्थ-जीवन” कहा गया है। परमात्मा महा-गृहस्थी है। यह समग्र संसार उस का गृहस्थ है। इस लिए यह संसार सधस्थ है। परमात्मा के इस महा-गृहस्थ को परम कहा है। परमात्मा का यह महा-गृहस्थ परम है, उत्कृष्ट है, महान् है, व्यापी है। यह सब प्राणियों के उपकार के लिए है।

१ सह तिष्ठन्ति यत्र। जहाँ इकट्ठे हो कर बैठते हैं,— ऐसे गृहस्थ को यहाँ सधस्थ कहा है।

ऐसे सधस्थ-जीवन के अनुकरण का संकल्प मनुष्य-गृहस्थी भी करते हैं। यह “परम” सधस्थ-जीवन आयु को बढ़ाने वाला है, घटाने वाला नहीं। इस सधस्थ-जीवन में शक्ति को जाँच-तोल कर शक्ति का व्यय करना चाहिए। शक्ति के अपव्यय से यह सधस्थ-जीवन “परम” नहीं रहता, उत्कृष्ट नहीं रहता। शक्ति के सद्-व्यय से यह सधस्थ-जीवन उत्कृष्ट भी बनता है और इस जीवन में ढले मनुष्यों की आयु भी बढ़ जाती है।

ऋतुकाल में संसर्ग

(१०१) सं पितरावृत्त्विये सृजेथां

माता पिता च रेतसो भवाथः ।

मर्य इव योषामधि रोहयैनां

प्रजां कृणवाथामिह पुण्यतं रयिम् ॥

(अथर्व० १४।२।३७)

(पितरौ) हे पति तथा पत्नी^१ ! तुम दोनों, जोकि मातृशक्ति तथा पितृशक्ति से सम्पन्न हो, (ऋत्विये) ऋतु-कर्म के निमित्त (संसृ-जेथाम्) परस्पर संसर्ग करो, (रेतसः^२) और रज-वीर्य से उत्पन्न होने वाली सन्तान के (माता च पिता च) माता और पिता (भवाथः) तुम बनो। (मर्य इव) नर जैसे (योषाम्) नारी पर अर्थात् मादा पर

१ माता च पिता च = पितरौ ।

२ कार्य में कारण-पद का प्रयोग है। सन्तान कार्य है, और रेतस् अर्थात् वीर्य कारण है। जैसे मट्टी से उत्पन्न हुए घड़े आदि को मट्टी कह देते हैं, इसी प्रकार रेतस् से उत्पन्न सन्तानों को रेतस् कहा गया है।

आरुढ़ होता है ऐसे ही (एनाम्) इस पत्नी पर (अधिरोहय) हे पति ! तू आरुढ़ हो, (प्रजाम्) प्रजा को (कृण्वथाम्) तुम दोनों उत्पन्न करो, (इह) और इस गृहस्थ-जीवन में (रयिम्) धन की (पुष्यतम्) पुष्टि करो ।

पत्नी के ऋतु-दर्शन के काल में, ऋतु-कर्म के निमित्त, पति-पत्नी को परस्पर संसर्ग अर्थात् सम्बन्ध करना चाहिये । पत्नी को जब ऋतु-काल न हो उस समय उसके साथ संसर्ग न करना चाहिए ।

गृहस्थों को चाहिए कि वे गृहस्थ-जीवन में रहते हुए माता-पिता बनने के इच्छुक हों । केवल भोग के लिए गृहस्थ धारण न करें । गृहस्थ-जीवन उत्तम सन्तानों को उत्पन्न करने के लिए है, केवल भोग के लिये नहीं, केवल विषय-वासना को तृप्त करने के लिए नहीं ।

संसार में नरत्व-और-नारीत्व रूपी भेद, प्राणिशास्त्र की दृष्टि से, इसीलिए है कि नर, नारी पर आरुढ़ होकर सन्तानोत्पादन क्रिया करे । मनुष्य-समाज से अतिरिक्त, अन्य प्राणियों में भी, यह आरोहण-क्रिया दृष्टि-गोचर होती है ।

इस अधिरोहण-क्रिया का उद्देश्य यह होना चाहिए कि उत्तम सन्तानें उत्पन्न हों । इस क्रिया में अपवित्र-भाव का सम्पर्क भी न होने देना चाहिए ।

माता-पिता को इस बात का भी पूर्ण ध्यान होना चाहिए कि वे उत्तम सन्तानों को उत्पन्न कर, उन के जीवन के उत्तम निर्वाह के लिए, धन का भी अन्धा उपार्जन करें । गृहस्थ-जीवन में धन पर्याप्त होना चाहिए, धन की पर्याप्त पुष्टि होनी चाहिए, तबकि सन्तानों का पालन-पोषण तथा शिक्षण उत्तम विधि से हो सके ।

जननी पृथिवी का रूप है

(१०२) तां पूषं छिवतमामेरयस्व

यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति ।

या न ऊरु उशती विश्रयाति

यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेषः ॥ (अथर्व० १४।२।३८)

(पूषन्) हे पुष्टवर ! (शिवतमाम्) शिवस्वरूपा तथा कल्याण-मयी (ताम्) उस जननी-शक्ति को (एरयस्व) तू प्रेरित कर, गर्भ-धारण के उन्मुख कर, (यस्याम्) जिस शक्ति में कि (मनुष्याः) मनुष्य (बीजम्) बीज (वपन्ति) बोते हैं । (या) जो (उशती) कामना वाली

1 देखो मन्त्रसंख्या १६, ३६; ।

2 निरुक्त की टीका में दुर्गाचार्य ने “ताम्” का अर्थ किया है “योनिम्” । (निरु० ३।२१) ॥

3 “वीर्याधान” को यहां “बीज बोना” कहा गया है (तथा देखो मन्त्रसंख्या ७८) । इस रूपक द्वारा पत्नी को पृथिवी कहा गया है (देखो, मन्त्र संख्या २) । हम देखते हैं कि पृथिवी-रूप से पृथिवी एक ही है । परन्तु फिर भी मनुष्य का यह अधिकार नहीं कि वह जहां भी चाहे अपना बीज बो देवे उसे पृथिवी के अपने नियत भाग में ही अपना बीज बोना होता है । इसी प्रकार पृथिवी की स्थानापन्न जननी-शक्ति, शक्ति-रूप से, एक है । इस शक्ति के एक होते हुए भी जहां कहीं भी पुरुष को वीर्याधान का अधिकार नहीं है । इस के लिये पृथिवी-शक्ति के भिन्न २ नियत भागों की न्याईं, जननी-शक्ति के विशेष २ नियत स्थानों में ही—जोकि पृथक् २ बधू-रूप व्यक्तियां हैं, और जिनका कि भिन्न तथा नियत

होकर (नः) हमारे लिये (ऊरु) अपनी जाँघों को (विश्रयाति) खोल देती है, (उशन्तः) और कामना वाले होकर हम पुरुष (यस्याम्) जिस शक्ति में (शेषः) पुरुषेन्द्रिय का (प्रहरेम) प्रहार करें।

पूषा का अर्थ, इस मन्त्र में पुष्टि से युक्त वर प्रतीत होता है। वीर्याधान में अधिकार उस पति का हो सकता है जो कि शरीर से परिपुष्ट है। निर्बल पति को वीर्याधान का अधिकार वेद ने नहीं दिया। क्योंकि निर्बल शक्ति वाले पुरुष से निर्बल ही सन्तानें उत्पन्न होती हैं।

साथ ही वीर्य-ग्रहण का अधिकार उस जनित्री-शक्ति को वेद ने दिया है जो कि शिव-स्वरूपा है, जो कि शिव-संकल्पों तथा शिव-कर्मों की मूर्ति है। ताकि उससे उत्पन्न सन्तानें भी शिवतम हो सकें, कल्याण मार्ग के अवलम्बी हो सकें। वेद ने अशिव-स्वरूपा जननी-शक्ति को वीर्य-ग्रहण का अधिकार नहीं दिया।

वीर्य-दान में पति की ओर से पत्नी पर जबर्दस्ती न होनी चाहिए। अपितु इस सम्बन्ध में पत्नी की इच्छा का होना भी अत्यावश्यक है। इस भाव को “एरयस्व” पद सूचित कर रहा है।

“उशती” और “उशन्तः” शब्दों द्वारा सूचित होता है कि परस्पर संभोग तब होना चाहिए जब कि इस के लिए पति और पत्नी दोनों में कामनाएँ जागृत हों। सम्भोग एक ही की कामना का परि-

पुरुष-व्यक्तियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध हुआ है—विशेष २ पुरुष वीर्याधान कर सकते हैं। अतः एक स्त्री के साथ ज्ञाना पुरुषों के सम्बन्ध का आभास यहाँ न देखना चाहिए। यह भ्रम इस लिए सम्भव है क्योंकि मन्त्र में जनित्री-शक्ति का वर्णन एकवचन से हुआ है, और बीज बोने वाले पुरुषों का वर्णन बहुवचन से हुआ है।

गाम् नहीं होना चाहिए । दूसरे साथी की कामना के बिना कोई एक यदि संभोग करता है तो यह बलात्कार होगा ।

“प्रहरेम” शब्द दर्शा रहा है कि यहाँ पुरुषेन्द्रिय की उपमा दण्ड से दी गई है । इस प्रकार इस उपमा द्वारा संभोगोपयोगी, पुरुषेन्द्रियगत उचित कठोरता, को सूचित किया गया है जो कि ब्रह्मचर्य-शक्ति के बिना नहीं हो सकती । “उशन्तः” शब्द द्वारा सूचित की गई कामना, शेषः की दण्डोपमा में, कारणीभूत है ।

साथ ही स्त्री-शक्ति को “पृथिवी”, तथा पुरुष की शक्ति को “बीज” कह कर, “वीर्याधान” की क्रिया का सम्बन्ध सन्तान-विज्ञान अर्थात् युजेनिक्स (Eugenics) के साथ किया गया है । पृथिवी में बीज का आधान, कोई भी किसान, व्यर्थ में और बिना प्रयोजन के, नहीं करता । अपितु बीज की उत्तमता और पृथिवी की उपजाऊ शक्ति को तथा ऋतु को देख कर ही करता है । गृहस्थ-व्यक्ति भी अपने गृहस्थ-व्यवहार को उत्तम, तथा प्रयोजन वाला, और ऋतु-अनुकूल बनावे, इसी भाव से यहाँ “बीज” और “भूमि” का रूपक रचा गया है ।

मन्त्र में सामान्य जनित्री-शक्ति का वर्णन किया गया है विशेष किसी वधू-व्यक्ति का नहीं । इस लिए जनित्री-शक्ति में एकवचन तथा “वपन्ति”, “मनुष्याः” और “उशन्तः” आदि शब्दों में बहुवचन के होने पर भी यह मन्त्र एक पत्नी के बहुपति होने की सम्भावना का वर्णन नहीं कर रहा ।

गर्भाधानक्रिया में आसन

(१०३) आ रोहोरुमुप धत्स्व हस्तं

परिष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः ।

प्रजां कृण्वथाभिह मोदमानौ

दीर्घं वामायुः सविता कणोतु ॥

(अथर्व० १४।२।३६)

हे पति ! तू पत्नी की (ऊरुम्) जाँघ पर (आरोह) आरुढ़ हो, (हस्तम्) अपने हाथ का (उपघत्स्व) सहारा दे, सिरहाना बना, (सुमनस्यमानः) और सुप्रसन्न-चित्त होकर (जायाम्) पत्नी का (परिष्वजस्व) गाढ़ आलिंगन कर । (मोदमानो) प्रसन्नता-पूर्वक एक दूसरे के साथ रहते हुए तुम दोनों (इह) इस गृहस्थ-आश्रम में (प्रजाम्) प्रजा को (कृण्वथा) उत्पन्न करो, (सविता) सर्वोत्पादक पिता (वाम्) तुम दोनों की (आयुः) आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणोतु) करे ।

कामशास्त्रों में मैथुन की नाना विधियों तथा आसनों का वर्णन मिलता है । परन्तु वेद ने केवल सीधे आसन का वर्णन किया है और यही आसन उत्तम सन्तानों के उत्पादन में उपयोगी है । शेष आसन परस्पर की अनुचित-कामुकता के प्रदर्शक हैं ।

उत्तम सन्तान की उत्पत्ति में पति-पत्नी की परस्पर की प्रसन्नता अवश्य महत्त्वपूर्ण कारण है । जिस गृह में पति-पत्नी सदा एक दूसरे से लड़ते-भगड़ते तथा अप्रसन्न रहते हैं वहाँ सन्तानें कभी सद्गुणों से सम्पन्न नहीं हो सकतीं । मन्त्र के “सुमनस्यमानः”, “परिष्वजस्व” तथा “मोदमानो” शब्द परस्पर की अधिक प्रसन्नता के सूचक हैं ।

पति और पत्नी में संयममय-जीवन के अभाव में परस्पर के प्रति अधिक प्रसन्नता तथा अनुराग का परिणाम अनियन्त्रित-जीवन तथा लम्पटता भी हो सकता है, जिसका कि पति-और-पत्नी दोनों की आयु पर बुरा प्रभाव पड़ता है । इस दुष्परिणाम को दशनि के लिए ही, मन्त्र में, दीर्घ-आयु का आदर्श पति-और-पत्नी के संमुख रखा गया है । इस मन्त्र में “सविता” का वर्णन हुआ है । सविता का अर्थ है “उत्पत्तिकर्त्ता” । परमात्मा भी संसार की उत्पत्ति प्रकृति-पत्नी द्वारा, कर रहा है । इस प्रभु की उत्पत्ति-विधि पर विचार करते हुए सन्तानोत्पादन करना चाहिये और इस उद्देश्य के निमित्त लम्पटता तथा

अधिक कामुकता का परित्याग करना चाहिये, तभी आयु दीर्घ हो सकेगी ।

सन्तानों का उत्कृष्ट-जन्म

(१०४) आ वां प्रजां जनयतु प्रजापतिरहोरात्राभ्यां
समनक्त्वयमा ।

अदुर्मङ्गली पतिलोकमाविशेमं शं नो भव
द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

(अथर्व० १४।२।४०)

(अयंमा) आयं अर्थात् श्रेष्ठ मनवाला या आयो अर्थात् श्रेष्ठ मनुष्यों का मान करनेवाला, (प्रजापतिः) तथा प्रजा का रक्षक परमात्मा (वाम्) हे पति-और-पत्नी ! तुम दोनों की (प्रजाम्) सन्तान को (आजनयतु^१) उत्तम जन्म देवे, (अहोरात्राभ्याम्) और प्रतिदिन तथा प्रतिरात्रि द्वारा (समनक्तु^२) उसे अभिव्यक्त करे, कान्तियुक्त बनावे, तथा उद्यमी बनावे । (अदुर्मङ्गली) और मंगलमयी होकर हे पत्नी ! तू (इमम्) इस (पतिलोकम्) पतिलोक में (आविश^३) प्रवेश कर या उस पर कब्जा कर, (नः) हम सब पर (शम्) कल्याणकारिणी (भव) हो, (द्विपदे) मनुष्यों पर कल्याणकारिणी हो, (चतुष्पदे) तथा पशुओं पर कल्याणकारिणी हो ।

१ आजननम् = High birth or origin, Famous or well-known origin (आपटे कोष) ।

२ अञ्जु = व्यक्ति, अक्षर, कान्ति, गति ।

३ आविश् = To enter ; To take possession of (आपटे कोष) ।

परमात्मा श्रेष्ठों का मान करता है और उनकी सदा रक्षा करता है । इसलिए तुम दोनों भी श्रेष्ठों का मान करो और उनकी रक्षा करो । इस प्रकार तुम दोनों सदा श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करो ।

यदि माता-पिता श्रेष्ठ हों तो परमात्मा उनकी सन्तान को अवश्य उत्कृष्ट बनाता है । तथा उस सन्तान की रात-दिन वृद्धि करता है । क्योंकि सुनियन्त्रित और श्रेष्ठ माता-पिता की सन्तानें प्रायः, दोषों से रहित शरीरों, मनों, तथा आत्माओं वाली होती हैं ।

पत्नी को सदा मंगलमयी होना चाहिए और उसे सदा मंगलमयी बनने का प्रयत्न करते रहना चाहिए । बुरे संकल्पों, असत् विचारों, तथा दूषित कर्मों के करने से पत्नी अमंगल-रूप हो जाती है ।

पति-गृह की स्वामिनी पत्नी भी समझी जानी चाहिए । स्वामिनी बन कर पत्नी का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह गृह के सब वासियों अर्थात् गृह के सब मनुष्यों तथा प्राणियों के कल्याण के सम्पादन के लिए सदा यत्न किया करे ।

ब्राह्मविवाह, चारपाई के राजस

(१०५) देवैदेत्तं मनुना साकमेतत्

वाधूर्यं वासो बध्वश्च वस्त्रम् ।

यो ब्रह्मणे चिकितुषे ददाति

स इद् रक्षांसि तल्पानि हन्ति ॥

(अर्थः ० १४।२।४१)

(देवैः) देवों, अर्थात् कन्यापक्ष के विद्वान् तथा योग्य स्त्री-पुरुषों ने, (मनुना) कन्या के मनस्वी अर्थात् विचारशील पिता के

I मनु = मननशक्ति (सायणाचार्य, तै० ब्रा० २।३।८।३) । तथा

(साकम्) साथ मिल कर, (एतत्) यह अर्थात् (वाधूयं^१ वासः) वधूयु^१-वर के वस्त्र (वध्वश्च वस्त्रम्) तथा वधू के वस्त्र (दत्तम्) दहेज रूप में दिए हैं । (यः) जो कन्या का पिता (चिकितुषे) सम्यक्-ज्ञानी (ब्रह्मणे^२) ब्रह्मा-पदवी वाले वर के प्रति (ददाति) यह दहेज देता है, अर्थात् अपनी कन्या को विवाह में देता है, या कन्यादान करता है, (स इद्) वह ही (तत्पानि) चारपाई के (रक्षांसि) राक्षसों का (हन्ति) हनन करता है ।

विवाह, कन्यापक्ष के देवों तथा देवियों के समक्ष, तथा उनकी अनुमति से होना चाहिए ।

कन्या का पिता मनु होना चाहिए, मनस्वी होना चाहिए, विचारवान् होना चाहिए, और उसे चाहिए कि वह सब बातों का विचार कर तथा अपने पक्ष के देवों और देवियों की अनुमति से, अपनी योग्य कन्या का विवाह किसी योग्य वर के साथ करे ।

विवाह के समय, कन्या का पिता तथा सम्बन्धी, वर को भी वस्त्र आदि देवें तथा वधू को भी ।

आदर्श विवाह ब्रह्मा-पदवी के वर, तथा सुयोग्य उच्चकोटि की विदुषी का होता है । ब्रह्मा-पदवी उसे मिलती है जो कि चारों वेदों का विद्वान् हो । इस के लिए ४८ वर्षों का ब्रह्मचर्य अपेक्षित है । क्योंकि एक २ वेद के पढ़ने के लिए बारह २ वर्ष अपेक्षित हैं ।

Thought, thinking or mental faculty (आपटे कोष)

१ वाधूयम् = वधूयु के सम्बन्ध के । वधूयु = वधू की इच्छा वाला वर । (देखो मन्त्र संख्या ६) ।

२ ब्रह्मा देवानाम् । (साम० उ० प्र० ३, ११, २) । इस में देवों में से उच्चकोटि के विद्वान् को ब्रह्मा कहा है ।

ऐसे विद्वान्-वर तथा विदुषी-वधू का जब आपस में विवाह होता है तब इनके गृहस्थ-जीवन में राक्षसों का प्रवेश नहीं होने पाता । अनुचित कामवासना तथा इस कामवासना से उत्पन्न होने वाले दुष्कर्म ही राक्षस हैं । प्रकरण के अनुसार वे दुष्कर्म ही “चारपाई के राक्षस” हैं । ब्रह्मापदवी के वर तथा उच्चकोटि की विदुषी वधू से संयम की आशा अवश्य की जा सकती है । ऐसे व्यक्ति गृहस्थ-धर्म के पालन के लिए चारपाई पर दिव्यभावनाओं से प्रेरित हो कर ही आरुढ़ होंगे, राक्षसी भावों के वशीभूत हो कर नहीं । कन्या का पिता, जब योग्य और संयमी वर के साथ, अपनी कन्या का विवाह करता है, तब वह चारपाई के राक्षसों के हनन में सहायता दे रहा होता है ।

ब्राह्म-विवाह, तथा विवाहनियन्त्रण

(१०६) ये मे दत्तो ब्रह्मभागं वधूयो वधूयं

वासो वध्वश्च वस्त्रम् ।

युवं ब्रह्मणेनुमन्यमानौ बृहस्पते

साकमिन्द्रश्च दत्तम् ॥

(अथर्व० १४।२।४२)

(‘बृहस्पते’) हे बृहस्पति ! वेदवाणी के पति पुरोहित ! तू, (‘इन्द्रः’ च) और इन्द्र अर्थात् राजा^१ वा राजकीय व्यवस्था, (युवम् = युवाम्) इस प्रकार तुम दोनों (साकम्) मिल कर, (अनुमन्यमानौ)

१ बृहस्पतिः = बृहती वाक् तस्याः पतिः । अर्थात् वेदवाणी का पति, ज्ञाता । “बृहस्पतिवै देवानां पुरोहितः” । (ऐ० ब्रा० ८।२६) । अर्थात् देवों के पुरोहित को बृहस्पति कहते हैं ।

२ इन्द्र = राजा । (इन्द्रश्च सम्राट्, यजु० ६।३७) । अर्थात् इन्द्र है सम्राट् ।

और एक दूसरे का अनुमोदन करते हुए, इस विवाह की स्वीकृति देते हुए, (वधूयाः मे) वधू को इच्छा वाले मुझ ब्रह्मा को (यम्) जो (ब्रह्मभागम्) ब्रह्मभाग, अर्थात् ब्रह्मापदवी वाले वर के प्रति दिया जाने वाला अधिकार, (दत्तः) देते हो, (वाधूयं वासः) तथा वधूयु-वर को उसके वस्त्र तथा (वध्वश्च वस्त्रम्) उस की वधू को वस्त्र देते हो, वैसा ब्रह्मभाग तुम दोनों (ब्रह्मणे) प्रत्येक ब्रह्मा-पदवी वाले वर के प्रति (दत्तम्) दिया करो ।

मन्त्र में बृहस्पति का अर्थ है पुरोहित । और इन्द्र का अर्थ है सम्राट्, अर्थात् राजा । वैदिक-विवाह में पुरोहित विवाह कराने वाला साक्षी है, और इस विवाह-बन्धन का नियन्त्रण करने वाला सम्राट् है, राजा है । विवाह राजकीय-नियमों के अनुसार होता है और पुरोहित उन नियमों के अनुसार विवाह करा देता है । इस प्रकार विवाह में बृहस्पति और इन्द्र का अनुमोदन होना चाहिये ।

विवाह-बन्धन में माता-पिता की ओर से या राष्ट्र की ओर से कोई अनुचित दबाव या जबरदस्ती न होनी चाहिए । वर और वधू में विवाह के लिये परस्पर इच्छा का होना आवश्यक है । जो व्यक्ति विवाह की इच्छा वाले नहीं उन पर विवाह का बन्धन न होना चाहिये— यह भाव “ वधूयोः ” शब्द द्वारा सूचित किया गया है ।

राष्ट्र-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि ब्रह्मा-पदवी वाला पुरुष यदि विवाह की इच्छा करे तो उसे अपना ब्रह्मभाग मिल सके । अर्थात् ब्रह्मा-पदवी वाले पुरुष को उसके गुणों तथा कर्मों के साथ सदृशता रखने वाली योग्य ब्राह्मणी मिल सके । राष्ट्र में अयोग्य तथा विसदृश गुण-कर्मों वाले पुरुष और स्त्री का परस्पर विवाह न हो सके ।

विवाह में वर को भी वस्त्र देकर कन्या का पिता प्रसन्न करे तथा वधू को भी वस्त्र आदि सम्पत्ति देवे ।

सोलहवां प्रकरण

प्रातः भ्रमण

(१०७) स्योनाद्योरेधि बुध्यमानौ

हसामुदौ महसा मोदमानौ ।

सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो

जीवावुषसो विभातीः ॥

(अथर्व० १४।२।४३)

(हसामुदौ) सदा हँसते और मोद-प्रमोद करते हुए, (महसा^१) उत्सवों द्वारा (मोदमानौ) आनन्दित होते हुए, (सुगू) उत्तम गौश्रों वाले, (सुपुत्रौ) उत्तम पुत्रों वाले (सुगृहौ) तथा उत्तम घरों वाले तुम दोनों (बुध्यमानौ) प्रातः काल जाग कर, (स्योनात्) सुखकारी (योनेः अधि^२) घर^३ से बाहर निकल कर भ्रमण के निमित्त, (विभातीः) चमकती हुई (उषसः) उषाओं को (तराथः) तैरो (जीवौ) और इस प्रकार दीर्घजीवी होओ ।

पति और पत्नी को चाहिए कि वे :—

परस्पर एक दूसरे के साथ सदा हँसते खेलते रहें, एक दूसरे से नाराज या अप्रसन्न कभी न हों । अपने गृह-जीवनों में वे उत्सवों

१ महसू = A festival, a festive occasion; an offering; lustre; a hymn of praise; enjoyment; power; plenty -(आपटे कोष) ॥

२ योनि = गृह । निष० ३।४ ॥

को मनाया करें, ताकि आनन्द और प्रसन्नता की मात्रा उनके गृह-जीवनों में बढ़ सके। वे अपने घरों में उत्तम गौएँ रखें जिससे कि उत्तम, शुद्ध और सात्विक दूध मिल सके। सदाचार की शिक्षा तथा उत्तम खान-पान द्वारा वे पुत्रों और पुत्रियों को श्रेष्ठ और बलवान् बनावें। घरों में अच्छी सफाई रखें और घरों को स्वास्थ्य की दृष्टि से हर प्रकार से उत्तम बनावें। घरों में सब प्रकार की जीवनोपयोगी सामग्री को इकट्ठा करें जिससे कि घर अधिक सुखकारी बन सके।

प्रतिदिन प्रातःकाल चमकते हुए उषः काल में इकट्ठे भ्रमण किया करें।

इस प्रकार अपने नियमित तथा नियन्त्रित जीवनो के द्वारा वे दोनों दीर्घजीवी हो सकते हैं।

प्रातः भ्रमण के लाभ

(१०८) नवं वसानः सुरभिः सुवासा

उदागां जीव उपसो विभातीः।

आण्डात् पतत्रीवामुक्षि

विश्वस्मादेनसस्परि ॥

(अथर्व० १४।२।४४)

(नवम्) नए (वसानः) वस्त्र पहिन कर, (सुरभिः) और सुगन्ध लगाकर, (सुवासाः) सुन्दर और स्वच्छ वस्त्र धारण कर अथवा सुगन्ध से सुवासित होकर, (विभातीः) चमकती हुई (उषसः) उषाओं के समय में अर्थात् प्रातःकाल सूर्य चमकने के पूर्व ही (उदागाम्) मैं उठा हूँ और उठी हूँ, और भ्रमण के निमित्त गया हूँ और गई हूँ। (अण्डात्) और अण्डे से (पतत्री) पक्षी की (इव) न्याईं (विश्वस्मात्) सब

(एनसः) पाप से या सब प्रकार के नाश से (आ+अमुक्षि) मैं मुक्त हुआ हूँ और हुई हूँ। (जीवः) और दीर्घजीवी हुआ हूँ और हुई हूँ।

पति और पत्नी को चाहिए कि वे प्रतिदिन प्रातःकाल उपा के प्रकाश में भ्रमण किया करें। भ्रमण के समय वे नए, सुन्दर तथा स्वच्छ वस्त्र पहना करें। पुराने वस्त्र पहन कर भ्रमणार्थ न निकला करें। गृहस्थी लोग अपने वस्त्रों तथा शरीर पर भ्रमण के समय सुगन्ध लगावें, जिस से कि भ्रमण में चित्त प्रसन्न रहे।

पति और पत्नी, उपा-काल के अपने दैनिक भ्रमण के सम्बन्ध में, अपना अनुभव प्रकट करते हैं कि हम उपा-काल में उठ कर प्रतिदिन भ्रमण करते हैं जिसका कि यह परिणाम हुआ है कि हम पापों से मुक्त हो गए हैं, कष्टों से मुक्त हो गए हैं, विमारी से मुक्त हो गए हैं, और सब प्रकार के नाश से हमारा छुटकारा हो गया है। पापों, कष्टों, विमारियों, तथा नाश से इस प्रकार हमारा छुटकारा हो गया है जिस प्रकार का कि छुटकारा नवजात पक्षी का अण्डे से होता है। जब नवजात पक्षी अण्डा फोड़ कर अण्डे से बाहर हो जाता है तब उस का अण्डे से छुटकारा हो जाता है।

प्रातःकाल का समय सात्विक होता है। उस समय के भ्रमण से मन की वृत्तियाँ भी सात्विक और शान्त हो जाती हैं। इस प्रकार व्यक्ति की मानसिक-वृत्ति धर्म की ओर शनैः २ भुकने लगती है।

साथ ही प्रातःकाल की स्वच्छ तथा शुद्ध वायु के कारण शारीरिक तथा मानसिक स्वस्थता भी बढ़ती जाती है। इस प्रकार शारीरिक तथा मानसिक अस्वस्थता के कारण से होने वाला मनुष्य का शीघ्र-नाश नहीं होने पाता, और न उसे विमारियाँ तथा कष्ट ही घेरते हैं।

प्रातः भ्रमण के लाभ

(१०६) शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिमुम्ने महिब्रते ।

आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥

(अथर्व० १४।२।४५)

(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (शुम्भनी) शोभायमान हैं, (अन्तिमुम्ने^१) सामने देखने पर मनोहर प्रतीत होते हैं, (महिब्रते) ये महाव्रती हैं । (सप्त) सात (आपः^२) प्राण (सुस्रुवुः) वह निकले हैं, (ताः) वे सात प्राण (देवीः) दिव्य गुणों से सम्पन्न होकर (नः) हमें (अंहसः) पाप से, कष्ट से, विमारी से, या नाश से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ।

उषा-काल में भ्रमण इसलिए भी करना चाहिये चूँकि इस समय द्युलोक और पृथिवीलोक में शोभा अपूर्व दिखलाई देती है, और देखने पर शोभायमान द्युलोक और पृथिवीलोक मन में अत्यन्त प्रसन्नता उत्पन्न करते हैं, और मन की प्रसन्नता से मन तथा शरीर का स्वास्थ्य तथा उनकी शक्तियाँ बढ़ती हैं । इसलिए प्रातः काल के भ्रमण में द्युलोक और पृथिवीलोक की शोभा का, नेत्रों द्वारा, खूब निरीक्षण करना चाहिये ।

प्रातः काल भ्रमण करते हुए प्रकृति से शिक्षा भी लेनी

१ अन्ति = Near, before, in the presence of (आपटे) ।
अन्तिक = अन्तिक ।

२ आपः = प्राणः । यथा “सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः तत्र जागृतोऽ-
स्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ” । (यजु० ३४।५५) । तथा “आपो
वै प्राणाः” (श० ब्रा० ३।१।२।४) ।

चाहिये । द्युलोक और पृथिवीलोक को देख कर अनुभव करना चाहिए कि ये लोक अपने २ व्रतों में कितने दृढ़ हैं । त्रियत समय में पृथिवी अपनी घुरी पर चक्कर लगाती हुई दिन-रात को, तथा सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती हुई ऋतुओं तथा वर्षों को उत्पन्न करती है । इसी प्रकार द्युलोक में स्थित सूर्य, तारागण तथा चन्द्र भी अपने २ व्रत में दृढ़ हैं । इसलिये ये सब महाव्रती हैं । प्रातः काल में भ्रमण करने समय इन महाव्रतियों से अपने व्रतों पर आरुढ़ होने की शिक्षा लेनी चाहिये ।

प्रातः काल के भ्रमण से शरीर में रहनेवाले सात प्राण भी दिव्यगुणों वाले हो जाते हैं । अर्थात् इन में के रोग दूर हो जाते हैं और इन में स्वास्थ्य उत्पन्न हो जाता है । “सप्त वै शीर्षन् प्राणाः” (ऐ० ब्रा० १।१७ ; तै० ब्रा० १।२।१।३) के अनुसार पाँच शक्तियाँ ज्ञानेन्द्रियों की, मन तथा बुद्धि,— ये सात प्राण हैं ।

ये सात प्राण दिव्यगुणों वाले होकर मनुष्य को पाप, कष्ट तथा रोग, और शीघ्र-नाश से मुक्त कर देते हैं । अर्थात् व्रतनिष्ठा तथा सात्विकवृत्ति के हो जाने के कारण मनुष्य पाप करने की ओर झुकता नहीं, और स्वास्थ्य के सुधर जाने से उस का शीघ्र नाश भी नहीं होता ।

भ्रमण में नमस्कार

(११०) सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च ।

ये भूतस्य प्रचेतसस्तेभ्य इदमकरं नमः ॥

(अथर्व० १४।२।४६)

(सूर्यायै) सूर्या अर्थात् आदित्य-ब्रह्मचारिणी के प्रति, (देवेभ्यः)

I मानुदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव ।

(तैत्ति० उप० १।२।३) ।

माता, पिता, आचार्य तथा अन्य दिव्यगुणी व्यक्तियों और विद्वानों के प्रति, (मित्राय) मित्र अर्थात् सखा या दोस्त के प्रति, (वरुणाय) अन्य श्रेष्ठ व्यक्तियों तथा राजकीय-अधिकारियों के प्रति, (ये) तथा जो (भूतस्य) मनुष्यों को (प्रचेतसः) ज्ञान का उपदेश देकर सचेत करने वाले उपदेशक आदि हैं (तेभ्यः) उनके प्रति (इदम् नमः अकरम्) मैं यह नमस्कार करता हूँ, तथा करती हूँ ।

प्रातः काल भ्रमण करते समय मार्ग में यदि विदुषी स्त्रियाँ मिलें, माता-पिता-आचार्य या इन के सदृश अन्य पूजनीय व्यक्ति मिलें, मित्र मिलें, श्रेष्ठ जन या राजकीय उच्च कर्मचारी मिलें, अथवा प्रजा को ज्ञान देकर उसे धर्म-मार्ग पर चलाने वाले उपदेशक आदि मिलें, तो उन्हें नम्रता पूर्वक नमस्कार करना चाहिए । तथा अन्य समयों में भी जब २ इन का प्रथम दर्शन हो इन सब का नमस्कार द्वारा सत्कार अवश्य करना चाहिए ।

प्रातः काल में परमात्मस्तुति

(१११) य ऋते चिदमिश्रिषः पुरा जत्रुभ्यः आतृदः ।

संधाता संधि मघवा पुरुवसुर्निष्कर्ता विहु तं पुनः ॥

(अथर्व० १४।२।४७)

(यः) जिस ने (जत्रुभ्यः^३ पुरा) हसली^४ आदि की हड्डियों के बने

१ विद्वांसो वै देवाः ।

२ वरुण सम्भवतः प्रजा को नियन्त्रण में रखने वाले राज-कर्मचारी हैं । वेद में वरुण के साथ स्पशों (गुप्तचरों), पाशों, (फंदों) तथा निरीक्षण का वर्णन आता है । (अथर्व० ४।१६।१-६) ।

३ जत्रु = The collar bone; The clavicle; (आपटे कोष) ।

से पूर्व, (आतृदः^२) कान, नाक, आँख आदि के छेद बनाए थे, और जिस ने (अभिथिपः) जोड़ने के साधन सरेस आदि के (कृतेचित्) बिना भी (संधिम्) शरीर की संधियों अर्थात् जोड़ों को (संधाता) जोड़ा था, (मघवा) वह ऐश्वर्यवान् (पुरुवसुः) तथा बहुधनी, अथवा बहुतों को बसाने वाला या विश्ववासी परमात्मा (बिहूतम्) शरीर के बिगाड़ को तथा टूटे-फूटे को (पुनः) फिर (निष्कर्ता) बनाने वाला है, ठीक करने वाला है ।

परमात्मा का स्तवन किस प्रकार करना चाहिए, — इस का दृष्टान्त-रूप में यहाँ संक्षिप्त वर्णन है । यथा :—

हमारे शरीरों, इन्द्रियों तथा हड्डी आदि का बनाने वाला परमा-

१ गर्भशास्त्र के ज्ञाता कहते हैं कि ६ सप्ताह के गर्भ में नासिका, मुख, आँखों और कानों के छिद्र बन जाते हैं । दूसरे महीने मलद्वार का चिन्ह दिखाई देने लगता है । तीसरे मास के गर्भ में जंतुकास्थि का, — जिसे कि मन्त्र में “जत्रुभ्यः” द्वारा निर्दिष्ट किया है, — तथा अन्य कई अस्थियों का विकास होता है । (देखो “हमारे शरीर की रचना”, भाग २ ।

२ तृद् = तर्द् = गढ़ा, छेद । A hole; An opening (आपटे कोष) । ऐतरेयोपनिषद् में गर्भाशय में इन्द्रियों के बनने के सम्बन्ध में “निभिद्” शब्द का प्रयोग किया गया है । यथा मुखं निरभिद्यत यथाण्डम्, नासिके निरभिद्येताम्, अक्षिणी निरभिद्येताम्, कर्णौ निरभिद्येताम्, — इत्यादि । कठोपनिषद् में “पराञ्चि खानि व्यतृणत्” में तृण् का प्रयोग किया गया है । तृण् = अदने । मानो इन्द्रियों के स्थानों को खा लिया गया है जिससे कि वहाँ गढ़े बन गये हुए हैं ।

त्मा है । उसने ही हमें जीवन दिया है । उसने ही हमारी इन्द्रियाँ बनाई हैं । उस कारीगर ने ही हमारे शरीरों के अवयवों की संधियों को जोड़ा है । वह ऐश्वर्यवान् है, बहुधनी है । संसार को वसानेवाला है तथा संसार में वसा हुआ है । शरीर में प्राप्त रोगों को वही ठीक करने वाला है । शरीर के टूटे-फूटे अंगों और अवयवों को वही फिर बनाने वाला है, - ऐसी और इस प्रकार की परमात्मा-की-स्तुति तथा प्रार्थना, प्रातः काल के समय, प्रत्येक सद्गृहस्थी को, सदा करनी चाहिए । .

परमात्मा के प्रति समर्पण

(११२) अपास्मत् तम उच्छतु नीलं

पिशङ्गमुत लोहितं यत् ।

निर्दहनी या पृषातक्यस्मिन्

तां स्थाणावध्या सजामि ॥

(अथर्व० १४।२।४८)

(अस्मत्) हम से (तमः) तम^१ अर्थात् प्रकृति (अप उच्छतु) दूर हट जाय, (यत्) जो तम अर्थात् प्रकृति (नीलम् पिशङ्गम् उत लोहितम्) कि नीले, शुक्ल तथा लाल वर्ण की है । (या) जो प्रकृति (निर्दहनी) नितरां दग्ध करने वाली, बिल्कुल जला देने वाली, भस्म कर देने वाली है, (पृषातकी) तथा जो बिन्दुमयी या चित्रवर्ण वाली है, (ताम्) उस प्रकृति को (अस्मिन् स्थाणी) इस कूटस्थ-परमात्मा में (अध्यासजामि) मैं सौंपता हूँ ।

प्रकृति की शोभा का निरीक्षण करता हुआ व्यक्ति इस शोभायमान

प्रकृति के पति का ध्यान करे। प्रकृति के नील, पिशङ्ग, तथा लोहित रूपों का ध्यान करे, और परमात्मा से प्रार्थना करे कि इस तमोमयी प्रकृति का आवरण, जो कि उस के मानसिक नेत्रों पर सदा छाया रहता है, हट जाय, दूर हो जाय। वह ध्यान करे कि प्रकृति सदा दग्ध करने वाली है, और परमात्मा हृदय-तथा-आत्मा को शीतल करने वाला है। ध्यान करने वाला ध्यानी अपने संकल्प के बल से, अपने विचार के परिपाक से, इस प्रकृति को, इस प्राकृतिक चकाचोंध को, इस प्राकृतिक लीला को, प्रकृति के अधीश्वर के प्रति सौंप दे। और स्वयं निष्काम, निःस्पृह तथा समर्पण के भाव वाला होकर, गृहस्थ-जीवन को अधिक से अधिक पवित्र तथा धर्मयुक्त बनावे।

प्रकृति को इस मन्त्र में “तमः” कहा है। वेद में स्थान २ पर प्रकृति को “तमः” कहा है। ऋग्वेद के प्रसिद्ध सृष्टिविद्या-विषयक सूक्त^१ में भी प्रकृति को “तमः” शब्द से ही स्मरण किया गया है। मनु^२ महाराज ने भी प्रकृति को “तमः” कहा है। प्रकृति वास्तव में तमोरूप है, चेतना या ज्ञान के प्रकाश से यह शून्य है। इस तमोमयी प्रकृति ने आत्मा के स्वरूप पर आवरण^३ डाले हुए हैं। इसलिये ध्याता इस प्रकृति से पृथक् होना चाहता है, अलग होना चाहता है।

मन्त्र में प्रकृति के तीन रूप दर्शाए हैं, नील, पिशङ्ग और लोहित। दर्शनकार भी प्रकृति के तीन अंश दर्शाते हैं, तमस्, सत्व

- १ तम आसीत्तमसा गूढमग्रे । (ऋग्वेद १०।१२६।३) ।
- २ आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ (मनुस्मृति १।२) ॥
- ३ हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । (ईश० उप०; तथा यजुर्वेद ४०वां अध्याय) ॥

और रजस् । सत्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था अर्थात् संसार को उत्पन्न न करने की अवस्था ही पृकृति है । पृकृति की अनारम्भक अवस्था में सत्व, रजस् और तमस् स्वतन्त्र रूप से रहते हैं, एक दूसरे पर अवलम्बी नहीं होते ।

ये सत्व, रजस् और तमस् क्रम से शुक्ल, लोहित तथा कृष्ण (नील) वर्ण के कहे जाते हैं । श्वेताश्वतर^१ उपनिषद् में पृकृति को शुक्ल, लोहित और कृष्ण वर्ण का कहा है । पृकृति के स्वरूप के वर्णन में, इस मन्त्र में तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में लोहित शब्द समान है । नील शब्द कृष्ण का पर्याय वाची है । और अब शेष-न्याय से पिशंग^२ शब्द शुक्लार्थक प्रतीत होता है । इसलिये मन्त्र का नील शब्द पृकृति के “ तमः ” अंश का, “ पिशंग ” शब्द उसके “ सत्व ” अंश का, और “ लोहित ” शब्द उसके “ रजस् ” अंश का निर्देश करता है । पृकृति के तीनों रूपों से भी पृथक् होने के लिये ध्याता अपने संकल्प को दृढ़ करता है । वह पृकृति के बन्धन से जुदा होना चाहता है, सत्व के बन्धन से जुदा होना चाहता है, रजस् के बन्धन से जुदा होना चाहता है और तमस् के बन्धन से जुदा होना

१ अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां ब्रह्मीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक् भोगांमजोऽन्यः ॥

२ “ पिशंग ” शब्द ‘ पिश + ग ’ से भी बन सकता है । पिशं गच्छतीति पिशंगः । पिश् धातु का अर्थ “ प्रकाश करना ” भी होता है, और ‘ पिश ’ शब्द का अर्थ “ पाप से रहित ” भी होता है । पिश = To light, irrediate. पिश = free from sin. (आपटे कोष) । इसलिये पिशंग = प्रकाश को प्राप्त होने वाला या पाप से रहित । दर्शनकारों ने “ सत्व ” को प्रकाशमय तथा सात्विक गुणों वाला माना है । इस प्रकार भी “ पिशंग ” शब्द सत्व का पर्यायवाची हो सकता है ।

चाहता है। इसीलिये मन्त्र में “तमः” शब्द द्वारा भी प्रकृति को सूचित किया है और प्रकृति के तीन अलग २ रूपों का भी वर्णन किया है। प्रकृति के यद्यपि तीन रूप हैं, सत्त्व, रजस् और तमस्। तो भी सारी प्रकृति को “तमः” कहा जाता है। यह दर्शन के लिए कि प्रकृति के किसी भी रूप के साथ जीव को मोह न होना चाहिए। जीव सम्पूर्ण प्रकृति को तमोरूप समझे और केवल आत्मतत्त्व को ही प्रकाशमय समझे।

9801

प्रकृति को मन्त्र में “निर्दहनी” कहा है। यह दग्ध करने वाली है शान्ति देने वाली नहीं। प्रकृति के इस यथार्थ स्वरूप को जानकर ध्याता परमात्मा की ओर अधिकाधिक भुक्तता है। निर् = नितरां, दहनी = दहन करने वाली।

मन्त्र में प्रकृति के दार्शनिक स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है। “पषातकी” शब्द दो भावों का निर्देशक है। पषातकी का एक अर्थ है “बिन्दुमयी” और दूसरा अर्थ है “चित्रवर्ण” वाली। प्रकृति बिन्दुमयी है इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति पट या चादर की तरह बिना हिस्सों में विभक्त हुए फैली हुई नहीं है, अपितु प्रकृति के छोटे-छोटे कण हैं, प्रकृति कणमयी है, बिन्दुमयी है, परम-अणु रूप है। प्रकृति चित्र-विचित्र वर्ण वाली भी है। क्योंकि प्रकृति शुक्ल भी है, लोहित भी है, और कृष्ण भी है। प्रकृति में इन तीनों वर्णों का मेल है। जो वस्तु नाना वर्णों वाली हो, उसे चित्र-विचित्र वर्णों वाली कहते हैं।

- 1 पृषत् या पृषत का अर्थ है “जल का बिन्दु”। पृषत् = A drop of water or of any other liquid. पृषत = A drop of water. (आपटे कोष)
- 2 पृषत् या पृषत = चित्रवर्ण वाला। पृषत् और पृषत = Spotted, variegated; (आपटे कोष)।

शरीर के रहते, प्रकृति से या प्रकृति के उपरोक्त तीन रूपों से छूटना असम्भव है। क्योंकि शरीर, शरीरावयव, तथा इन्द्रियाँ,—ये सब प्रकृति के ही परिणाम हैं। खान-पान के पदार्थ तथा इन्द्रियों के विषय भी प्रकृति के ही बने हुए हैं। इस लिए इस मन्त्र में प्रकृति तथा प्रकृति के रूपों से छूटने का भाव केवल यही है कि इन में ध्याता का मोह न हो, इन के साथ ध्याता का संग न हो, इन में ध्याता फंस न जाय, इन में वह अपने जीवन की तत्परता अनुभव न करे। अपितु वह इन सब को परमात्मा के प्रति समर्पित कर निःसंग, निर्लेप, तथा निष्काम होकर गृहस्थ-जीवन व्यतीत करे,—यह यहां अभिप्राय है।

मन्त्र में स्थाणु शब्द है। यहाँ स्थाणु का अर्थ खूँटा या स्तम्भ नहीं। इस मन्त्र में स्थाणु का अर्थ है,—स्थिर, अचल, अप्रकम्प और कूटस्थ परमात्मा। इसी अर्थ में मन्त्र का भाव अधिक स्पष्ट और युक्ति-संगत प्रतीत होता है। महाकवि कालिदास^१ ने भी “स्थाणु” शब्द का प्रयोग परमात्मा^१ के अर्थ में किया है। खूँटा या स्तम्भ अर्थ करने पर भी खूँटे या स्तम्भ की न्याईं स्थिर परमात्मा,—यह अर्थ यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

परम निष्काम-भाव

(११३) यावतीः कृत्या उपवासने

यावन्तो राज्ञो वरुणस्य पाशाः ।

व्यूढयो या असमृद्धयो या

अस्मिन् ता स्थाणावधि सादयामि ॥

(अथर्व० १४।२।४६)

१ स “स्थाणुः” स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ।

(विक्रमोर्वशीय० १।१) ।

(उपवासने) उपवास-व्रत में (यावतीः) जितने (कृत्याः^१) मेरे धार्मिक क्रियाकर्म हैं, (वरुणस्य राज्ञः) और वरुण-राजा अर्थात् संसार के नियामक राजा के (यावन्तः) जितने (पाशाः) पाश हैं, फंदे हैं, (याः) जो (व्यूढयः) ऋद्धियों का आना और जाना है, (याः) तथा जो (असमृद्धयः) ऋद्धियों का कभी भी न आना है, (ताः) उन सब को (अस्मिन् स्थाणी) इस अचल-कूटस्थ परमात्मा में, (अधि सादयामि) में स्थापित करता हूँ, इन सब को उस के प्रति समर्पित करता हूँ ।

इस मन्त्र में निष्काम-भाव की पराकाष्ठा का वर्णन है । लोग उपवास-व्रत करते हैं, और नाना प्रकार के धार्मिक-कृत्य करते हैं । परन्तु इन उपवासा और धार्मिक कृत्यों के करते हुए उन में अभिमान तथा आत्मोत्कर्ष के दुर्भाव आ जाते हैं । ऐसे व्यक्ति, उपवासों तथा धार्मिक कृत्यों को निष्काम-भाव से नहीं कर रहे होते ।

परमात्मा संसार का शासक है । वह संसार का नियन्ता है । वह मनुष्यों को उन के किये कर्मों का फल देता है । किसी को सुख और किसी को दुःख रूपी फल का देने वाला वही वरुण राजा है । परमात्मा के फल देने के साधन भी नाना हैं, भिन्न २ हैं । इन नाना-रूप साधनों को वेद ने “स्पश” और “पाश”^२ कहा है । इन पाशों से

१ कृत्या = Action, deed; magic; A female deity to whom sacrifices are offered for destructive and magical purposes. आपटे कोष ।

२ [क] दिवः स्पशः चरन्तीमस्य सहस्राक्षं अति पश्यन्ति भूमिम् ।
[ख] ये ते पाशाः वरुण सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विपिता रुपन्तः ।

छिन्नु सर्वे अनृतं वदन्तः यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु ॥

[ग] शतेन पाशैरभिधेः वरुणैनं मा ते मोच्यन्तु तवाहं नृचक्षः ।

(अथर्व० ४।१६।४, ६, ७) ।

बंधे व्यक्ति रोते और चिल्लाते हैं, नाना प्रकार से खुश और प्रसन्न होते हैं । परन्तु वैदिक सद्गृहस्थी इन सुखों तथा दुःखों को निष्काम-भाव से भोगता है । वह सुखों में लिप्त और दुःखों में कष्ट को अनुभव नहीं करता । वह परमात्मा के भेजे हुए दुःखों का भी स्वागत करता है और प्राप्त हुए सुख-पाशों के साथ खेलता भी है । वैदिक-सद्गृहस्थी के निष्काम-जीवन का यह बहुत ऊँचा आदर्श है ।

वैदिक-सद्गृहस्थी ऋद्धियों का स्वामी बने, या ऋद्धियाँ आकर उस से हट जायँ, उसे छोड़ जायँ, तब भी वह सुख या दुःख से प्रसन्न या व्यथित नहीं होता । उसके समग्र जीवन में चाहे कभी भी ऋद्धियों का दर्शन न हुआ हो वह तब भी दुःखी नहीं होता । क्योंकि उसकी यह समावस्था उस के निष्काम-जीवन का परिणाम है । क्योंकि उस ने अपना सर्वस्व उस अचल और कूटस्थ परमात्मा के प्रति समर्पित किया हुआ है । यह समर्पण बहुत उच्च कोटि का समर्पण है ।

पत्नी का वस्त्रनिर्माण

(११४) या मे प्रियतमा तनूः सा मे बिभाय वाससः ।

तस्याग्रे त्वं वनस्पते नीविं कृणुष्व मा वयं विषाम ॥

(अथर्व० १४।२।५०)

(या) जो (मे) मेरी (प्रियतमा) अत्यन्त प्रिय (तनूः) देह है, (मे) मेरी (सा) वह देह (बिभाय) सरदी तथा गरमी से भय करती है, (वनस्पते) इस लिए हे वनस्पति ! या वनों की स्वामिनी, स्त्री ! (त्वम्) तू (अग्रे) पहिले (तस्य वाससः) उस वस्त्र के (नीविम्^१) मूल-धन को, सामग्री को (कृणुष्व) इकट्ठा कर, (वयम्) ताकि हम (मा) न

१ नीवि = Capital, Principal Stock. (आपटे कोष) ।

(रिषाम^१) नष्ट हों।

देह पर सरदी तथा गरमी का प्रभाव होता है। इस सरदी तथा गरमी से रक्षा के लिए वस्त्रों की आवश्यकता होती है। समाज में रहते हुए वस्त्रों की आवश्यकता लज्जा के ढाँपने के लिए भी होती है। सभ्य समाज में रहने वाला व्यक्ति सभ्यता की दृष्टि से भी वस्त्रों की आवश्यकता को अनुभव करता है। इन सब दृष्टियों से गृहस्थ-जीवन में वस्त्रों की आवश्यकता होती है।

इसलिए गृहस्थियों को चाहिये कि वे अपने लिये वस्त्रों की भी चिन्ता करें। वस्त्रों की सामग्री को इस मन्त्र में वनस्पति कहा है। वनस्पति की छाल आदि तथा कपास आदि से वस्त्र बनाए जाते हैं। कपास का पौदा भी वनस्पति है। वस्त्रोपयोगी इन वनस्पतियों का प्रबन्ध गृहस्थियों को अवश्य करना चाहिये। ऐसी वनस्पतियों की खेती या तो स्वयं करनी चाहिये या जंगल में उगी हुई वस्त्रोपयोगी वनस्पतियों का संग्रह करना चाहिये। ये वनस्पतियाँ वस्त्रों के लिए मूलधन हैं।

इस मन्त्र में पत्नी को भी वनस्पति नाम से सम्बोधित किया गया प्रतीत होता है। वस्त्रों का प्रबन्ध करना विशेष रूप से पत्नी का कर्तव्य वेद ने दर्शाया है। इस लिए “वस्त्रोपयोगी वनस्पति का सीधा सम्बन्ध पत्नी के साथ है”, यह सूचित करने के लिए पत्नी को वनस्पति नाम से सम्बोधित किया है। इस दृष्टि से वनस्पति का अर्थ है “वन का पति” अर्थात् स्वामिनी। अभिप्राय यह कि कपास आदि की खेतियों पर तथा वन के वृक्ष आदि पर पत्नी अधिकार प्राप्त करे कि वह उन्हें लेकर उसके द्वारा वस्त्र-निर्माण कर सके। ये वनस्पतियाँ तथा

इन से एकत्रित की गई वस्त्रोपयोगी सामग्री नीवि है, वस्त्रों का मूल-धन है। इस मूलधन को एकत्रित करना पत्नी का कर्तव्य है।

वस्त्रों के अभाव में, शिशिर तथा हेमन्त जैसे शीत काल में, तथा ग्रीष्म काल में भी, नाश की अधिक सम्भावना रहती है, और वस्त्रों की उचित मात्रा में उपस्थिति से नाश की यह सम्भावना कम हो जाती है।

पत्नीनिर्मित वस्त्र पहनो

(११५) ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः ।

वासो यत् पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुप स्पृशात् ॥

(अथर्व० १४।२।५१)

(पत्नीभिः) पत्नियों ने (ये) जो (अन्ताः) वस्त्रों के प्रान्त भाग बुन कर तय्यार किये हैं, (यावतीः) और जो तरह २ के (सिचः) किनारे काढ़े हैं, (ये) जो (ओतवः) बाने तय्यार किये हैं, (ये च) और जो (तन्तवः) ताने तय्यार किये हैं, (यत्) इस प्रकार जो (वासः) वस्त्र (पत्नीभिः) पत्नियों ने (उतम्) तय्यार किये हैं, (तत्) वे वस्त्र ही (नः) हमें (स्योनम्) सुखदायी हों, (उपस्पृशात्) और वे वस्त्र ही हमारे शरीरों के साथ स्पर्श करें।

वस्त्रों की मजबूती तथा सुन्दरता के लिए वस्त्रों के किनारे

1. "पत्नीभिः" शब्द में बहुवचन का प्रयोग है। इस बहुवचन के होते यह अनुमान न करना चाहिए कि वेद में बहुपत्नी का विधान है। क्योंकि इस मन्त्र में "नः" शब्द का भी प्रयोग है। इस लिये इस मन्त्र में नाना पुरुषों तथा नाना पत्नियों का वर्णन है। अतः यहां बहुविवाह की आशंका न करनी चाहिये।

उन की लम्बाई तथा चौड़ाई की ओर निकाले जाते हैं। मन्त्र में इन्हें “अन्ताः” और “सिचः” कहा गया है। इसी प्रकार वस्त्र बुनने के लिए जो बाना और ताना तय्यार किया जाता है, उसे मन्त्र में “ओतु” और “तन्तु” कहा गया है।

मन्त्र में किनारों के निकालने, ताना-बाना तय्यार करने, तथा वस्त्रों के बुनने का काम पत्नियों का दर्शाया गया है।

मन्त्र में यह भी कहा गया है कि जो वस्त्र पत्नियों ने तय्यार किया है वह वस्त्र ही हमें पहनने में सुखदायी प्रतीत हो और वही वस्त्र हमारे शरीरों के साथ स्पर्श करे, अन्य प्रकार के वस्त्रों में हम सुख अनुभव न करें और न ही उन वस्त्रों का स्पर्श हम अपने शरीरों के साथ करें। इस मन्त्र में खद्वर धारण करने का बहुत स्पष्ट तथा सुन्दर शब्दों में वर्णन किया गया है।

वधू की दीक्षाएं

(११६) उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः।

अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा ॥ (अथर्व० १४।२।५२)

(उशतीः) कामना वाली (इमाः) ये (कन्यलाः) कन्याएं, (पितृलोकात्) पिता के लोक से, अर्थात् पितृगृह से, (पतिम्) पति की ओर (यतीः^१) जाती हुई, (दीक्षाम्) नई दीक्षा को (अव+असृक्षत) धारण करती हैं, (स्वाहा) और इस निमित्त विवाह की अग्नि में आहुति-प्रदान करती हैं।

कन्या उसे कहते हैं जो कि कुमारो है। विवाहिता को कन्या नहीं कहते। कन्या में जब कामना उत्पन्न हो जाय, पति के निमित्त

१ इण् + शतृ + डीप् (अष्टा० इणो यण् ६।४।२१)।

इच्छा पैदा हो जाय, तब उस का विवाह होना चाहिए, उस से पूर्व नहीं ।

पितृ-गृह से पति-गृह को जाने से पूर्व कन्याओं को दीक्षा देनी चाहिए, अर्थात् पितृ-गृह से पतिगृह की ओर जाने के लिए इन का विवाह-संस्कार होना चाहिए और इस संस्कार में उन्हें गृहस्थ-जीवन के उपयोगी व्रत धारण कराने चाहियें ।

यह विवाह-संस्कार तथा इस संस्कार में लिए गए व्रत, अग्नि-साक्षिक होने चाहियें । और इन व्रतों की घोषणा, कन्याएं, अग्नि में आहुति-प्रदान-पूर्वक करें ।

वधू की वर्चोदीक्षा

(११७) बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् ।

वर्चो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥

(अथर्व० १४।२।५३)

(बृहस्पतिना^१) बृहस्पति अर्थात् पुरोहित द्वारा (अवसृष्टाम्) दी गई दीक्षा को (विश्वेदेवाः^२) इन सब देवों और देवियों ने (अधारयन्) अपने २ विवाह के समय में धारण किया था, इस लिए (इमाम्) इस कन्या का (तेन वर्चसा) उस वर्चस् की दीक्षा के साथ (संसृजामसि) हम संसर्ग करते हैं, (यत्) जो (वर्चः) वर्चस् कि (गोषु) गौओं में (प्रविष्टम्) प्रविष्ट हुआ २ है ।

बृहस्पति का अभिप्राय है पुरोहित । बृहती का अर्थ है वेदवाणी, उसका पति होने के कारण पुरोहित को बृहस्पति कहते हैं । यह पुरो-

१ देखो मन्त्र संख्या १०६ की टिप्पणी ।

२ देवाः = देवाश्च देव्यश्च (एकशेष समास) ।

हित वेदों का विद्वान् होना चाहिए । केवल संस्कारों के मन्त्रों को पढ़ लेने से ही पुरोहित पौरोहित्य-कार्य के लिए अधिकारी नहीं हो सकता । पुरोहित अपने पौरोहित्य-कार्य के लिए तभी अधिकारी होता है जब कि वह वेदों का वक्ता हो ।

नव-वधू के विवाह-संस्कार की दीक्षा के समय, पुरोहित, समीप बैठे देवों तथा देवियों की ओर निर्देश करता हुआ नव-वधू के प्रति कहता है कि देख ! इन उपस्थित देवों तथा देवियों ने भी वही दीक्षा धारण की हुई है जिस दीक्षा का धारण हे कन्या ! तू करने लगी है ।

दीक्षा के समय उपस्थित देव और देवियाँ, इस नव-विवाहित वधू का संसर्ग, “वर्चस्” के साथ करना चाहते हैं, उस वर्चस् के साथ जो वर्चस् कि गोश्रों में प्रविष्ट है । गोएं शान्त तथा शीतल स्वभाव की होती हैं । यह गोश्रों का “वर्चस्” है । विवाह-मण्डप में उपस्थित देव और देवियाँ चाहते हैं कि यह नव-वधू भी शान्त तथा शीतल स्वभाव की हो । यह नव-वधू की पहली दीक्षा है ।

वधू की तेजोदीक्षा

(११८) बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् ।

तेजो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥

(अथर्व० १४।२।५४)

(बृहस्पतिना) बृहस्पति अर्थात् पुरोहित द्वारा (अवसृष्टाम्) दी गई दीक्षा को (विश्वेदेवाः) इन सब देवों और देवियों ने (अधारयन्) अपने २ विवाह के समय में धारण किया था, इस लिए (इमाम्) इस कन्या का (तेन तेजसा) उस तेज की दीक्षा के साथ (सं सृजामसि)

हम संसर्ग करते हैं, (यत्) जो (तेजः) तेज कि (गोषु) गौओं में (प्रविष्टम्) प्रविष्ट हुआ २ है ।

इस मन्त्र द्वारा विवाहित कन्या को तेजस्वी बनने की दीक्षा दी गई है । यह उसकी दूसरी दीक्षा है ।

वधू की भगदीक्षा

(११६) बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् ।

भगो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि ॥

(अथर्व० १४।२।५५)

(बृहस्पतिना) बृहस्पति अर्थात् पुरोहित द्वारा (अवसृष्टाम्) दी गई दीक्षा को (विश्वेदेवाः) इन सब देवों और देवियों ने (अधारयन्) धारण किया था, इस लिए (इमाम्) इस कन्या का (तेन भगेन) उस भग की दीक्षा के साथ (सं सृजामसि) हम संसर्ग करते हैं, (यः) जो (भगः) भग कि (गोषु) गौओं में (प्रविष्टः) प्रविष्ट हुआ २ है ।

भग से अभिप्राय गौ की योनि का है । वह योनि से सन्तानों को जन्म देती है, जिस से गोवंश की वृद्धि होती है । वधू को भी अपनी भग-शक्ति से उत्तम २ सन्तानों को जन्म देना चाहिये । यह उस की तीसरी दीक्षा है ।

वधू की यशोदीक्षा

(१२०) बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् ।

यशो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥

(अथर्व० १४।२।५६)

(बृहस्पतिना) बृहस्पति अर्थात् पुरोहित द्वारा (अवसृष्टाम्) दी गई दीक्षा को (विश्वे देवाः) इन सब देवों और देवियों ने (अधारयन्) अपने २ विवाह के समय में धारण किया था, इसलिए (इमाम्) इस कन्या का (तेन यशसा) उस यश की दीक्षा के साथ (संसृजामसि) हम संसर्ग करते हैं, (यत्) जो (यशः) यश कि (गोषु) गौओं में (प्रविष्टम्) प्रविष्ट हुआ २ है ।

कन्या सात्त्विक यश को अपने में धारण करने की दीक्षा इस मन्त्र द्वारा लेती है । यह चौथी दीक्षा है ।

बधू की पयोदीक्षा

(१२१) बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् ।

पयो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सजामसि ॥

(अथर्व० १४।२।५७)

(बृहस्पतिना) बृहस्पति अर्थात् पुरोहित द्वारा (अवसृष्टाम्) दी गई दीक्षा को (विश्वे देवाः) इन सब देवों और देवियों ने (अधारयन्) अपने २ विवाह के समय में धारण किया था, इसलिए (इमाम्) इस कन्या का (तेन पयसा) उस पय की दीक्षा के साथ (संसृजामसि) हम संसर्ग करते हैं, (यत्) जो (पयः) पय कि (गोषु) गौओं में (प्रविष्टम्) प्रविष्ट हुआ २ है ।

पय का अर्थ है दूध । पत्नी अपने उत्तम दूध द्वारा सन्तानों को पाल सकने में समर्थ हो, — यह अभिप्राय इस दीक्षा का है । यह पांचवीं दीक्षा है ।

बधू की रसदीक्षा

(१२२) बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् ।

रसो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सजामसि ॥

(अथर्व० १४।२।५८)

(बृहस्पतिना) बृहस्पति अर्थात् पुरोहित द्वारा (अवसृष्टाम्) दी गई दीक्षा को (विश्वे देवाः) इन सब देवों और देवियों ने (अधारयन्) अपने २ विवाह के समय में धारण किया था, इसलिए (इमाम्) इस कन्या का (तेन रसेन) उस रस की दीक्षा के साथ (संसृजामसि) हम संसर्ग करते हैं, (यः) जो (रसः) रस कि (गोषु) गौओं में (प्रविष्टः) प्रविष्ट हुआ २ है ।

आपटे कोषकार ने “रस” शब्द के निम्नलिखित अर्थ दिये हैं जो कि इस प्रकरण में उपयोगी हैं । यथा :- flavour, taste; inclination for; love, affection; a feeling of love; happiness; charm; beauty; pathos, emotion, feeling, sentiment - इत्यादि । इन रसों का समावेश नववधू के जीवन में होना चाहिये । अर्थात् नववधू रसीले पदार्थों के बनाने में चतुर हो, वह गृह-कृत्यों में रुचि रखती हो, वह प्रेमरस की मूर्ति हो, सदा प्रसन्न रहे, सफाई-स्वच्छता तथा शरीर की कान्ति को सदा बनाए रखे, सद्भावनाओं वाली हो,— इस प्रकार नववधू इन रसों को धारण करने की दीक्षा इस मन्त्र द्वारा लेती है । यह छठी दीक्षा है ।

असामयिक मृत्यु से बचाव

(१२३) यदीमे केशिनो जना गृहे ते

समनर्तिषू रोदेन कृण्वन्तोऽघम् ।

अनिष्ट्वा तस्मादेनसः

सविता च प्र मुञ्चताम् ॥

(अथर्व० १४।२।५६)

(यदि) यदि (इमे) ये (केशिनो जनाः) केशों वाले जन अर्थात्

स्त्रियां, (रोदेन) रुदन द्वारा (अघम्^१) हत्या को (कृण्वन्तः) प्रकट करती हुईं (ते) हे वधू ! तेरे (गृहे) घर में (समनर्तियुः^२) इकट्ठी होकर रोई पीठी हैं, तो (तस्मात् एनसः) उस हत्या से, या उस हत्या के कारणीभूत पाप से, (अग्निः) अग्नि (च) और (सविता) सूर्य (त्वा) तुझे (प्रमुञ्चताम्) छुड़ावें ।

गृहस्थ-जीवन में बालकों और बालिकाओं, तथा युवा और वृद्धों की हत्या शोक-जनक अवश्य होती है । उचित तो यही प्रतीत होता है कि बालकों और बालिकाओं तथा युवाओं की अपूर्ण-आयु में मृत्यु न हुआ करे । “सब की मृत्यु बुद्धावस्था में हो” यही युक्तिसंगत तथा उचित प्रतीत होता है ।

परन्तु हम अपनी आंखों के सामने बालकों और बालिकाओं तथा युवकों की मृत्यु के दुःखदायी दृश्य सदा देखते हैं । ये दुःखदायी दृश्य किन्हीं पापों के, किन्हीं नियमों के भंग के, परिणाम हैं— यह वैदिक-सिद्धान्त है । इसी कारण “अघ” शब्द जो कि पापार्थक है और हन् धातु से बना हुआ है, मन्त्र में रखा हुआ है । और मन्त्र का “एनस्” शब्द केवल पापार्थक है । इससे प्रतीत होता है कि वैदिक-दृष्टि में, हत्याएँ या कष्ट, पापों के ही परिणाम माने हैं । बालकों और बालिकाओं तथा युवकों को प्राप्त होने वाली हत्याएँ या कष्ट, उनके वर्तमान तथा पूर्वजन्मों के संचित पापों के भी परिणाम हो सकते हैं, और उनके माता-पिता तथा सम्राज के पापों के भी परिणाम

१ अघ = अघ + हन् । अघं हन्तेः निर्हसितोपसर्गः । आहन्ति इति ।

(निरु० ६।११) ।

२ तृती गात्रविहारे । दुःख के कारण अङ्गों का इधर-उधर पटकना । प्रसन्नता से नाचने का यहाँ भाव नहीं है ।

हो सकते हैं। इसलिये ऐसी हत्याओं तथा कष्टों से बचने के लिये मनुष्यों को चाहिए कि वे पापों से सदैव बचें।

वेद ने यह भी इस मन्त्र में निर्देश किया है कि इन हत्याओं तथा कष्टों के प्राकृतिक कारण भी हो सकते हैं। यथा—वायु, जल और स्थल का शुद्ध न होना, तथा अन्य स्वास्थ्यकारो अवस्थाओं पर उचित ध्यान न देना आदि। इसीलिये इन हत्याओं तथा कष्टों से मुक्त होने के लिए मन्त्र में दो उपाय और दर्शाए हैं।

एक तो अग्नि और दूसरा सूर्य। गृहों में गार्हपत्याग्नि का सदा प्रज्वलित रहना, उस में दैनिक अग्निहोत्र अथवा अन्य प्रकार के यज्ञों का होते रहना, तथा गृहों में सूर्य के खुले प्रकाश का आना, तथा सूर्य-रश्मि-चिकित्सा,—इन उपायों पर उचित ध्यान देने से भी असामयिक हत्याओं और कष्टों से छूटकारा होना सम्भव है।

मन्त्र में स्त्री-समाज को “केशिनो जनाः” पदों द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। इस से प्रतीत होता है कि वेदों की दृष्टि में केशों का सिरों पर रखना स्त्रियों के लिए किन्हीं कारणों से आवश्यकिय है।

निकट सम्बन्धी की मृत्यु की अवस्था में सम्बन्धियों का मृत्यु वाले गृह में आकर इकट्ठा होना और स्वाभाविक शोक से प्रेरित होकर उनका रोना,—यह भी प्रेमानुराग का एक स्वाभाविक परिणाम है, जिसका कि वर्णन मन्त्र में किया गया है।

असामयिक मृत्यु से बचाव

(१२४) यदीयं दुहिता तव विकेरयरुदद् गृहे

रोदेन कृण्वत्यघम् ।

अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्रमुञ्चताम् ॥

(अथर्व० १४।२।६०)

हे वधू ! (यदि) यदि (इयम्) यह (तव) तेरी (दुहिता)
कन्या (रोदेन) रुदन द्वारा, (अघम्) हत्या या कष्ट को (कृण्वती)
प्रकट करती हुई, (गृहे) घर में, (विकेशी) केशों को खोल कर
(अरुदत्) रोई है, तो (तस्मात् एनसः) उस हत्या तथा कष्ट से
या उस हत्या तथा कष्ट के कारणोद्भूत पाप से (अग्निः) अग्नि (च)
और (सविता) सूर्य (त्वा) तुझे (प्रमुञ्चताम्) छुड़ावें ।

दुःख और आपत्ति के समय, गृहस्थ-जीवनोपयोगी उचित
शृङ्गार का रहना अस्वाभाविक है । इसीलिए मृत्यु आदि की आपत्ति
की अवस्था में कन्या के शृङ्गार के अभाव को सूचित करने के लिये
मन्त्र में “विकेशी” पद रखा गया है ।

इस मन्त्र में भी हत्या तथा कष्टों के तीन कारण दर्शाए गए
हैं । एक पाप-संचय, दूसरा गार्हपत्याग्नि का न होना और उसमें
अग्निहोत्र आदि का न करना, तथा तीसरा गृहों में सूर्य के प्रकाश का
न होना । अतः पुण्य-कर्मों द्वारा, तथा अग्निहोत्र आदि के करने से,
और गृहों में सूर्य के प्रकाश के होने से, तथा सूर्य-रश्मि-चिकित्सा
आदि से, गृहस्थ-जीवन में देखी जाने वाली असामयिक-मृत्युओं और
तज्जन्य कष्टों से छुटकारा हो सकता है ।

असामयिक मृत्यु से बचाव

[१२५] यज्जामयो यद्युवतयो गृहे ते
समनर्तिषू रोदेन कृण्वन्तीरघम् ।

अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः

सविता च प्र मुञ्चताम् ॥

(अथर्व० १४।२।६१)

(यत्) जो (जामयः) तेरी बहिनें^१ या वृद्धा^२ स्त्रियां, (यत्) और जो (युवतयः) युवती स्त्रियां, (रोदेन) रुदन द्वारा (अघम्) हत्या या कष्ट को (कृण्वतीः) प्रकट करती हुई, (ते) हे बधू ! तेरे (गृहे) गृह में (समनर्तिषुः) रोई-पीटी हैं, (तस्मात् एनसः) उस हत्या से या उस हत्या के कारणीभूत पाप से (अग्निः) अग्नि (च) और (सविता) सूर्य (त्वा) तुझे (प्र मुञ्चताम्) छुड़ाएं ।

बधू के किसी निकट-सम्बन्धी की मृत्यु के अवसर पर, बधू के गृह पर उसकी बहिनों का तथा जाति-विरादरी की स्त्रियों का, अथवा सामाजिक-जीवन की परिचित युवा और वृद्धा स्त्रियों का, शोक प्रकट करने के निमित्त आना, यहाँ सूचित किया गया है ।

असामयिक मृत्यु से बचाव

(१२६) यत् ते प्रजायां पशुषु यद्वा

गृहेषु निष्ठितमघकृद्भिर्धं कृतम् ।

अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्रमुञ्चताम् ॥

(अथर्व० १४।२।६२)

(ते) हे बधू ! तेरी (प्रजायाम्) सन्तान में, (पशुषु) और तेरे पशुओं में, (यत्) जो (अघम्) हत्याजनक रोग, (वा) अथवा (ते) तेरे (गृहेषु) अन्य गृहवासियों में (यत्) जो हत्याजनक रोग, (अघकृद्भिः) हत्याजनक रोगों के उत्पादक कारणों द्वारा (निष्ठितम्) स्थिर (कृतम्) कर दिया गया है, (तस्मात् एनसः) उस रोग से (अग्निः)

१ जामये = भगिन्यै (निरु० ३।६) ।

२ "युवतयः" पद के साहचर्य से "जामयः" पद सम्भवतः वृद्धा स्त्रियों का वाचक है ।

अग्नि (च) और (सविता) सूर्य (त्वा) तुझे (प्रमुञ्चताम्) छुड़ाएँ ।

गृह की सन्तानों, पशुओं, तथा गृह के अन्य वासियों में, रोगोत्पादक कारणों द्वारा, कई बार रोग उत्पन्न हो जाया करते हैं, और कई बार ये रोग उन में स्थिर भी हो जाया करते हैं, अर्थात् वे रोग शीघ्रनष्ट नहीं होने पाते । इन रोगों से मुक्ति पाने के उपाय हैं पाप-कर्मों का त्याग, दैनिक अग्नि-होत्र अथवा अन्य प्रकार के यज्ञों का करना, तथा गृह में सूर्य के प्रकाश का आना, और सूर्य-रश्मि चिकित्सा आदि ।

सत्रहवां प्रकरण

लाजा-होम

(१२७) इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका ।

दीर्घायुस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥

(अथर्व० १४।२।६३)

(इयम्) यह (नारी) वधू (पूल्यानि) फुल्लियों अर्थात् लाजाओं की (आवपन्तिका) आहुति देती हुई (उपब्रूते) कहती है कि (मे) मेरा (पतिः) पति (दीर्घायुः) दीर्घ आयु वाला (अस्तु) हो, (शतम्) और सौ (शरदः) वर्षों तक (जीवाति) जीता रहे ।

यह मन्त्र विवाह संस्कार में लाजा-होम की विधि का निर्देश करता है । मन्त्र में “पूल्यानि” पद है, परन्तु “पारस्कर गृह्यसूत्रों” में “पूल्यानि” पद के स्थान में “लाजान्” पद पड़ा गया है । यथा:- “इयं नार्युप ब्रूते लाजानावपन्तिका” । अतः प्रतीत होता है कि “पूल्यानि और लाजान्” ये दोनों पद एक ही अर्थ या भाव के द्योतक हैं । हिन्दी में लाजाओं को खिलें या फुल्लियाँ कहते हैं । “फुल्लियाँ” पद मन्त्र के “पूल्यानि” पद का अपभ्रंश प्रतीत होता है । भुने हुए ब्रीहि या धानों को लाजा, खिलें, या फुल्लियाँ कहते हैं । आयुर्वेद में खिलों को पथ्य-भोजन माना गया है । अग्नि में लाजाओं या खिलों की आहुति देती हुई वधू, लाजाओं के पथ्य-गुण की घोषणा, विवाह मण्डप में बैठे समग्र देवों और देवियों के तथा पति के समक्ष करती है ।

स्थिर दाम्पत्य-सम्बन्ध

(१२८) इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती ।

प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायु व्यश्नुताम् ॥

(अथर्व० १४।२।६४)

(इन्द्र) हे इन्द्र ! राजन् ! या राजकीय व्यवस्था ! (इमौ) इन दोनों को, पति और पत्नी को, (इह) इस गृहस्थाश्रम में (संनुद) इकट्ठे रहने अर्थात् एक दूसरे के साथ रहने की प्रेरणा कर, (दम्पती) क्योंकि पति-पत्नी का जोड़ा (चक्रवाका इव = चक्रवाकौ इव) चक्रवा-चक्रवी पक्षियों के जोड़े की न्याईं होना चाहिये । (एनौ) ये दोनों (प्रजया) उत्तम सन्तानों के कारण (स्वस्तकौ) उत्तम घर वाले बनें, (विश्वम्) और सम्पूर्ण (आयुः) आयु को (व्यश्नुताम्) प्राप्त हों, भोगें ।

इन्द्र से अभिप्राय राजा या राजकीय-व्यवस्था का है । यजुर्वेद में इन्द्र को सम्राट्^१ कहा गया है । विवाह-बन्धन में पति और पत्नी को व्यवस्थित रखने का काम राजा का है । राजा की राजकीय-व्यवस्था के न होने पर यह सम्बन्ध दृढ़ नहीं रह सकता । विषय-वासना इस सम्बन्ध को छिन्न-भिन्न कर दे यदि राजकीय-व्यवस्था इसमें बाधक न हो, या ढीली हो । इसी उद्देश से मन्त्र में राजा या राजकीय-व्यवस्था का आश्रय, पति-पत्नी के एक दूसरे के साथ दृढ़बद्ध रहने में, लिया गया है ।

दाम्पत्य-सम्बन्ध अर्थात् पति-पत्नी के सम्बन्ध को स्थिर द्योतित करने के लिए, मन्त्र में, चक्रवा-चक्रवी को आदर्श रूप में पेश किया

१ इन्द्रश्च सम्राट् । (यजु० ८।३७) ॥

गया है। चकवा-चकवी के दाम्पत्य-सम्बन्ध का वर्णन संस्कृत साहित्य में बहुत हुआ है। इन पक्षियों में नर-मादा का सम्बन्ध यावज्जीवन स्थिर रहता है। एक की मृत्यु हो जाने पर दूसरा किसी अन्य के साथ, नर-मादा का सम्बन्ध नहीं रखता, और दोनों के जीवित रहते इनका पारस्परिक नर-मादा का सम्बन्ध कभी भी व्यभिचरित नहीं होता। इसी प्रकार मनुष्यों में भी पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थिर रहना चाहिये। अर्थात् इनमें एक-पत्नी-व्रत तथा एक-पति-व्रत का नियम बहुत दृढ़ होना चाहिये।

पति-पत्नी का गृह-जीवन सूना है यदि उनकी कोई सन्तान नहीं। परन्तु जैसी-तैसी भी सन्तान गृह-जीवन के सूनापन को दूर नहीं कर सकती। उत्तम सन्तानें ही, गृह-जीवन को, वास्तव में जीवन का रूप देती हैं। मन्त्र में कहा है कि पति-पत्नी, प्रजा द्वारा, अर्थात् उत्तम सन्तानों द्वारा, उत्तम गृह वाले बनें। गृह का उत्तमपन सन्तानों के उत्तम होने पर ही निर्भर है। सजा-धजा गृह, वास्तव में उत्तम नहीं, यदि उसमें उत्तम और गुणी सन्तानों का वास नहीं। इसलिये वैदिक-गृहस्थजीवन का उद्देश उत्तम सन्तानें हैं।

गृहस्थ-जीवन में संयम का भी उचित ध्यान होना चाहिए। गृहस्थ-जीवन अधिकार-प्राप्त-लम्पटता का जीवन नहीं है। उचित और विहित संयम के रहते हुए पति-पत्नी की आयु पर, इनके दीर्घायु पर, भोग के कारण, कोई अनुचित प्रभाव नहीं पड़ता। वे वेद-घोषित दीर्घ-आयु को, संयम के रहते, अवश्य प्राप्त करते हैं। पति-पत्नी अपने दीर्घायु को सदा लक्ष्य में रखते हुए गृह के भोगों को भोगें। यह भाव इस मन्त्र के चतुर्थ पाद का है।

अठारहवां प्रकरण

सफ़ाई तथा शुद्धि

(१२९) यदासन्ध्यामुपधाने यद् वोपवासने कृतम् ।

विवाहे कृत्यां यां चक्रुः रास्नाने तां नि दध्मसि ॥

(अथर्व० १४।२।६२)

(यत्) जो मल (आसन्ध्याम्) बैठने के उपकरणों अर्थात् कुर्सी आदि पर लगा है, (उपधाने) सिरहाने या तकिए पर लगा है, (यत्) और जो मल (उपवासने) उपवास की अवस्था में गृह की वस्तुओं पर, अथवा निवास-स्थान की भिन्न वस्तुओं पर (कृतम्) आ लगा है, तथा (विवाहे) विवाह के समय (याम्) जिन (कृत्याम्) पाचन आदि कर्मों को (चक्रुः) करते हैं और इस अवस्था में जो मल इधर-उधर फैल जाता है, (ताम्) उन सब प्रकार के मलों या अशुद्धियों को (आस्नाने निदध्मसि) हम स्नान में रखते हैं, अर्थात् स्नान-विधि से या धोने और साफ़ करने की विधि से हम दूर करते हैं, साफ़ करते हैं ।

गृह की वस्तुओं तथा शरीर को साफ-सुथरा रखना चाहिये । यदि इन वस्तुओं तथा शरीर पर कोई मल या अशुद्धि लग जाय तो उसे धोने आदि की विधि से साफ़ कर लेना चाहिए । गृहस्थियों का कर्तव्य यह होना चाहिए कि उनके गृह में कोई भी वस्तु मैली-कुचैली तथा अशुद्ध न हो ।

सफ़ाई तथा शुद्धि

(१३०) यद् दुष्कृतं यच्छमलं विवाहे वहतौ च यत् ।

तत् संभलस्य कम्बले मृज्महे दुरितं वयम् ॥

(अथर्व० १४।२।६६)

(विवाहे) विवाह के बाद (यत्) जो (शमलम्^१) मल (वहतौ^२) वधू पर लग जाता है, (च) और (यत्) जो मल कि (संभलस्य^३) सम्यक्-भाषी अर्थात् सम्यग्भाषी तथा मधुरभाषी पति के सम्बन्ध का है,—(यत्) जो मल कि (दुष्कृतम्) दूषित कर देने वाला, अपवित्रता लाने वाला, (दुरितम्) तथा बुरे परिणामों को पैदा करने वाला होता है,—(तत्) उस मल को (वयम्) हम (कम्बले^४) जल में (मृज्महे^५) धो डालते हैं, धो कर शुद्ध कर देते हैं ।

- १ शमल = Feces, ordure, excrement, Impurity, Sediment, Sin, moral impurity; (आपटे कोष) । शमल = श + मल = वस्तुओं पर शयन करने वाला अर्थान् पड़ा हुआ मल । अथवा शमल = शम् + अलम्, अर्थात् जो चित्त की शान्ति को समाप्त कर देता है, जिस से चित्त अशान्त रहता है ।
- २ “वहतु” पद तात्स्थ्य-लक्षणा द्वारा वधू का वाचक है । जैसे “मञ्चाः क्रोशन्ति” वाक्य में “मञ्च” पद तात्स्थ्य-लक्षणा द्वारा मञ्चस्थ-पुरुषों का वाचक होता है ।
- ३ सम् + भल (परिभाषण) । भल भल्ल परिभाषणहिंसादानेषु ।
- ४ कम्बलम् = water. (आपटे कोष) । कम् = सुखकारी । बलम् = बलकारी च । जल सुख देने वाला तथा बल देने वाला है ।
- ५ मृजृष् शुद्धौ ।

शुद्धि से आयुवृद्धि

(१३१) संभले मलं सादयित्वा कम्बले दुरितं वयम् ।

अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूषि तारिषत् ॥

(अथर्व० १४।२।६७)

(संभले^१) सम्यक्-भावी पति में और सम्यक् भाषण करने वाली पत्नी में (मलम्) स्थित हुए मल को,—(दुरितम्) जो मल कि बुरे परिणामों का लाने वाला है उस मल को, (वयम्) हम (कम्बले) जल में (सादयित्वा) स्थापित कर, रखकर, (यज्ञियाः) यज्ञ के योग्य, (शुद्धाः) तथा शुद्ध (अभूम) हो गये हैं । यह शुद्धि (नः) हमारी (आयूषि) आयुओं को (प्रतारिषत्) बढ़ाए ।

पति और पत्नी को चाहिये कि वे अपने मलों को जल द्वारा साफ कर लिया करें । मल जब तक शरीर पर लगा रहता है तब तक व्यक्ति यज्ञ करने का अधिकारी नहीं होता और न वह तब तक शुद्धावस्था में होता है ।

मलावस्था आयु को कम कर देती है । और मल के दूर हो जाने से, सदा साफ-सुथरे रहने से, मनुष्यों की आयु बढ़ जाती है ।

कंधे से केशशुद्धि

[१३२] कृत्रिमः कण्टकः शतदन् य एषः ।

अपास्याः केश्यं मलमप शीर्षण्यं लिखात् ॥

(अथर्व० १४।२।६८)

(यः) जो (एषः) यह (कृत्रिमः) कारीगर का बनाया हुआ,

१ “संभलश्च संभला च”—का एकशेष है । व्यत्यय से एकवचन है ।

(शतदन्) सौ दाँतों वाला (कण्टकः^१) कंघा है, वह (अस्याः) इस वधू के (केश्यम्) केशों के (मलम्) मल को (अप लिखात्) दूर करे, (शीर्षण्यम्) और सिर के मल को (अप) दूर करे ।

वधू को चाहिये कि वह कंधे का सदा प्रयोग किया करे और अपने सिर के केशों को कंधे से साफ़ रखा करे । कंधे के दो काम हैं । एक तो केशों के मल को दूर करना और दूसरा सिर के मल को दूर करना । कंधे का प्रयोग न करने से केशों में भी मल फँस जाता है, और सिर में अर्थात् सिर के केशों की जहाँ जड़ें रहती हैं उस स्थान में भी मल जम जाता है । इस लिये वधू को विशेष कर कंधे का दैनिक प्रयोग करना चाहिये ।

अग्नि द्वारा यक्ष्मा-निवृत्ति

(१३३) अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि ।

तन्मा प्रापत् पृथिवीं मोत देवान्
दिवं मा प्रापदुर्वन्तरिक्तम् ।

अपो मा प्रापन्मलमेतदग्ने
यमं मा प्रापत् पितृश्च सर्वान् ॥

(अथर्व० १४।२।६६)

(अस्याः) इस वधू के (अङ्गात् अङ्गात्) अंग २ से, प्रत्येक अंग से, (यक्ष्मम्) यक्ष्मा आदि रोग को (वयम्) हम (अपनिदध्मसि) दूर करते हैं । (तत्) वह यक्ष्मा आदि रोग (पृथिवीम्) शरीर^२ को (मा) न

१ कण्टकः = संस्कृत में कङ्कतः = कंघा । कङ्कत शब्द, कण्टक शब्द का, अपभ्रंश प्रतीत होता है ।

२ पृथिव्याः शरीरम् (अथर्व० ५।१०।८) । अर्थात् शरीर पृथिवी का रूप है ।

(प्रापत्) प्राप्त हो, (उत्) और (देवान्) इन्द्रियों^१ को (मा) न प्राप्त हो, (दिवम् सिर^२ या मस्तिष्क^३ को (मा) न (प्रापत्) प्राप्त हो, (उरु) विस्तृत अन्तरिक्षम्) उदर^४ को न प्राप्त हो, (अपः) शरीर के भीतर रहने वाले रस-रुधिर^५ आदि जलों को (मा) न (प्रापत्) प्राप्त हो । (एतत्) यह यक्ष्मा रोग (मलम्) मल-रुा है, या मल का परिणाम है । (अग्ने) हे अग्नि ! (यमम्) इस जोड़ को, दम्पती को, यह रोग (मा) न (प्रापत्) प्राप्त हो । (च) और (सर्वान्) सब (पितृन्) पितरों को, घर के बुजुर्गों को, न प्राप्त हो ।

स्त्रियों के काम का केन्द्र चूँकि घर होता है, और स्त्रियों को अपने दैनिक कामों में प्रायः घर की ही चार-दीवारी में अधिक वास्त तक रहना होता है, इस लिए इन्हें यक्ष्मा आदि रोगों की प्राप्ति की अधिक सम्भावना रहती है । अतः स्त्रियों को ऐसे रोगों से बचाने की चिन्ता पति तथा घर के अन्य बुजुर्गों को सदा करते रहना चाहिये ।

“यक्ष्मा” रोग बड़ा भयंकर रोग होता है । यह शरीर के किसी भी अंग में उत्पन्न हो सकता है । किन्तु भी इन्द्रिय को, मस्तिष्क को, उदर को, यह रोग हो सकता है । समग्र शरीर में भी यह रोग व्याप्त हो जाता है । शरीर की रस । रुधिर आदि धातुओं को भी यह रोग प्राप्त हो कर उन्हें दूषित कर देता है ।

यह रोग मल का परिणाम है । निवास-स्थान और उस की परिस्थितियाँ यदि शुद्ध न हों, शरीर के अंग-प्रत्यंग यदि मलिन रहें,

-
- १ नैनदेवा आप्नुवन् (यजु० ४०।४) । देवाः = इन्द्रियाँ ।
 - २ दिवं यश्चक्रे मूर्धानम् (अथर्व० १०।७।३२) । दिव् = मूर्धा, सिर ।
 - ३ अन्तरिक्षमुदरम् (अथर्व० १०।७।३२) । अन्तरिक्ष = उदर ।
 - ४ आपः = रुधिर आदि रस (अथर्व० १०।२।११) ।

और शरीर के भीतर यदि मल का संग्रह रहे तो यह यक्ष्मा-रोग शरीर पर आक्रमण कर देता है । इस लिए मल की शुद्धि पर विशेष ध्यान देना चाहिये ।

यह रोग संक्रामक है । पति-पत्नी के जोड़े में से किसी को यदि यह रोग हो जाय तो दूसरे को भी इस रोग की प्राप्ति की सम्भावना रहती है । संक्रामक होने के कारण ही यह रोग घर के अन्य निवासियों में भी फैल सकता है ।

इस रोग को दूर करने का सरल और सुगम उपाय इस मन्त्र में दर्शाया गया है । वह है अग्नि । घर में अग्नि के सदा रहने से, और उस में अग्निहोत्र तथा यज्ञों के सदा होते रहने से, तथा उस अग्नि में विशेष २ ओषधियों की आहुति देने से, घर में यक्ष्मा रोग नहीं रहने पाता ।

अथवा इस मन्त्र का यह भी अभिप्राय है कि “रोगी के मल को, अर्थात् टट्टी, पेशाब, वलगम, तथा घ्राणमल आदि को,—पृथिवी, अन्य दिव्य पदार्थों, बुलोक, अन्तरिक्षलोक, जल, तथा अन्य जीवित व्यक्तियों से सदा दूर रखना चाहिये । ताकि वह मल फैल कर, इन्हें दूषित कर, रोग को फैला न दे । इसलिए यक्ष्मा आदि रोगों के मलों को इधर उधर न बखेर कर इन्हें अग्नि में जला देना चाहिये ।

उन्नीसवां प्रकरण पत्नी का पति से बन्धन

(१३४) सं त्वा नह्यामि पयसा पृथिव्याः

सं त्वा नह्यामि पयसौषधीनाम् ।

सं त्वा नह्यामि प्रजया धनेन

सा संनद्धा सनुहि वाजमेमम् ॥

(अथर्व० १४।२।७०)

हे पत्नी ! (पृथिव्याः) पृथिवी की (पयसा) सारभूत वस्तुओं द्वारा (त्वा) तुझे (सं नह्यामि) मैं अपने साथ बाँधता हूँ, (औषधीनाम्) औषधियों की (पयसा) सारभूत वस्तुओं द्वारा (त्वा) तुझे (सं नह्यामि) मैं अपने साथ बाँधता हूँ, (प्रजया) प्रजा द्वारा (धनेन) और धन द्वारा (त्वा) तुझे (सं नह्यामि) मैं अपने साथ बाँधता हूँ, (संनद्धा) मेरे साथ पत्नीरूप में बँधी हुई (सा) वह तू, (इमम्) इस (वाजम्) बलकारी अन्न को (आ+सनुहि) मुझे दिया कर ।

अथवा

हे पत्नी ! (पृथिव्याः^१) शरीर^२ की (पयसा) सारभूत वस्तु अर्थात् वीर्य द्वारा (त्वा) तुझे (सं नह्यामि) मैं अपने साथ बाँधता

१ वाज = Food in general (आपटे कोष) ।

२ षणु दाने । वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा प्रकाशित अथर्ववेद में “सनुहि” पाठ है ।

३ पृथिवी = शरीर (अथर्व० ५।१०।८) ।

हूँ, (ओषधीनाम्) ओषधियों^१ की (पयसा) सारभूत-वस्तु अर्थात् वीर्य^२ द्वारा (त्वा) तुझे (संनह्यामि) मैं अपने साथ बाँधता हूँ, (प्रजया धनेन) प्रजोत्पादक^३ वीर्य^३ रूपी धन द्वारा (त्वा तुझे (सं नह्यामि) मैं अपने साथ बाधता हूँ, (संनद्धा) इस प्रकार मेरे साथ पत्नी रूप में बन्धी हुई (सा) वह तू (इमम्) इस 'वाजम्') बलशाली, उद्यमी और मन्त्रपाठी पुत्र को (आ+सनुहि) मुझे दे अर्थात् ऐसा पुत्र-रत्न तू मेरे लिए उत्पन्न कर ।

विवाह-संस्कार पत्नी को पति के साथ, तथा पति को पत्नी के साथ बांध देता है । यह सांस्कारिक बन्धन है ।

इस सांस्कारिक-बन्धन के होते हुए भी गृहस्थ जीवन में यदि पत्नी को पति के साथ बांधने के अन्य साधन नहीं हैं तो कई बार यह सांस्कारिक-बन्धन ढीला भी पड़ जाता है । सांस्कारिक-बन्धनों के अतिरिक्त इस मन्त्र में ४ और बन्धन दर्शाए हैं । पृथिवी का पय, ओषधियों का पय, प्रजा और धन ।

पृथिवी की जो सारभूत और उत्तम २ वस्तुएँ हैं वे पृथिवी के पयोरूप हैं । पत्नी को ये सारभूत तथा उत्तमोत्तम पार्थिव-वस्तुएँ देकर उसके मन को, प्रेम को, पति अपने साथ बान्धे ।

१ अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि (अथर्व० १।३।१३) । अर्थात् वीर्य जलों का तेजरूप है, ज्योतिरूप है, श्वाज तथा बलरूप है, तथा वनस्पतियों का साररूप है ।

२ प्रजा = वीर्य । प्रजां त्वष्टरधि नि धेह्यस्मिन् (अथर्व० २।२६।२) ।

३ वाज = Strength, power, Speed. A prayer or Mantra with which a sacrifice is concluded. (आपटे कोष) ।

इसी प्रकार ओषधियों की जो सारभूत और उत्तम २ वस्तुएँ हैं वे ओषधियों के पयोरूप हैं। जैसे कि उत्तमोत्तम फल, और ओषधियों तथा फलों के नाना प्रकार के रस आदि। इन पदार्थों के भी देने से पत्नी को पति अपनी ओर आकृष्ट करता रहे।

प्रजा अर्थात् सन्तानों का होना बन्धन का सबसे उत्तम साधन है। माता-पिता को परस्पर दृढ़बद्ध करने वाली सन्तानें होती हैं। सन्तानों पर माता और पिता का एक जैसा प्रेम होता है। सन्तानों के दुःखों को माता और पिता दोनों ही नहीं देख सकते। इसलिए प्रजा अर्थात् सन्तानें, पत्नी को पति के साथ दृढ़बद्ध कर देती हैं।

इसी प्रकार ऐश्वर्य, सम्पत् तथा धन भी, पत्नी को, पति के साथ बाँधने वाला है। धन के अभाव में एक बन्धु दूसरे बन्धु को त्याग देता है। इसलिए पति को चाहिए कि वह गृहस्थ-जीवन में रहते धनोपार्जन के लिए यत्न करता रहे।

धर्मशास्त्र या कानून की दृष्टि से पत्नी, विवाह-संस्कार के द्वारा, पति के साथ बंध जाती है। इस विवाह-संस्कार के पश्चात् पति और पत्नी में से कोई भी एक दूसरे का त्याग नहीं कर सकता। त्यागने पर वह राजकीय-दण्ड का भागी बनेगा।

परन्तु विवाह-संस्कार के हो जाने पर भी यदि पति और पत्नी का परस्पर रज-वीर्य का सम्बन्ध नहीं हुआ तो वे कई अवस्थाओं^१ में, अन्य स्त्री और अन्य पुरुष के साथ पुनर्विवाह भी करा सकते हैं।

१ सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागतापि वा।

पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥

अर्थात् “जिस स्त्री या पुरुष का पाणिग्रहण-मात्र संस्कार हुआ हो, अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो, उनका

रज-वीर्य के सम्बन्ध के हो जाने पर अर्थात् पति और पत्नी के क्षत-वीर्य और क्षतयोनि हो जाने पर इन्हें पुनर्विवाह का अधिकार नहीं रहता। इसीलिए इस मन्त्र के दूसरे अर्थ के अनुसार पति, वीर्य द्वारा, पत्नी को अपने साथ दृढ़ बांधना चाहता है।

मन्त्र के दूसरे अर्थ की दृष्टि से “पयसा पृथिव्याः” “पयसौ-षधीनाम्” “प्रजया” और “धनेन” इन सबका एक ही अर्थ है। और वह अर्थ है “वीर्य-शक्ति”। अर्थात् पति पत्नी का पारस्परिक वीर्य-और-रज का सम्बन्ध हो चुकने पर ये दोनों, परस्पर दृढ़ बन्धन में बँध जाते हैं। जो बन्धन कि वैदिक-दृष्टि में प्रायः अटूट होता है।

वीर्य-सम्बन्ध से बँधी हुई पत्नी के प्रति, पति यह कहता है कि हे पत्नी ! तू मेरे वीर्य को प्राप्त कर। वीर्यवान् तथा शक्तिशाली पुत्र-रत्न मुझे दे। निर्वीर्य, नपुंसक तथा निःसार सन्तान को, वेदानुयायी पति, उत्तम और उपादेय नहीं समझता।

पति-पत्नी का सम्बन्ध

(१३०) अमोहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्युक्तं

द्यौरहं पृथिवी त्वम् ।

ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै ॥

(अथर्व० १४।२।७१)

अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिये ।”

(सत्यार्थ प्रकाश)

इस श्लोक में “अक्षतयोनि” के साथ २ “गतप्रत्यागता” की भी शर्त रखी गई है। इससे प्रतीत होता है कि क्षतयोनि स्त्री भी यदि पति के घर से वापिस आ गई है और वह यदि अपने पहिले पति को त्याग कर दूसरे पति को वरना चाहे तो इसका अधिकार उसे प्राप्त है।

(अमः^१) उद्यमी, बलवान् तथा प्राण-शक्ति से सम्पन्न (अहम्) मैं पति (अस्मि) हूँ, (त्वम्) हे पत्नी ! तू भी (सा = अमा) वही है, अर्थात् उद्यमशील, बलवती तथा रयि-शक्ति से सम्पन्न है। (साम) सामवेद (अहम्) मैं पति (अस्मि) हूँ, (त्वम्) हे पत्नी ! तू (ऋक्) ऋग्वेद है। (द्यौः) द्युलोक (अहम्) मैं पति हूँ, (त्वम्) हे पत्नी ! तू (पृथिवी) पृथिवीलोक है। (तौ) वे हम दोनों (इह) इस गृहस्थ-जीवन में (संभवाव) इकट्ठे हों, परस्पर सज्ज करें, (प्रजाम्) और सन्तानों को (आजनयावहै) हम जन्म दें, उत्पन्न करें।

गृहस्थ-जीवन में प्रवेश पाने के लिए वर और वधू उद्यमी होने चाहिएं, बलवान् होने चाहिएं, और प्राण तथा रयि-शक्ति से सम्पन्न होने चाहिएं। निरुद्यमी, निर्बल, तथा अल्प-प्राण या अल्प-रयि-शक्ति वाले वर और वधू गृहस्थ-रथ के वहन करने में समर्थ नहीं हो सकते।

गृहस्थ-जीवन में पति और पत्नी का पारस्परिक सम्बन्ध साम और ऋक् द्वारा दर्शाया गया है। छान्दोग्य^२-उपनिषद् में लिखा है कि:-

“ऋच्यधिरूढं साम गीयते”।

अर्थात् “ऋक् या ऋचा पर सवार हुआ साम^३ गाया जाता है”।

- १ अमः = going, strength, Power, vital air. (आपटे कोष)।
- २ १।६।१-२ ॥
- ३ ऋक् और साम का परस्पर वही सम्बन्ध है जो कि गीत और राग का परस्पर सम्बन्ध होता है। एक ही गीत कई रागों में गाया जा सकता है परन्तु राग का रूप सदा एक ही रहता है, स्थिर रहता है। ‘ऋक्’ गीत रूप है और ‘साम’ रागरूप या गीति-रूप। ऋक् का अर्थ है छन्दोबद्ध मन्त्र। इन छन्दोबद्ध मन्त्रों पर

अतः ऋक् आश्रय है और साम आश्रित । इस लिए गृहस्थ-जीवन में पत्नी आश्रय है और पति आश्रित । इस समग्र मन्त्र का वक्ता पति है । वह अपने मुख से स्वयं स्वीकार करता है कि उसके गृहस्थ-जीवन का आश्रय उस की पत्नी है ।

गृहस्थ-जीवन में पति और पत्नी के अपने २ कार्यों को दशनि के लिए मन्त्र में द्युलोक और पृथिवीलोक का दृष्टान्त दिया गया है । गृहस्थ-जीवन में पति तो द्युलोक-रूप है और पत्नी पृथिवीलोक-रूप । द्युलोक उत्पत्ति में सहायक है, परन्तु वास्तव में उत्पत्ति का स्थान पृथिवीलोक है । द्युलोक तो उत्पत्ति में निमित्त-कारण है, परन्तु पृथिवी-लोक उत्पत्ति में उपादान-कारण है । इसी प्रकार पति और पत्नी की, सन्तानोत्पत्ति में, कारणता जाननी चाहिए । सन्तानोत्पत्ति में पिता द्युलोक की न्याईं और माता पृथिवी की न्याईं कारण है ।

द्युलोक और पृथिवीलोक के रूपक में एक और बात भी सूचित की गई है । द्युलोक तो positive शक्ति का आधार है और पृथिवी-लोक negative शक्ति का । क्योंकि द्युलोक से शक्ति आती है और पृथिवीलोक इस शक्ति को ग्रहण करता है । इसी सिद्धान्त को उपनिषद् में प्राण-और-रयि शब्दों द्वारा सूचित किया गया है । इस लिए पति के ऐसे कार्य होने चाहियें जो कि positive रूप हों, प्राण रूप हों, और पत्नी के ऐसे कार्य होने चाहियें जो कि negative रूप

साम अर्थात् राग या गीति गाई जाती है । इस लिये ऋक् आधार है और साम आश्रय, ऋक् आश्रय है और साम आश्रित ।

१ प्रजाकामो वै प्रजापतिः । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा स मिथुन-मुत्पादयते, रयिच प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति । आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः । (प्रश्न० उप० १।४।५) ।

हों, रयि रूप हों ।

सन्तानोत्पत्ति के कार्य के लिये, पति और पत्नी में, द्युलोक और पृथिवीलोक का सा सम्बन्ध होना चाहिये । पति Positive शक्ति वाला होना चाहिये और पत्नी negative शक्तिवाली । पति प्राण-शक्ति वाला होना चाहिये और पत्नी रयि-शक्ति वाली । इस सम्बन्ध से उलटा सम्बन्ध होने पर सन्तान श्रेष्ठ और उत्तम नहीं होती ।

विवाहेच्छा और पुत्रैषणा

(१३६) जनियन्ति नाग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः ।

अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये ॥

(अथर्व० १४।२।७२)

(नी) हम दोनों अर्थात् नरों और नारियों में (अग्रवः^१) जो अविवाहित हैं वे (जनियन्ति) जाया की और पति की इच्छा किया करते हैं । और विवाहित हो जाने पर, (सुदानवः) उत्तम दानशील होकर, (पुत्रियन्ति) पुत्रों की इच्छा किया करते हैं । (अरिष्टासू) इसलिये प्राण का नाश न करते हुए हम दोनों, (बृहते वाजसातये) महा-अन्नदान के लिये (सचेवहि) एक दूसरे के संगी बने रहें ।

नर-मादा में से प्रत्येक को स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह अपने संगी-साथी को चुने । नर-मादा का साथ २ रहना, पति को पत्नी की और पत्नी को पति की इच्छा का होना, प्राकृतिक नियम है, स्वभाव-सिद्ध विधान है ।

जैसे नर-मादा को, एक दूसरे के साथ रहने की स्वाभाविक इच्छा होती है इसी प्रकार पुत्र की इच्छा भी नर-मादा में प्रकृति ने

१ अग्रु = Single, unmarried. (आपटे कोष) ।

स्वभावतः रख दी है। उच्चकोटि के प्राणी हों, या मध्यकोटि के, अथवा नीच कोटि के, इन सभी प्राणियों में सन्तति-परम्परा या वंश-परम्परा चल रही है और अनादि-काल से चल रही है। इसलिये नर-मांदा को सन्तान की इच्छा का होना,—यह एक प्राकृतिक और स्वाभाविक नियम है। उच्चकोटि के प्राणी तो इच्छापूर्वक पुत्रों को उत्पन्न करते हैं और निचली कोटि के प्राणी अपने २ स्वभाव से प्रेरित होकर अपनी सन्तानों को पैदा करते हैं।

मनुष्य-समाज में पुत्रेच्छा या पुत्रैषणा कई दृष्टियों से होती है। परन्तु वैदिक-दृष्टि में पुत्रैषणा समाज के उपकार के लिए है। वैदिक-गृहस्थी समाज को उत्तम पुत्र के दान के लिए, पुत्रैषणा करता है। वैदिक-गृहस्थी समाज को न केवल उत्तम पुत्र का ही दान करता है, अपितु उसका धन-ऐश्वर्य भी समाजोपकार के लिये है। गृहस्थी के पंच-महायज्ञ तब तक पूर्ण नहीं हो सकते जब तक कि गृहस्थी का हृदय दानभाव से ओत-प्रोत न हो। इसलिये इस मन्त्र में “सुदानवः” पद द्वारा गृहस्थियों को दानशील होने का उपदेश दिया गया है। वैदिक-गृहस्थी अपने गृहस्थ-जीवन के उद्देश्य को, अर्थात् पति-पत्नी के साथ २ रहने के उद्देश्य को समझते हैं, और कहते हैं कि “हम दोनों पुत्रोत्पादन तथा अन्नदान के लिए एक दूसरे के संगी बने रहें।”

वर्तमान समय में गर्भ-निरोध या गर्भघात की नाना वैज्ञानिक विधियाँ चल पड़ी हैं। ये विधियाँ कई सभ्य राष्ट्रों द्वारा अनुमोदित भी हो चुकी हैं। ये विधियाँ वर्तमान समय के गृहस्थ-जीवन में दृष्टि-भेद का ही परिणाम हैं। गृहस्थ-जीवन की वैदिक-दृष्टि वर्तमान समय की दृष्टि से भिन्न है। इस सम्बन्ध में वैदिक-दृष्टि को दर्शाने के लिए इस मन्त्र में “अरिष्टासू” पद पति-पत्नी के विशेषण-रूप में रखा गया है। गृहस्थ-जीवन में पति-पत्नी प्राण का नाश करने

वाले न हों, यह भाव इस पद द्वारा सूचित किया है। गर्भ-घात की विधियाँ वास्तव में “प्राणनाश” की विधियाँ हैं। गर्भ-निरोध की वर्तमान समय की वैज्ञानिक-विधियाँ भी “प्राणनाश” की विधियाँ हैं। वैदिक दृष्टि में ब्रह्मचर्य ही केवल एक ऐसी विधि है जो कि गर्भ-निरोध के लिये सम्मत है और जिसके साथ कि “प्राण नाश” के भाव का सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसलिये गर्भ-निरोध या गर्भघात के सम्बन्ध में वैदिक-नीति का स्पष्टीकरण “अरिष्टासू” पद द्वारा यहां किया गया है।

वधू को बुजुर्गों का उपदेश

(१३७) ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन् ।

ते अस्यै वध्वै संपत्त्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ॥

(अथर्व० १४।२।७३)

(ये) जो (पितरः) बुजुर्ग (वधूदर्शाः) वधू के दर्शन के निमित्त, (इमम्) इस (वहतुम्) वधू के रथ के समीप (आ+अगमन्) आये हैं, (ते) वे (संपत्त्यै) पति की सज्जिनी (अस्यै वध्वै) इस वधू के लिये, (प्रजावत्) प्रजा वाले (शर्म) सुख का आशीर्वाद (यच्छन्तु) देवें ।

मन्त्रसंख्या ६२, ६३ में युवति-तथा-वृद्धा स्त्रियों ने इकट्ठे होकर नव-वधू का दर्शन किया था, और इन्होंने उसे सौभाग्य का आशीर्वाद दिया था। परन्तु इस मन्त्र के अनुसार बुजुर्ग-पुरुष मिल कर नव-वधू के दर्शन के निमित्त आये हैं। अतः वर्तमान समय के परदे के अनुचित रूप के साथ वैदिक दृष्टि सहमत नहीं है। युवतियाँ तथा वृद्धा स्त्रियाँ, और बुजुर्ग-पुरुष, नव-वधू के नवगृह में आते हैं और वधू का दर्शन कर उसे आशीर्वाद देते हैं।

वह आशीर्वाद क्या है? वह आशीर्वाद वैदिक-गृहस्थ के वास्तविक उद्देश्य के रँग में रँगा हुआ है। वह आशीर्वाद यह है कि “हे वधू! तू प्रजा और उत्तम सन्तान के सुखों से सदा सुखी रह, इस सुख से तू कभी वञ्चित न रह।” यथार्थ में गृहस्थ-जीवन का वास्तविक उद्देश्य उत्तम सन्तान तथा उत्तम सन्तानों द्वारा प्राप्त होने वाला सुख ही है।

वधू को बुजुर्गों का उपदेश

(१३८) येदं पूर्वागन् रशनायमाना

प्रजामस्यै द्रविणं चेह दत्त्वा ।

तां वहन्त्वगतस्यानु पन्थां

विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीत् ॥

(अथर्व० १४।२।७४)

(या) जो वधू (पूर्वा) प्रथम आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में, (रशनायमाना) रशना अर्थात् मेखला वाली हुई थी, और जो अब इस द्वितीय-आश्रम में (इदम्) अर्थात् इस पतिगृह में (आ+अगन्) आई है, (अस्यै) इस वधू के लिए (इह) इस द्वितीय-आश्रम में (प्रजां द्रविणं च) उत्तम सन्तान तथा धनैश्वर्य का आशीर्वाद (दत्त्वा) देकर, (ताम्) उसे (अगतस्य पन्थाम्) पहिले न चले हुए मार्ग अर्थात् गृहस्थ-मार्ग (अनु) पर (वहन्तु) हे बुजुर्गों! आप ले चलो, (इयम्) यह वधू (विराट्^१) चमकेने वाली प्रकृति^१ है, (सुप्रजाः) यह उत्तम सन्तानों वाली होकर (अत्यजैषीत्) महाविजय लाभ करे।

इस मन्त्र द्वारा वधू के सम्बन्धी, वधू के दर्शनार्थ आए हुए बुजुर्गों के प्रति निवेदन करते हैं कि यह हमारी वधू ब्रह्मचर्याश्रम से होकर हमारे इस पतिगृह में आई है, इस वधू ने ब्रह्मचर्याश्रम में मेखला आदि चिन्हों को श्रद्धा से धारण किया था। अब यह इस द्वितीय आश्रम में आई है। इसे इस गृहस्थ-मार्ग का अनुभव नहीं। इस मार्ग पर यह पहिले नहीं चली। आप इसे इस न चले मार्ग का उपदेश दीजिये, और इसे इस मार्ग पर चलने में सहायता दीजिये।

और इसे आशीर्वाद दीजिए कि यह उत्तम सन्तानों से तथा धन-सम्पत् से सम्पन्न बने।

यह वधू विराट् रूप है, प्रकृति-रूप है। प्रकृति जिस प्रकार संसार की माता है, इसी प्रकार इस वधू ने भी सन्तानों की माता बनना है। इसे उपदेश तथा आशीर्वाद दीजिए ताकि यह उत्तम सन्तानों की माता बने, और उत्तम सन्तानों को उत्पन्न करने का जो महा-विजय है उसकी भागिनी बने, उस यश से यशस्विनी बने।

वधू को बुजुर्गों का उपदेश

(१३६) प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना

दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।

गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासौ

दीर्घं त आयुः सविता कृणोत ॥

(अथर्व० १४।२।७५)

(सुबुधा) हे वधू ! सुबोध' तू (प्रबुध्यस्व) प्रबोध को प्राप्त

१ इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को बोध कहते हैं, और योग-साक्षात्कार को प्रबोध कहते हैं। उपनिषदों में परमात्मा को बोध अर्थात्

हो, (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु वालो होने के लिए, (शतशारदाय) और सौ वर्षों तक जीने के लिए । (बुध्यमाना) तू सदा बोध-और-प्रबोध का उपाजन करती रह । (गृहान्) नाना कमरों वाले पति-गृह को (गच्छ) तू प्राप्त हो, (यथा) ताकि (गृहपत्नी) गृह की स्वामिनी (असः) तू हो सके । (सविता) सर्वोत्पादक पिता (ते) तेरी (आयुः) आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणोतु) करे ।

वधू के दर्शनार्थ आए हुए बुजुर्ग, वधू को, और भी उपदेश तथा आशीर्वाद देते हैं कि हे वधू ! तू सुबुधा है, सुबोध है, अच्छी पढ़ी लिखी है, ब्रह्मचर्याश्रम में सूर्या-ब्रह्मचारिणी बन कर स्नातिका बनी है, तू ने प्रबोध की प्राप्ति के लिए भी सदा प्रयत्न करते रहना । इस गृहस्थाश्रम में प्रबोध के मार्ग पर भी पग बढ़ाना ।

परन्तु इस प्रबोध की प्राप्ति में कहीं बोध की प्राप्ति को शिथिल न कर देना । हे वधू ! अपनी आयु^१ को दीर्घ करने के लिए बोध^१ की प्राप्ति के लिए भी सदा यत्न करते रहना, सौ वर्षों तक जीने के

ऐन्द्रियिक-ज्ञान या मानसिक-ज्ञान का विषय नहीं माना, अपितु इसे प्रबोध का विषय माना है, योग-साक्षात्कार का विषय माना है ।

यथा:—

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ॥ (प्रश्नोपनिषद्) ॥

अर्थात् “परमात्मा प्रतिबोध द्वारा जाना जाता है” ।

तथा वेद में भी लिखा है कि:—

ऋषी बोधप्रतीबोधौ (अथर्व० ५।३०।१०) । अर्थात् “बोध और प्रतिबोध ये दो ऋषि हैं”—जिन का कि निवास इस शरीर में है । प्रतीबोध या प्रतिबोध को ही “प्रबोध” भी कहते हैं ।

१ प्राकृतिक विज्ञान ही बोध है । प्राकृतिक विज्ञान द्वारा स्वास्थ्य के

लिए बोध की प्राप्ति में भी सदा यत्नवान् रहना । इस प्रकार बोध के साथ प्रबोध, और प्रबोध के साथ बोध को सदा प्राप्त करते रहना ।

अब तू हे वधू ! इस रथ से उतर और अपने पति-गृह में प्रवेश कर । यह पति-गृह अब से तेरा है, तू इस की स्वामिनी बन, और इस प्रकार से पति-गृह में व्यवहार कर कि तेरा इस गृह पर स्वामित्व का अधिकार सदा बना रह सके ।

अन्त में वे बुजुर्ग वधू की दीर्घायु को चाहते हैं और कहते हैं कि जगदुत्पादक पिता की तुझ पर कृपा हो ताकि तेरी आयु दीर्घ हो सके ।

नियमों को जान कर, तथा रोगों और रोगों के कारणों तथा उन से बचने के उपायों को जान कर, समाज तथा व्यक्ति अपने आयु-काल को दीर्घ कर सकते हैं । पाश्चात्य-संसार में प्रतिजन की औसतन आयु पर्याप्त लम्बी हो गई है । यह उन के प्राकृतिक विज्ञान या बोध का ही परिणाम है । प्राचीन भारत में भी जब उच्चकोटि का बोध विद्यमान था, तब भारतीयों की औसतन आयु १०० वर्षों की थी ।

१. वधू जिस रथ या पालकी पर सवार होकर पति-गृह को आई है, उस रथ या पालकी से वधू को, ये बुजुर्ग, आशीर्वाद तथा उपदेश देकर उतरने का तथा पतिगृह में प्रवेश करने का आदेश देते हैं ।

बीसवां प्रकरण पत्नी पुष्पित-वृक्ष है

[१४०] भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।

महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वस्ताम् ॥

(अथर्व० १।१४।१)

(अस्याः) इस पत्नी से (भगम्^१) छः भगों को, (वर्चः) और वर्च अर्थात् तेज को, (आदिषि) में लेता हूँ, (वृक्षात् अधि) वृक्ष से (इव) जैसे (स्रजम्) फूलों की माला को लेते हैं। (महाबुध्नः) बड़ी जड़ वाले (पर्वत इव) पर्वत की न्याईं, (ज्योक्^२) देर तक, (पितृषु) पितरों में (आस्ताम्) यह पत्नी बनी रहे।

पति इच्छा प्रकट करता है कि पत्नी से भगों-तथा-वर्च को लेकर अपने आप को वह भाग्यवान् तथा वर्चस्वी बनाए, जैसे कि वृक्ष से फूलों को लेकर और उनकी माला बना कर लोग अपने आप को भाग्यवान् तथा वर्चस्वी बनाते हैं। इस वर्णन में स्त्री जाति की महिमा दर्शाई गई है। वैदिक दृष्टि में स्त्री निर्गुणी तथा नीच नहीं है। स्त्रियों में भी भग-और-वर्च दोनों विद्यमान हो सकते हैं। स्त्री-शिक्षा की ओर यदि उचित ध्यान दिया जाय तो स्त्रियाँ भी भग-और-वर्च की दृष्टि से पर्याप्त उन्नति कर सकती हैं। इतनी उन्नति कि उन के पति भी यह अनुभव कर सकें कि वे उनसे सद्गुणों का और वर्च का ग्रहण कर सकते हैं।

१ भग = ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य।

२ ज्योक् = कालभूयस्थे (वाचस्पत्य कोष)। अर्थात् बहुत काल तक।

पतिकुल में पत्नी के रहने के काल को “ज्योक्” शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया है । ज्योक् का अर्थ है “देर तक, बहुत समय तक” । पत्नी जब तक जीवित रहे तब तक पतिकुल में ही रहे,—यह यहां भाव नहीं है । मन्त्र में पतिकुल में देर तक रहने का तो विधान है, जीवन-पर्यन्त रहने का विधान नहीं । यह इसलिए कि गृहस्थाश्रम का समय भोग लेने पर, यदि पत्नी चाहे, तो वह भी वानप्रस्थ आदि अगले आश्रमों में जाने का अधिकार रखती है ।

मन्त्र में “पितृ” का अर्थ है,— पितर अर्थात् माता, पिता आदि बुजुर्ग । पतिकुल में रहने वाले पति की माता, पति का पिता, पति के अन्य वृद्ध सम्बन्धी यहां पितर कहे गये हैं । विवाहित हो कर पत्नी, इन पितरों की शरण में रहे, और इन की सेवा-शुश्रूषा करे ।

पत्नी अपने पतिकुल में इस प्रकार स्थिर रहे जैसे कि बड़े-मूल वाला पर्वत अपनी जगह पर स्थिर रहता है । एक पतिकुल को छोड़ कर, अन्यान्य पतिकुलों में जाते रहने को, वेद उत्तम नहीं मानता ।

पत्नी को प्रेम से बांधना

(१४१) एषा ते राजन् कन्या वधूर्निधूयतां यम ।

सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥

(अथर्व० १।१४।२)

(राजन्) हे पति राजा ! (एषा) यह (कन्या) कन्या (ति) तेरी (वधू) वधू है, (यम) हे यम-नियमों के पालन करने वाले पति ! - (निधूयताम्^१) इस के साथ तुम गृहस्थधर्म का पालन करो,

१ मन्त्र संख्या ४३, ४४ में पत्नी को भी सत्राज्ञी कहा है ।

२ निधुवन = Sexual enjoyment; pleasure (आपटे कोष) ।
तथा नि+धू = गति ।

या तुम्हें द्वारा यह गृहस्थ-शासन में प्रेरणा पावे। (सा) वह वधू (ते मातुः, भ्रातुः, पितुः) तेरी माता, भाई तथा पिता के (गृहे) घर में (बन्धताम्) प्रेमबन्धन में बन्ध जाय।

वैदिक-परिवार में पति राजा है और उस की पत्नी रानी है। वैदिक गृहस्थ में नव-दम्पति का शासन चलता है। इस नए शासन में वृद्ध-बुजुर्ग इन से सेवा पाते हैं और अल्प आयु वाले इनसे प्रेम। परन्तु गृहस्थ में शासन इसी नवदम्पति का चलता है।

पति यम-नियमों का अभ्यास करने चाहिए। उसने ब्रह्मचर्याश्रम में यम-नियमों का अभ्यास किया था। वह गृहस्थधर्म में भी यम-नियमों का अभ्यास जारी रखे और यम-नियमों का मूर्तिस्वरूप बन कर इस पत्नी के साथ गृहस्थधर्म का पालन करे।

पति, पति की माता, पति का पिता, पति के भाई, तथा उस के अन्य बड़े-छोटे सम्बन्धी वधू के साथ इतना प्रेम और अनुराग दशाएँ कि यह वह इस नए घर के प्रेम-बन्धनों में बंध जाय और उनके साथ ही रहना पसन्द करे।

पत्नी पतिकुल की रक्षिका है

[१४२] एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्यासि ।

ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः शमोप्यात् ॥

(अथर्व० १।१४।३)

(राजन्) हे पति राजा ! (एषा) यह कन्या (ते) तेरे (कुलपा) कुल की पालना करने वाली है, रक्षा करने वाली है, (ताम् उ) उसको (ते) तेरे लिए (परि दद्यासि) हम पूर्णरूप से देते हैं। (ज्योक्) बहुत देर तक (पितृष्व) पतिकुल के बुजुर्गों में (आसाते) यह बनी रहे, (आन् शीर्ष्णः) और अपनी विचारशक्ति से (शमोप्यात्) शान्ति के बीज बोए।

गृहस्थ-जीवन में पति राजा है और पत्नी इस कुल की पालना करने वाली राणी है । पत्नी को कुलघ्नी न कह कर "कुलपा" कहा गया है । इस शब्द द्वारा पत्नी का मान बढ़ाया गया है, तथा साथ ही पतिकुल में आकर उस का क्या कर्तव्य होगा चाहिए, — इस की भी सूचना दी गई है । बिना पत्नी के पतिकुल की रक्षा तथा पालना नहीं हो सकती । साथ ही पत्नी को यह समझना चाहिये कि वह पतिकुल में आकर पतिकुल की रक्षा तथा पालना का बोझ अपने ऊपर लेती है ।

पतिकुल के पितरों में रहता, उन का साथ निभाना, तथा उन की सेवा-शुश्रूषा करना, — नववधू का कर्तव्य है । नियत काल तक गृहस्थ-जीवन व्यतीत कर यदि पत्नी वानप्रस्थ आदि आश्रमों में जाना चाहे तो यह अधिकार भी उसे प्राप्त है ।

पतिकुल में रहती हुई पत्नी अपने सिर से इस कुलभूमि में शान्ति के बीज बोया करे । सिर से अभिप्राय विचारशक्ति का है । पत्नी अपनी विचारशक्ति से इस कुलभूमि में शान्ति, प्रेम, अनुराग, उदारता, धर्म आदि सदगुणों के बीज बोए, ताकि ये बीज महावृक्ष हो कर गृहस्थ को अपनी छाया द्वारा सुखी रखे ।

पत्नी घर का खजाना है

(१४३) असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च ।

अन्तःकोशमिव जामयाऽपि नह्यामि ते भगम् ॥

(अथर्ववेद १।१४।७)

(असितस्य) बन्धन-रहित, (कश्यपस्य) समृद्धि, तथा (गयस्य)

१ असित (बिज् बन्धने) ।

२ पश्यतीति कश्यपः । अर्थात् कश्यप = पश्यक = देखने वाला ।

३ गय = घर और प्राण ।

च) सर्वाधार या प्राणस्वरूप परमात्मा के (ब्रह्मणा) वेद-ज्ञान के द्वारा (ते) तुम्ह में (भगम्) भगों को (अपि नह्यामि) मैं बान्धता हूँ, (जामयः) स्त्रियाँ (अन्तःकोशमिव) अन्दर के खजाने की न्याईं हैं ।

परमात्मा असित है अर्थात् वह बन्धन-रहित है । वह कश्यप है अर्थात् सर्वद्रष्टा है । वह गय है अर्थात् सर्वाधार है और प्राणस्वरूप है । ब्रह्म^१ अर्थात् “वेद” इस परमात्मा का ज्ञान है । पति कहता है कि परमात्मा के दिये वेद द्वारा मैं तुम्ह में हे पत्नी ! सौभाग्यों को स्थापित करता हूँ । तू वेदों को पढ़ा कर और इस विधि से सौभाग्यों को प्राप्त किया कर ।

पति कहता है कि तू खजाने की न्याईं है । खजाने में जैसे उत्तम २ रत्नों को स्थापित किया जाता है वैसे ही तुम्ह में मैं वेद के सौभाग्य-रत्नों को स्थापित करता हूँ । ताकि तू “अन्तःकोश^३” की न्याईं बन जा, घर के अन्दर पड़े खजाने की न्याईं बन जा । खजाना घर के अन्दर रखा जाता है और उस खजाने में बहुमूल्य रत्न आदि रखे जाते हैं । इसी प्रकार का तू खजाना बन और तुम्ह में वैदिक सौभाग्य-रत्न विद्यमान रहें । प्रत्येक पत्नी को “अन्तःकोश” की न्याईं बनना चाहिये । इस के लिए उसे दैनिक स्वाध्याय करना चाहिये, दैनिक वेद-पाठ करना चाहिये । ताकि वेद के रत्नों को वह प्राप्त कर सके ।

१ ब्रह्म = वेद । देखो मन्त्रसंख्या ६४ ।

२ भग = ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य ।

३ कोश शब्द नपुंसक-लिङ्ग भी है ।

पारिवारिक-जीवन में माधुर्य-भावना

(१४४) इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि ।^१

मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि ॥

(अथर्व० १।३४।१)

(इयम्) यह (वीरुन्) विविध स्थानों से बढ़ने वाला गन्ना (मधुजाता) मधुर जल^२ से उत्पन्न हुआ है । (त्वा) हे गन्ने ! तुझे (मधुना) मधु की भावना के साथ (खनामसि) हम खोदते हैं । (मधोः अधि) मधुर गन्ने की गांठ से (प्रजाता असि) तू पैदा हुआ है । (सा) वह तू हे गन्ने ! (नः) हम सब को (मधुमतः) मधुर (कृधि) कर ।

इस मन्त्र में जीवन को मधुर बनाने के लिये, गन्ने को दृष्टान्त-रूप में लिया है । वेद में उपदेश प्रायः प्राकृतिक घटनाओं के दृष्टान्तों द्वारा दिए गए हैं । गन्ना बोना, गन्ना काटना, और गन्ने से मधुर रस लेना,— ये भी प्राकृतिक-दृष्टान्त हैं । गन्ने में तीन विशेष-ताएँ देखी गई हैं । (१) गन्ना मधुरता को साथ लिये उत्पन्न होता है, यह जन्म से ही मीठा होता है, स्वभाव से ही मीठा होता है । (२) गन्ने को मधुर भावना के साथ खोदा तथा काटा जाता है, इस भावना से इसे खोदा तथा काटा जाता है कि इससे हम माधुर्य प्राप्त करेंगे । (३) गन्ने को पैदा करने का जो उपरोक्त कारण है वह

१ वीरुन् = वि + रूह् । विविध स्थानों से रोहण करने वाला, अंकुरित होने वाला । गन्ने की प्रत्येक गांठ से गन्ने अंकुरित हो जाते हैं । अतः गन्ना वीरुन् है ।

२ मधु = जल (निघं० अ० १, खं० १२) ।

भी मीठा ही होता है, अर्थात् गन्ने को पैदा करने के लिए गन्ने की जो गाँठें या पोरियाँ खेत में बोई जाती हैं वे भी स्वयं मीठी ही होती हैं, तभी उन मीठी पोरियों से मीठा गन्ना उत्पन्न होता है। गन्ने के इस दृष्टान्त से मनुष्य को तीन उपदेश दिए गये हैं।

(१) पहिला यह कि मनुष्यों को भी मधुरता के साथ उत्पन्न होना चाहिये। माता-पिता गर्भाधान के समय में तथा उसके पश्चात् भी यदि यह संकल्प बनाए रखें कि हमने अपनी सन्तानों को मधुर बनाना है, तब सन्तानें जन्म पाते ही मधुर-संस्कारों को साथ लावेंगी, और उत्पत्ति के समय उनमें मधुरता के संस्कार विद्यमान होंगे।

(२) इसके लिये माता-पिता को स्वयं भी मधुर बनना होगा। माता-पिता उपादान-कारण हैं सन्तानों के। जैसे उपादान कारण के मधुर होने पर ही गन्ना मधुर उपजता है, इसी प्रकार माता-पिता के विचार-तथा-व्यवहार जब तक मीठे न होंगे उनसे उत्पन्न सन्तानों के विचार-तथा-व्यवहार में भी तब तक माधुर्य नहीं आ सकता। क्योंकि माता-पिता के संस्कारों, विचारों तथा व्यवहारों का अत्यधिक प्रभाव सन्तानों पर पड़ता है।

(३) इसके लिये विशेषरूप से आवश्यक यह है कि बीज-दान तथा बीज-ग्रहण के समय, अर्थात् गर्भाधान के समय, माता-पिता की भावनाएँ अत्यन्त मधुर हों। इन उत्कट मधुर-भावनाओं के साथ यदि गर्भाधान किया जाय तो सब सन्तानें मधुर ही उत्पन्न होंगी।

मन्त्र के अनुसार परिवार के सब व्यक्ति मधुर बनना चाहते हैं। परिवार में रहने वाले पति-पत्नी, बाल-बच्चे, तथा कुजुर्ग— इन सबको मधुर बनना चाहिये। पारिवारिक-जीवन में यदि माधुर्य नहीं तो पारिवारिक-जीवन निःसार तथा हेय दृष्टिगोचर होने लगता है।

इसलिये पारिवारिक-जीवन में माधुर्य की बड़ी आवश्यकता है। इनकी बोल-चाल में, उठने-बैठने में, प्रत्येक हरकत में, माधुर्य का वास होना चाहिए। इसलिये परिवार के सभी व्यक्ति इस मन्त्र द्वारा मधुर बनना चाहते हैं।

मधुरवाणी और मधुर-संकल्प

(१४५) जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।

ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥

(अथर्व० १।३४।२)

(मे) मेरी (जिह्वायाः) जिह्वा के (अग्रे) अग्रभाग में (मधु) माधुर्य हो, (जिह्वामूले) जिह्वा के मूल में (मधूलकम्) माधुर्य हो। (मम) मेरे (क्रतौ) संकल्पों^१ में (इत् अह) निश्चय से (असः) हे माधुर्य! तू हो, (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त को हे माधुर्य! तू (उपायसि) प्राप्त हो।

परिवार का व्यक्ति भावना करता है कि मेरी जिह्वा के अग्र-भाग में माधुर्य हो, जिह्वा के मूल में माधुर्य हो, मेरे संकल्पों में माधुर्य हो, और मेरे चित्त में माधुर्य हो। चित्त का काम है विचार। जिह्वा का अग्रभाग, जिह्वा का मूलभाग, संकल्प तथा विचार—इन में कार्यकारण-भाव है। पहिला २ कार्य है अगले २ का। शब्द के उच्चारण करने में पहिले चित्त में विचार उठता है, फिर शब्द के उच्चारण करने के लिए संकल्प जाग्रत होता है, फिर संकल्प द्वारा जिह्वा के मूलभाग में प्रेरणा होती है, और तदनन्तर जिह्वा के अग्रभाग में प्रेरणा होती है। इस प्रकार शब्द के उच्चारण के लिए

१ क्रतु = संकल्प ।

शब्द को चार प्रक्रमों में से गुजरना पड़ता है । परिवार का व्यक्ति इन चारों प्रक्रमों में माधुर्य का निवास चाहता है ताकि उस की जिह्वा से सदा मधुर शब्दों का उच्चारण हुआ करे ।

मधुरव्यवहार और मधुरमूर्ति

(१४६) मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।

वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदशः ॥

(अथर्व० १।३।३)

(मे) मेरा (निक्रमणम्) आना (मधुमत्) मधुर हो, (मे) मेरा (परायणम्) परे जाना (मधुमत्) मीठा हो । (वाचा) वाणी से (मधुमत्) मधुर (वदामि) मैं बोलता हूँ, (भूयासम्) हो जाऊँ मैं (मधुसंदशः) मधु के सदृश या मधुरदृष्टि वाला ।

परिवार का व्यक्ति भावना करता है माधुर्य की । वह कहता है कि उस का घर में आना मधुर हो, और घर से बाहर जाना मधुर हो । वह घर में मधुरभावनाओं के साथ आवे, आकर मधुर-भाषण करे, और घर से बाहर जाता हुआ मधुरभावनाओं की साथ ले कर जावे । इसी प्रकार वह संकल्प करता है कि वह वाणी से सदा मीठे शब्द बोले, और अपने सभी व्यवहारों में इतना मीठा हो कि वह माधुर्य की मूर्ति बन जाय, और उस की आंखों से सदा मधुरता बरसा करे ।

गन्ने से भी मधुर बनना

(१४७) मधोरस्मि मधुतरो मदुधान्मधुमत्तरः ।

मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥

(अथर्व० १३४।४)

(मधोः) मीठे से भी (मधुतरः अस्मि) मैं अधिक मीठा हूँ, (मदुघात्) मिठास जिस से दुही जाती है ऐसे मधु-छत्ते या गन्ने से भी (मधुमत्तरः) मैं अधिक मिठास वाला हूँ । हे मिठास ! (माम्) मुझ को (त्वम्) तू (वनाः) प्राप्त हो, (मधुमतीं शाखां इव) जैसे मधुर शाखा को अर्थात् गन्ने को मिठास प्राप्त होती है ।

परिवार का व्यक्ति अपने जीवन में माधुर्य लाने की भावना को प्रकट कर रहा है । वह कहता है कि मैं मीठे से भी अधिक मीठा बन जाऊँ, मधु के छत्ते से भी अधिक मीठा बन जाऊँ, गन्ने से भी अधिक मीठा बन जाऊँ । जैसे गन्ने की शाखा मिठास से भरपूर होती है वैसे मैं मिठास से भरपूर हो जाऊँ ।

पति-पत्नी में पारस्परिक कामना

(१४८) परि त्वा परितत्तुनेक्षुणागामविद्विषे ।

यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥

(अथर्व० १।३४।५)

(परितत्तुना^१) बहुत^२ फैलने वाले (इक्षुणा) गन्ने के दृष्टान्त

१ मदुघ = मधु + दुह (= दुघ) = म (धु) दुघ = मदुघ । अर्थात् मधु जिस से दुहा जाता है ।

२ परि = (बहुत) + तन् (फैलना) । परि = much, excessively.

को मन में धारण कर हे पत्नी ! (त्वा परि^१) तेरी ओर (अग्राम्) मैं आया हूँ, (अविद्वेषे) ताकि हम में परस्पर द्वेषभाव न हो सके, (यथा) जिस से कि तू (माम्) मेरी (कामिनी) कामना करने वाली (असः) हो, (यथा) जिस से कि तू (मत्) मुझ से (अपगाः) परे जाने वाली (न असः) न हो ।

पति, अपने जीवन में मिठास लाने के लिए, गन्ने के दृष्टान्त को सदा स्मरण रखे । वह पत्नी के प्रति कहे कि मैं इस दृष्टान्त को सदा संमुख रखता हुआ तुझ को प्राप्त हुआ हूँ । मैं सदा मीठे व्यवहार रखूंगा ताकि मुझ में और तुझ में परस्पर विद्वेष कभी न हो, और तू सदा मेरी चाहना करती रहे, और मुझ से अलग कभी न हो ।

परिवार में हृदयों-और-मनों की एकता

(१४९) सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।

अन्यो अन्यमभि हृतं वत्सं जातमिवाधन्या ॥

(अथर्व० ३।३०।१)

हे गृहवासियो ! (वः) तुम्हारे लिये (सहृदयम्) सहृदयता अर्थात् परस्पर सहानुभूति तथा प्रेमपूर्ण हृदय का, (सांमनस्यम्) मन अर्थात् विचारों तथा संकल्पों की एकता का, (अविद्वेषम्) तथा परस्पर निर्वैरता का (कृणोमि) उपदेश मैं परमात्मा करता हूँ । (अन्यो अन्यम्) एक दूसरे की (अभि हृतं) चाहना किया करो, (जातं वत्सम्)

(आपटे कोष) । गन्ने की प्रत्येक गांठ से नया गन्ना उत्पन्न हो सकता है । अतः गन्ना बहुत फैलने वाला पौदा है ।

१ परि = Towards, in the direction of. (आपटे कोष) ।
यथा “वृक्षं परि विद्योतते विद्युत्”) ।

उत्पन्न हुए बछड़े की (इव) जैसे (अघ्न्या) गौ चाहना करती है ।

इस मन्त्र में परमात्मा गृहवासियों को उपदेश देता है कि तुम एक दूसरे के साथ सहृदयता का व्यवहार करो, अर्थात् परस्पर सहानु-भूति का और प्रेम का व्यवहार करो । दूसरे के दुःख को दूर करना, उसे सुख पहुँचाना, — यह सहृदयता का भाव है । सहृदयता का अर्थ है हृदय का एक हो जाना । मानो गृहवासियों के देह तो भिन्न २ हैं परन्तु उन सब में हृदय एक है, — इस भावना को सहृदयता की भावना कहते हैं । दूसरे को दुःख हुआ तो समझना कि यह मेरे हृदय को ही दुःख हुआ है, — यह भावना सहृदयता की भावना है ।

“सांमनस्य” का अर्थ है मन की एकता का होना । मन प्रति-निधि है विचारों और संकल्पों का । विचारभेद तथा संकल्पभेद परस्पर के विरोध तथा विपमता के कारण बन जाते हैं । जहां हृदय मिले हुए होते हैं वहां विचारों तथा संकल्पों को विपमता भी कम हो जाती है, वहां एक दूसरे के विचारों और संकल्पों का उचित मान तथा आदर करने की ओर झुकाव रहता है । गृहवासियों में जहां परस्पर सहृदयता का भाव होना चाहिये वहां उन में सांमनस्य का भी भाव होना चाहिये ।

इन दो भावों के विद्यमान रहते गृहवासियों में “निर्वैरता” का राज्य हो जाता है । परस्पर-वैर का या परस्पर-द्वेष का भाव ऐसे व्यक्तियों में जड़ ही नहीं पकड़ता जहां कि सहृदयता और सांमनस्य के बीज बोए गये हों ।

गृहस्थ का प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के संग और साथ की उग्र कामना करे, एक दूसरे से मिलने-जुलने का उत्कट अभिलाषी हो । इस से परस्पर प्रेमभाव बढ़ता रहता है और परस्पर न मिलने-जुलने से प्रेम की मात्रा कम होने लगती है । इस उग्रकामना के सम्बन्ध में गौ

का दृष्टान्त दिया गया है । गौ अपने नवजात बछड़े के साथ बहुत प्रेम करती है, उस के पास रहने की उग्रकामना करती है । इसी प्रकार की उग्रकामना, एक दूसरे के साथ रहने के लिये, गृहवासियों में होनी चाहिये ।

मन्त्र में गौ के लिये अघ्न्या पद आया है । अघ्न्या का अर्थ है “न हनन करने योग्य” । अघ्न्या = अ+हन्+य । इस नाम द्वारा ज्ञात होता है कि वेदों में गोघात का निषेध है ।

पुत्रों और पत्नी के व्यवहार

(१५०) अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥

(अथर्व० ३।३०।२)

(पुत्रः) पुत्र (पितुः) पिता के (अनुव्रतः) व्रतों के अनुकूल व्रतधारी हो, तथा (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) अनुकूल मन वाला, अर्थात् प्रेम करने वाला (भवतु) हो । (जाया) पत्नी (पत्ये) पति के लिए (मधुमतीम्) मधुर तथा (शान्तिवाम्) शान्ति देने वाली वाली (वदतु) बोला करे ।

पुत्र, पिता के व्रतों के अनुसार, व्रत ग्रहण किया करे । व्रतों के ग्रहण करने से जीवन पवित्र तथा संग्रमित हो जाता है ।

पुत्र, माता के मन के साथ, अपने मन को, मिला दे । वह माता की मनोभावना के विपरीत कोई कार्य न करे । वह समझे कि उसकी माता का तथा उसका मन एक है, चाहे शरीर पृथक् २ है ।

पत्नी के प्रति कहा गया है कि वह सदा मधुर तथा शान्तिमयी वाली का प्रयोग करने वाली हो । जिस गृह-जीवन में पत्नी कट-

भाषिणी तथा कलहप्रिय होती है उस गृहस्थ-जीवन में माधुर्य तथा शान्ति का वास नहीं रहता ।

भाईयों-बहिनों में प्रेमव्यवहार

(१५१) मा भ्राता भ्रातरं द्विचन्मा स्वसारमुत स्वसा ।

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

(अथर्व० ३।३।०।३)

(भ्राता) भाई (भ्रातरं स्वसारम्) भाई और बहिन के साथ (मा) न (द्विचत्) द्वेष करे, (उत) और (स्वसा) बहिन भी भाई और बहिन के साथ न द्वेष करे । (सम्यञ्चः) साथ २ चलने वाले, (सव्रताः) और एक जैसे व्रतों को धारण करने वाले हो कर, (भद्रया) भद्ररीति से (वाचम्) वाणी को (वदत) बोला करो ।

भाईयों और भाईयों में, भाईयों और बहिनों में, तथ बहिनों और बहिनों में सदा प्रेम का व्यवहार होना चाहिये । ये आपस में द्वेष कभी न करें । एक दूसरे के साथ सच्चे दिल से प्रेम करते हुए एक दूसरे की सहायता करें । एक दूसरे के साथ लड़ें-झगड़ें नहीं ।

एक परिवार के भाई-बहिनों में एक-चाल होनी चाहिये । सब की अलग २ और बेढंगी चालें न हों । इस से गृह की व्यवस्था बिगड़ जाती है और कोई भी काम सुचारु रूप से नहीं होने पाता । इसी प्रकार एक परिवार के भाई-बहिनों में एक प्रकार के व्रतों के धारण करने की प्रवृत्ति होनी चाहिये, धर्म-कर्म में उनकी अलग २ भावनाएँ न हों ।

भाई-बहिनें जब आपस में बातचीत किया करें तो वे सदा भद्र-वाणी का प्रयोग किया करें । वे परस्पर डाँट-डपट से काम न लें, परस्पर गाली न दें । वे मान तथा आदर और प्यार से एक दूसरे का आह्वान किया करें । यही भद्र-रीति है, शिष्ट-रीति है ।

परिवार में वैदिक-स्वाध्याय

● (१५२) येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।

तत्कृण्वो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥

(अथर्व० ३।३।०।४)

(येन) जिस से (देवाः) घर के माता-पिता आदि देव (न वियन्ति) एक दूसरे के विरुद्ध नहीं चलते, (नो च) और न (मिथः) परस्पर (विद्विषते) विद्वेष करते हैं, (तत् ब्रह्म) वह वेद (वः गृहे) तुम्हारे घर में (कृण्वः) हम नियत करते हैं, (संज्ञानं पुरुषेभ्यः) जो वेद कि पुरुषों और स्त्रियों को सम्यक्-ज्ञान देता है, एकता का उपदेश देता है ।

वेद में स्थान २ पर “संज्ञान” का उपदेश मिलता है, एकता का उपदेश मिलता है । संज्ञान का अवयवार्थ है सम्यक्-ज्ञान । परन्तु इस का प्रसिद्ध अर्थ है एकता । सम्यक्-ज्ञान से एकता हो जाती है । यदि व्यक्तियों को वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ठीक २ ज्ञान हो जाय तो उन में मतभेद नहीं रह सकता ।

संज्ञान से देवों अर्थात् माता-पिता आदि देवों में परस्पर विरोध कम हो जाते हैं । बुजुर्गों के परस्पर प्रेममय-जीवनों का प्रभाव नव-दम्पती के जीवनों पर भी पड़ता है । वेद के स्वाध्याय से पारिवारिक जीवन के रहस्य प्रकट होते हैं । जिन्हें यदि जीवनों में ढाल लिया जाय तो परस्पर के विरोध तथा विद्वेष मिट सकते हैं । इस लिये वेद का स्वाध्याय प्रत्येक गृह में दैनिक रूप से होना चाहिये । और स्वाध्याय में आए मन्त्रों के भावों को समझ कर उन्हें जीवनों में ढालना चाहिये ।

परिवार में शिष्टाचार

(१५३) ज्यायस्वन्तरिचित्तनो मा वि यौष्ट

संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।

अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥

(अथर्व० ३।३०।५)

(ज्यायस्वन्तः) तुम वृद्धों का सम्मान करो, (चित्तिनः) अपने २ कर्तव्यों में चित्त लगाओ, (मा वि यौष्ट) परस्पर वियुक्त न होओ, (संराधयन्तः) सब मिल कर गृहस्थ के कार्यों को सिद्ध करो, (सधुराः चरन्तः) गृहकार्यों की सिद्धि के लिए ऐसे चलो जैसे कि गाड़ी की धुरा के आगे लगे हुए बैल परस्पर मिल कर चलते हैं । (अन्यो अन्यस्मै) एक-दूसरे के प्रति (वल्गु) सुन्दर और शोभा वाली (वदन्तः) वारणी बोलते हुए (एत) एक दूसरे की ओर आया करो, (सध्रीचीनान् वः) साथ २ चलने वाले तुम को (संमनसः) एकमन वाले (कृणोमि) मैं करता हूँ ।

पारिवारिक-जीवन में वृद्धों का मान सदा करना चाहिए । सदा कोशिश करनी चाहिए कि एक परिवार के व्यक्तियों के चित्त परस्पर मिले रहें, जिस से इन में परस्पर वियुक्त होने की भावनाएँ पैदा न हों । ये अपने २ कर्तव्यों को दत्तचित्त हो कर पालें । सब मिल कर गृह के कार्यों का सम्पादन करें, कतिपय व्यक्तियों पर ही गृहकार्यों का सारा बोझ न लाद देना चाहिए । जैसे गाड़ी की धुरा के आगे चलने वाले बैल मिल कर चलते हुए गाड़ी के बोझ को ढो लेते हैं, इसी प्रकार गृहस्थ-गाड़ी के बोझ को भी गृहस्थ के व्यक्ति मिल कर ढोवें । परिवार के व्यक्ति जब परस्पर मिलें तो एक दूसरे का

स्वागत और अभिनन्दन करते हुए मिलें। इस प्रकार जब पारिवारिक व्यक्ति गृहस्थ-जीवन में साथ २ चलेंगे तो इन में एकता के भाव स्वयमेव पैदा हो जायेंगे, इन के मन परस्पर मिल जायेंगे।

सम्मिलित अग्निहोत्र

(१५४) समानी प्रपा सह वो ऽ न्नभागः

समाने योक्त्वा सह वो युनजिम।

सम्यञ्चो ऽ ग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥

(अथर्व० ३।३।०।६)

(प्रपा) जलपान तथा स्नान का स्थान (समानी) तुम्हारा एक हो, (अन्नभागः) तुम्हारा खाना भी (सह) साथ हो, (समाने योक्त्वा) गृहस्थ-रूपी-गाड़ी के एक ही जुए में अर्थात् धरा में (वः) तुम को (सह) साथ २ (युनजिम) मैं जोतता हूँ। (सम्यञ्चः) साथ मिल कर (अग्निम्) होमाग्नि की (सपर्यत) पूजा किया करो, और होमाग्नि के चारों ओर इस प्रकार बैठा करो (इव) जैसे कि (अराः) रथचक्र के अरे (नाभिम् अभितः) रथचक्र की नाभि के चारों ओर लगे होते हैं।

वैदिकपरिवार एक joint family system है, एक बड़ा परिवार है, सम्मिलित-परिवारों का एक समूह है। एक परिवार के बड़े-बूढ़े, बाल-बच्चे, नौजवान तथा पुत्रवधुएँ तथा उन की सन्तानें आदि—ये सब वैदिक परिवार के अङ्ग हैं।

इस वैदिक परिवार में खान-पान का वैषम्य नहीं है। इन का पीने का स्थान, स्नान का स्थान, रसोई तथा भोजन का स्थान एक ही है। ये सब काम वैदिक परिवार में मिलजुल कर होते हैं।

इस लिए वैदिक परिवार में परिवार के बोझ को सब मिल कर ढोते हैं। ये अपने परिवार के कार्यों को इस प्रकार मिल कर करते

हैं जैसे कि घुरा के आगे लगे हुए बैल मिल कर गाड़ी को प्रगति देते हैं।

वैदिकपरिवार में एक उपासनालय होना चाहिए। इस उपासनालय में होमाग्नि की स्थापना होनी चाहिए। परिवार के सब लोग इस होमाग्नि के चारों ओर साय-प्रातः बैठ कर आहुतियां दें, और इस के चारों ओर मण्डलाकार में ऐसे बैठें जैसे कि रथचक्र की नाभि के चारों ओर मण्डलाकार में अरे लगे होते हैं।

परिवार में प्रसन्नता

(१५५) सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्

संवन्नेन सर्वान् ।

देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः

सौमनसो वो अस्तु ॥

(अथर्व० ३।३०।७-)

(सध्रीचीनान् वः) साथ २ चलने वाले तुम को (संमनसः) एक मन वाले (कृणोमि) मैं करता हूं। (संवन्नेन) परस्पर के अति भक्ति और प्रेमानुराग के द्वारा (सर्वान्) तुम सब को (एकश्नुष्टीन्) एक साथ भोजन करने वाले मैं करता हूं। (देवाः) जैसे दिव्यगुणों वाले वानप्रस्थी तथा संन्यासी आदि महात्मा (अमृतम्) अपने अमृत-जीवन की (रक्षमाणाः) सदा रक्षा करते हैं वैसे ही, (सायंप्रातः) सायंकाल और प्रातःकाल अर्थात् सदा (सौमनसः) मन की प्रसन्नता (वः अस्तु) तुम्हारी हो।

परमात्मा उपदेश देता है कि हे गृहस्थियो ! तुम सदा साथ २ रहने की इच्छा किया करो और मिल जुल कर गृहस्थ के कार्यों को

सिद्ध किया करो। इस से तुम्हारे मन एक दूसरे के साथ मिले रहेंगे। जिन में साथ २ रहने का स्वभाव हो, और मिलजुल कर काम करने की आदत हो, उन की विषमताएँ शनैः २ स्वयमेव दूर होती रहती हैं, और उन के मन भी परस्पर मिले रहते हैं।

पारिवारिक-जीवन में “संवनन” की बड़ी आवश्यकता है। छोटे भक्ति प्रदर्शन करें बड़ों के प्रति, और बड़े प्रेम प्रदर्शन करें छोटों के प्रति,—यह संवनन^१ है। इस संवनन के रहते ही, परिवार में, बड़े-छोटों का इकट्ठा खान-पान सम्भव हो सकता है। श्नुष्टि^२ का अर्थ है खान-पान। अन्यथा मनोमालिन्य के कारण बड़े-छोटों का साथ २ बैठ कर खान-पान का सौभाग्य परिवार को प्राप्त नहीं हो सकता।

पारिवारिक-जीवन में सौमनस^३ की रक्षा की ओर बड़ा ध्यान देना चाहिए। एक दूसरे के प्रति मन की प्रसन्नता का रहना पारिवारिक जीवन के लिए आवश्यक है। जैसे महात्मा लोग अपने अमृत-मार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग की सदा रक्षा करते हैं, वैसे ही गृहस्थियों को अपने सौमनसमार्ग की सदा रक्षा करनी चाहिए। सौमनस, गृहस्थवृक्ष का, सुन्दर और सुगन्धयुक्त फूल है।

परिवार की सुख-सामग्री

[१५६] ऊर्जं विभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण

चक्षुषा मित्रियेण ।

गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा विभीत मत् ॥

१ संवनन = सम् (परस्पर) + वन् (संभक्तौ) ।

२ श्नुसु अदने ।

३ सौमनस = सु + मनस् । मनो को उत्तम तथा प्रसन्न बनाए रखना ।

[१५७] इमे गृहाः मयोभुवः ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः ।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥

[१५८] येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः ।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः ॥

[१५९] उपहूता भूरिधनाः सुखायः स्वादुसंमुदः ।
अक्षुध्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् विभीतन ॥

[१६०] उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः ।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥

[१६१] स्रुतावन्तः सुभगा इरावन्तो इसामुदाः ।
अक्षुध्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् विभीतन ॥

[१६२] इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत ।
ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया ॥

(अथर्व० ७।६२।१-७)

(ऊर्जम्) बलशक्ति' और प्राणशक्ति' के देने वाले अन्न को (विभ्रद्) धारण करता हुआ, (वसुवनिः^१) धन-सम्पत् को सम्यक् बांटने वाला, (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि वाला, (सुमताः) सुप्रसन्न मन वाला, (अघोरेण मित्रियेण चक्षुषा) गुस्से से रहित और स्नेहभरी आंखों वाला मैं गृहस्वामी (वन्दमानः) यथोचित विधि से छोटी-बड़ी का सत्कार तथा मान करता हुआ (गृहान्) गृहवासियों को (ऐमि) मान

१ ऊर्ज = बल और प्राण ।

२ धन = संभक्तौ । सम्यक् विभाग करना, बांटना ।

होता हूँ । (रमध्वम्) हे गृहवासियो ! मेरे साथ तुम सब आनन्द-प्रसन्न रहो, (मत्) मुझ से (मा बिभीत) डरो नहीं ॥१॥

(इमे) ये (गृहाः) गृहवासी (मयोभुवः) सुख को पैदा करने वाले, (ऊर्जस्वन्तः) अन्न से भरपूर, (पयस्वन्तः) दूध-दही से युक्त, (वामेन) सुन्दर और सुखदायी वस्तुओं से (पूर्णाः) भरे हुए (तिष्ठन्तः) स्थित हैं, (ते) वे गृहवासी (नः आगतः) हम आते हुआओं को (जानन्तु) जानें ॥२॥

(प्रवसन्) प्रवास में गया हुआ व्यक्ति (येषाम्) जिन गृहवासियों को (अध्येति) स्मरण करता रहता है, (येषु) जिन गृहवासियों में (बहुः) बहुत (सौमनसः) मन की मिठास रहती है, (गृहान्) उन गृहवासियों को (उपह्वयामहे) हम प्रेम-पूर्वक और सत्कार-पूर्वक बुलाते हैं, (ते) वे गृहवासी (नः आगतः) हम आते हुआओं को (जानन्तु) जानें ॥३॥

(भूरिधनाः) बहुत धन वाले, (स्वादुसंमुदः) स्वादु तथा रसीले पदार्थों के खानपान में मिलकर आनन्द अनुभव करने वाले, (सखायः) मित्रों को, (उपहृताः) हम ने अपने घरों में बुलाया है, इन्हें निमन्त्रित किया है । (गृहाः) हे गृहस्थी-मित्रो ! (अक्षुध्या अतृण्या स्त) तुम क्षुधा और तृष्णा से रहित हो जाओ, अर्थात् हमारे अन्न-सत्कार को यथेष्ट ग्रहण करो, (अस्मद्) हम से (मा बिभीतन्) मत डरो ॥४॥

(इह) इस घर में (गावः) बहुत गौएँ (उपहृताः) हों, (अजावयः) बहुत बकरियाँ भेड़ें (उपहृताः) हों । (अथो) और (अन्नस्य) नाना विध अन्नों के (कीलालः) रस भी (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (उपहृतः) हों ॥५॥

(सूनुतावन्तः) गृहवासी मधुर तथा सत्य वाणी बोलने वाले हों, (सुभगाः) उत्तम भगों से युक्त हों, (इरावन्तः) जल, रस और

अन्न वाले हों, (हसामुदाः) हँसने-खेलने के स्वभाव वाले तथा प्रसन्न रहने वाले हों, (गृहाः) हे गृह वासियो ! (अक्षुध्या अतृष्या स्त) तुम क्षुधा और तृषा की व्यथा से रहित होओ, (अस्मत्) हम से (मा बिभीतच) भय न करो ॥

(इहैव) इस घर में ही (स्त) तुम सब बने रहो, (मा अनुगात) एक के बाद एक करके अलग २ न हो जाओ, (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपों को (पुष्यत) पुष्ट करो। (भद्रेण सह) भद्रभावनाओं के साथ (ऐध्यामि) मैं लौट कर आया वरूँगा, (मया) मेरे सहयोग से (भूयांसः भवत) तुम संख्या में बढ़ो तथा फूलो-फलो।

इन सप्त मन्त्रों में उन वस्तुओं का वर्णन है जिन के कि विद्यमान होने पर गृहजीवन में सुख-चैन का वास होता है। वे वस्तुएँ मन्त्रों के क्रम के अनुसार निम्नलिखित हैं। यथा:—

घर में अन्न और धन प्रभूत मात्रा में हो। गृहस्वामी सब को यथायोग्य धन का वितरण करता रहे। गृहस्वामी उत्तम-मेधा वाला हो, तथा उत्तम मन वाला अर्थात् प्रसन्न रहने वाला हो। उस की आंखों में सदा प्रेम की मिठास हो। वह बृद्धों की वन्दना करने वाला हो। और इतना प्रेम करने वाला हो कि उस की उपस्थिति में गृह के किमी निवासी को भी भय प्रतीत न हो ॥१॥

घर सुखों की खान बने। घर में घी-दूध की पर्याप्त मात्रा हो, और वह सुखसामग्री से परिपूर्ण हो। गृहस्वामी तथा घर के बुजुर्ग आदि जब घर आवें तब गृहवासी उनका सत्कार करें, उनकी सेवा करें, उनके प्रति अपने कर्तव्यों से विमुख न हो जाय ॥२॥

गृहजीवन वास्तव में प्रेमसन्ता जीवन है। प्रवासी इस जीवन को याद करता रहता है। गृहजीवन में प्रत्येक व्यक्ति का आह्वान उचित आदर से करना चाहिए ॥३॥

गृहवासियों को चाहिये कि वे अपने अमीर तथा गरीब मित्रों को निमन्त्रित किया करें। उस समय खाने-पीने की वस्तुएँ स्वादु बनाई जाया करें। घर में क्षुधा तथा तृप्ता से कोई भी पीड़ित न हो। कोई भी व्यक्ति शेष गृहवासियों के प्रति भयावह प्रतीत न होने पावे ॥४॥

घर में गौएँ, भेड़ें, बकरियाँ तथा नानाविध अन्न और अन्नो के रस होने चाहियें ॥५॥

गृह का प्रत्येक वासी मीठी और सत्य वाणी बोलने वाला हो। तथा हंसने-हंसाने वाला और आनन्दित रहने वाला हो ॥६॥

गृहवासी सब एकत्रित होकर एक घर में रहा करें। परस्पर के द्वेष तथा कलह के कारण, एक के बाद दूसरा, इस प्रकार अलग-अलग न हो जाय। गृह-जीवन के सभी रूपों की परिपुष्टि करनी चाहिये। ऊपर के मन्त्रों में इन रूपों का वर्णन किया गया है। यथा:— अन्न, धन, सुबुद्धि, चित्तों में प्रसन्नता, स्नेहभरी आँखें, परस्पर सत्कार, गौ आदि पशु, अन्नो के नाना-विध रस, सत्य-प्रिय वाणी इत्यादि। इन रूपों की सत्ता में गृहस्थ-चित्र सुन्दर तथा सुहावना बन सकता है। काम करने के बाद जब गृहस्वामी गृह लौटे तो वह प्रेममयी भावनाओं के साथ लौटा करे ॥७॥

पारिवारिक गोशाला

(१६३) सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।

सं सिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥

(अथर्व० २।२६।४)

(गवाम्) गौओं के (क्षीरम्) दूध को (सं सिञ्चामि) मैं अपनी

१ तरह २ के शर्वत, फलों के रस, अरिष्ट, कांजी आदि अन्नरस हैं।

देह में खूब सींचता हूँ, (आज्येन) और गौओं के घी से (बलम्) बल को (रसम्) और रस को अपनी देह में खूब सींचता हूँ, (अस्माकम्) हमारी (वीराः) वीर-सन्तानें (सं सिक्ताः) दूध और घी से खूब सींची गई हैं, (मयि) मुझ (गोपती) गोस्वामी में (गवः) गौएँ (ध्रुवाः) स्थिररूप से विद्यमान रहें ।

गौएँ रखने का लाभ यह है कि उन के सात्विक दूध को खूब पिया जाय । जिस प्रकार जल के द्वारा खेत को खूब सींचा जाता है इसी प्रकार दूध के द्वारा देह-के-खेत को खूब सींचना चाहिये ।

दूध और दही से मक्खन तथा घृत को निकाल कर इन का भी सेवन पर्याप्त मात्रा में होना चाहिये । इन के सेवन से शरीर का बल बढ़ता है और शरीर में नाना-विध रसों की वृद्धि तथा पुष्टि होती है ।

सन्तानों को भी दूध, दही, मक्खन तथा घृत का खूब सेवन कराना चाहिये । इन के सेवन से सन्तानें वीर बनती हैं, हृष्ट-पुष्ट तथा बलवान् बनती हैं ।

इस लिए गृहपति कहता है कि मैं गोपति बनूँ, गौओं का स्वामी बनूँ, घर में बहुत गौओं को रखूँ, और ये गौएँ घर में स्थिर रहें, हमेशा रहें, सदा रहें ।

प्रत्येक वैदिक गृहस्थी को चाहिये कि वह अपने गृह में एक गोशाला बनाए और उसमें गौओं को रखे, ताकि खान-पान और यज्ञ-याग के कार्य चल सकें ।

[१६४] आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम् ।

आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥

(अथर्व० २।२६।५)

(आ हरामि) मैं गृहपति लाया हूँ इस गृह में (गवां क्षीरम्) गौओं का दूध । (आहार्षम्) मैं लाया हूँ (धान्यम्) धान्य (रसम्) और

नानाविध रस । (अस्माकम्) हमारे (वीराः) वीर पुत्र (आहताः) इस गृह में आए हैं । (पत्नीः) और इन वीर पुत्रों की पत्नियाँ भी (इदम् अस्तकम्) इस गृह में (आ) आई हैं ।

गृहपति अर्थात् गृह का स्वामी कहता है कि मेरे गृह में गौएँ हैं, खाने के लिये नाना प्रकार के अन्न हैं, पीने के लिये नानाविध रस हैं । इन पदार्थों के होने से मेरे गृह में जितनी सन्तानें उत्पन्न हुई हैं वे सब वीर हैं । मेरे गृह में प्रभूत ऐश्वर्य के होने के कारण मैं इस गृह में अपने वीर पुत्रों की पत्नियों को भी लाया हूँ ।

(१६५) गूयं गावो मेदयथा कृशं

चिदश्वीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम् ।

भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो

बृहद्वो वय उच्यते सभासु ॥

(अथर्व० ४।२।१।६)

(गावः) हे गौओं ! (यूयम्) तुम (कृश चित्) कमजोर को भी (मेदयथा) मोटा करती हो । (अश्वीरं चित्) श्री से रहित को भी (सुप्रतीकम्) सुन्दर चेहरे वाला (कृणुथ) करती हो । (भद्रवाचः) हे भद्रवाणी वाली गौओं ! (गृहम्) घर को (भद्रं कृणुथ) तुम भद्र बना देती हो । (वः वयः) तुम्हारा दूध रूपी अन्न (सभासु) सभाओं में (बृहत्) बड़ा-अन्न (उच्यते) कहा जाता है ।

प्रत्येक गृहस्थ की एक गोशाला होनी चाहिये जिस में कि अच्छा दूध देने वाली गौएँ रखी जाँय । गौओं के दूध आदि के सेवन से कमजोर तथा दुबला-पतला व्यक्ति भी मोटा हो जाता है । तथा जिस के चेहरे पर कान्ति नहीं वह भी यदि गौओं के दूध, दही, मलाई, मक्खन,

१ वयः = अन्न (निघं० अ० २, खं० ७) ।

तथा घी का सेवन करे तो उस के भी चेहरे पर कान्ति और तेज प्रकट हो जाता है और चेहरा सुन्दर दीखने लगता है । गौओं की वागी जिन घरों में नहीं मुनाई देती वे घर भद्र नहीं हैं, वे कल्याण और सुख के धाम नहीं हैं । विद्वानों की सभाओं में, वैद्यों और डाक्टरों की सभाओं में, गौ के अन्न अर्थात् दूध आदि को बड़ा-अन्न कहा जाता है । गौ के दूध आदि से बढ़िया अन्न संसार में और कोई नहीं ।

(१६६) प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः

शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिवन्तीः ।

मा व स्तेन ईशत माघशंसः

परि वो रुद्रस्य हेतिवृणक्तु ॥

(अथर्व० ४।२१।७)

(प्रजावतीः) बछड़े-बछड़ियों वाली, (सूयवसे) उत्तम घास के खेतों में (रुशन्तीः) शोभा देती हुई, (सुप्रपाणे) उत्तम पीने-के-स्थानों में (शुद्धा अपः) शुद्ध जलों को (पिवन्तीः) पीती हुई (वः) तुम को हे गौओ ! (स्तेनः) चोर (मा ईशत) न प्राप्त कर सके, (मा अघशंसः) और न पाप का कथन करने वाला व्यक्ति तुम्हारा स्वामी बन सके, (रुद्रस्य) रौद्रकर्म वाले मनुष्य का (हेतिः) शस्त्र (वः) तुम्हें (परि वृणक्तु) सर्वथा छोड़ देवे ।

घरों में ऐसी गौएँ रखनी चाहियें जो कि बछड़े-बछड़ियों को पैदा करने वाली हों । ताकि उन से दूध की प्राप्ति हो सके, तथा गो-वंश वृद्धि को प्राप्त होता रहे, और बैलों के मिलन से खेती की भी वृद्धि होती रहे, और इस प्रकार घर का ऐश्वर्य बढ़ता रहे ।

गौओं के चरने के लिए उत्तम २ चरागाह होने चाहियें, जिन में सुन्दर और स्वच्छ घास हो । जिसे चर कर गौओं की पुष्टि हो

और उनके शरीरों की शोभा तथा कान्ति बढ़े ।

गौओं के जलपान की व्यवस्था पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए । जलपान के स्थान बड़े सुन्दर सुव्यवस्थित होने चाहिए, तथा ऐसे होने चाहिए जहां कि गौएँ आसानी से पहुँच सकें । उन में जल सदा शुद्ध होना चाहिए । गन्दे और अशुद्ध जल के पान से गौएँ नीरोग नहीं रह सकतीं, और न ही उन के चित्तों की ही प्रसन्नता हो सकती है ।

वे व्यक्ति जो कमा कर अपनी कमाई में से न तो दान देते हैं, न यज्ञ आदि करते हैं, उन्हें मन्त्र में “स्तेन” और “अघशंस” कहा गया है । ऐसे व्यक्ति चोर हैं और पापी हैं । ऐसे व्यक्ति गोधन के अधिकारी नहीं हैं ।

गौओं की सदा रक्षा करनी चाहिए । गौओं का वध नहीं करना चाहिए । गोहत्यारे कसाई गौओं पर रौद्रकर्म करते हैं, क्रूर-कर्म करते हैं । उन पर शस्त्रप्रहार कर उन का वध करते हैं । इस से गोवंश का विनाश हो जाता है । वेद गोवध का निषेध करता है । यह राजकीय-नियम होना चाहिए कि राज्य में गोवध कभी न होने पाए । गोघाती को मन्त्र में रुद्र कहा गया है ।

पंचमहायज्ञ (ब्रह्मयज्ञ)

(१६७) दोषा गाय बृहद् गाय द्युमद्वेहि ।

— आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ॥

(१६८) तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सुमुः ।

सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम् ॥

(१६९) स वा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि ।

उभे सुष्टुती गातवे ॥ (अथर्व० ६।१।१-३)

(दोषा^१) रात जब आरम्भ होने लगे तब (गाय) ब्रह्म के गुणों का गान किया कर, (बृहद् गाय) उस के गुणों का बहुत गान किया कर, (द्युम्) और प्रकाशमान् इस ब्रह्म को (वेहि) अपने हृदय में धारण किया कर। (अथर्वण^२) हे अथर्ववेद के अभ्यासी ! या अचल-ब्रह्म के उपासक ! (सवितारं देवम्) सर्वोत्पादक ब्रह्मदेव की (स्तुहि) तू स्तुति किया कर ॥१॥

(तम्) उस ब्रह्म की (उ) ही (स्तुहि) तू स्तुति किया कर, (यः) जो ब्रह्म कि (सिन्धौ अन्तः) समुद्र के या हृदय-समुद्र के अन्दर है। (सत्यस्य) जो कि सत्यज्ञान का (सूनुः) प्रेरक है, (युवानम्) जो सदा युवा रहता है, (अद्रोघवाचम्) जिस की वेद-वाणी में द्रोहभावना के विरुद्ध उपदेश दिये गया है, (मुशेवम्) तथा जो सब की सेवा करने वाला है ॥२॥

(स घा) वह ही (सविता देवः) सर्वोत्पादक देव (नः) हमें (भूरि) बहुत से (अमृतानि) अपने अमृत-उपदेशों को वेदवाणी द्वारा (साविषत्) देवे, (उभे) ताकि दोनों कालों की (मुष्टुती) उत्तम-स्तुतियों का मैं (गातवे) गान कर सकूँ ॥३॥

इन मन्त्रों में ब्रह्मयज्ञ के करने का विधान है। दोनों सन्ध्या-कालों में ब्रह्म की स्तुति गानी चाहिए। गा कर यदि ब्रह्म की स्तुति की जाय तो इस द्वारा सर्वसाधारण के जीवनों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यह स्तुति-गान पर्याप्त मात्रा में होना चाहिये, ५ या १० मिनटों का स्तुति-गान केवल खेल है। इस के लिये पर्याप्त समय लगाना

१ दोषा = रात्रि के आरम्भ का समय। क्योंकि इस समय से चोरी-यारी आदि दोष अपनी जड़ पकड़ने लगते हैं।

२ अथर्वा अर्थात् कूटस्थ ब्रह्म का इस वेद में वर्णन है।

चाहिये । स्तुति गाओ और इतनी भक्ति में गाओ कि उस स्तुतिमान् ब्रह्म का प्रकाश हृदय में चमकने लगे ।

अथर्ववेद को ब्रह्मवेद भी कहते हैं । इस लिए चूँकि अथर्ववेद में ब्रह्म का बहुत वर्णन है । इस लिए ब्रह्मोपासक को अथर्ववेद का अभ्यासी होना चाहिए ।

ब्रह्म की ही स्तुति गानी चाहिए । अन्य किसी देवी-देवता की नहीं । वह ब्रह्म समुद्र में रम रहा है । हृदय-समुद्र में भी रम रहा है । वह सत्यज्ञान का प्रेरक है, देने वाला है । सदा युवा है । न बचपन की अवस्था में पैदा होता है, और न वृद्ध हो कर मरता है । उसकी वेदवाणी में किसी के भी साथ द्रोह करने का उपदेश नहीं । वह माता, पिता, राजा, न्यायकारी,—इन नाना रूपों द्वारा प्रजा की सेवा कर रहा है ।

वह ब्रह्मदेव, अपनी अमृत-वेदवाणी द्वारा, हमें अमृत-उपदेशों को दे रहा है । उन उपदेशों को ग्रहण कर और उन उपदेशों में वर्णन किए गए ब्रह्म-के-गुणों को समझ कर, तदनुसार, दोनों कालों में, दोनों सन्ध्या-कालों में, ब्रह्म की स्तुति उत्तम प्रकार से गानी चाहिए । ब्रह्मयज्ञ के दो अभिप्राय हैं । एक यह कि दोनों सन्ध्या-कालों में ब्रह्म की स्तुति, प्रार्थना, और उपासना करनी, और दूसरा यह कि ब्रह्म अर्थात् वेदों का दैनिक स्वाध्याय करना । वैदिक गृहस्थ-जीवन में वेदों का दैनिक स्वाध्याय होना चाहिए,—इस के लिए देखो मन्त्र-संख्या ६४; ।

देवयज्ञ

(१७०) सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः

प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता ।

वसोर्वसोर्वसुदान एधि

वयं त्वेन्धानारतन्वं पुषेम ॥

(१७१) प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः

सायं सायं सौमनसस्य दाता ।

वसोर्वसोर्वसुदान एधी-

न्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम ॥

(अथर्व० १६।५।३, ४)

(सायं सायं) प्रत्येक सायंकाल में (अग्निः नः गृहपतिः) अग्नि हमारे घर की रक्षा करता है, और (प्रातः प्रातः) प्रत्येक प्रातः काल तक (सौमनसस्य^१) मन की प्रसन्नता तथा मन के स्वास्थ्य का (दाता) देने वाला है । (वसोः वसोः^२) हे अग्नि तू निवास तथा आरोग्य आदि सम्पत्ति का देने वाला (एधि) हो, (वसुदानः) निवास और आरोग्य आदि सम्पत्ति के देने से हे अग्नि ! तेरा नाम “वसुदान” है । (वयम्) हम गृहवासी (त्वा) तुझे (इन्धानाः) प्रदीप्त करते हुए (तन्वम्) अपने २ शरीर को (पुषेम) पুষट करें ।

(प्रातः प्रातः) प्रत्येक प्रातः काल में (अग्निः नः गृहपतिः)

१ सौमनस = सु + मनस् = मन का उत्तम होना ।

२ वसु = वस् निवासे । तथा सम्पत्ति ।

३ वसुदान = वसु का देने वाला ।

अग्नि हमारे घर की रक्षा करता है, और (सायं सायं) प्रत्येक सायं-काल तक (सौमनसस्य) मन की प्रसन्नता तथा मन के स्वास्थ्य का (दाता) देने वाला है । (वसोर्वसोर्वसुदान एधि) तू निवास तथा आरोग्य आदि सम्पत्ति का देने वाला है । अतः “वसुदान” नाम वाला है । (त्वा) तुझे (इन्धानाः) प्रदीप्त करते हुए हम (शतं-हिमाः) सौ शरद् ऋतुओं तक (ऋधेम) बढ़ते रहें ।

इन दो मन्त्रों में देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र का वर्णन है । अग्निहोत्र सायंकाल-प्रातःकाल दोनों समयों में होना चाहिए । इसके लिये घर की गार्हपत्य-अग्नि में अग्निहोत्र की आहुतियाँ देनी चाहिये । अग्निहोत्र की अग्नि गृहपति है, अर्थात् घर की रक्षा करती है । घर की वायु तथा वस्तुओं को शुद्ध कर घर को नीरोग बनाती है ।

सायंकाल को यदि अग्निहोत्र किया जाय तो इसका प्रभाव प्रातः काल तक रहता है, और प्रातः काल अग्निहोत्र करने पर इसका प्रभाव सायंकाल तक रहता है ।

अग्निहोत्र से “सौमनस” होता है, अर्थात् मन की प्रसन्नता तथा मन का स्वास्थ्य होता है । अग्निहोत्र की सुगन्धित, पीष्टिक, रोगहर तथा कृमिनाशक सामग्री मन तथा शरीर के रोगों को दूर कर देती है ।

अग्निहोत्र से शरीर की पुष्टि भी होती है तथा दीर्घायुष्य भी प्राप्त होता है । इस लिए अग्निहोत्र को यावज्जीवन करना चाहिए । मनुष्य की औसतन आयु १०० वर्षों की होती है । इस लिए १०० वर्षों तक अग्निहोत्र नियमपूर्वक करना चाहिए । इसी लिए मन्त्र में “शतं हिमाः” शब्द का प्रयोग हुआ है ।

अग्निहोत्र आदि यज्ञों के करने में घृत-तथा-सामग्री का व्यय व्यर्थ नहीं जाता । जितना व्यय यज्ञों में किया जाता है वह, कई गुणा

अधिक हो कर, फल रूप में वापिस मिल जाता है। अथर्ववेद में लिखा है कि—

पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरापत ।

सर्वान् यज्ञान् संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर ॥ (अथर्व० ३।१०।७०)

इस मन्त्र में कड़छी के प्रति कहा गया है कि तू “घी से भरी जा कर अग्नि की ओर जा, तथा फलों से और भी अधिक भरी हुई हो कर फिर हमारे पास वापिस आ जा। तू सब यज्ञों में भाग लेती हुई हमारे लिए अन्न और शक्ति को ला”। इस प्रकार मन्त्रद्रष्टा को पूर्ण विश्वास है कि यज्ञों में किया गया व्यय, कई गुना अधिक हो कर, फलरूप में, वापिस मिल जाता है।

पितृयज्ञ

(१७२) आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येदं

नो हविरभि गृणन्तु विश्वे ।

मा हिमिष्ट पितरः केनचिन्नो

यद् व आगः पुरुषता कराम ॥

(अथर्व० १८।१।१२२)

(जानु) हे पितरो ! अपने घुटने को (आच्य) टेक कर, (दक्षिणतः) और दक्षिण की ओर (निषद्य) बैठ कर, (विश्वे) आप सब (नः) हम से (इदम्) इस (हविः) अन्न को (अभि गृणन्तु) स्वीकार करो। (पितरः) हे पितरो ! (केनचित्) किसी भी अपराध के कारण आप (नः) हमारी (मा हिमिष्ट) हिंसा न करो, (यत्) जो (आगः) अपराध कि (वः) आप के प्रति (पुरुषता) मनुष्य-सुलभ-भूल के कारण (कराम) हम कर बैठते हैं।

इस वर्णन से प्रतीत होता है कि पितृयज्ञ में जिन पितरों का सत्कार करना होता है वे मृत-पितर नहीं हैं, अपितु जीवित पितर हैं। क्योंकि पितर जब घरों में आवें तो उन्हें घुटने टेक कर, अर्थात् चौकड़ी लगा कर, दक्षिण दिशा में बैठने की आज्ञा वेद ने दी है। घुटने टेकना और चौकड़ी लगा कर, दक्षिण दिशा में बैठना, तभी सम्भव है जब कि पितर जीवित हों।

पितृयज्ञ में पितरों को जो खान-पान दिया जाता है उसे मन्त्र में “हविः” कहा है। पितृयज्ञ में पितरों की जाठराग्नि में खान-पान की आहुति दी जाती है।

पितृ-सत्कार में यदि कोई भूल-चूक भी हो जाय, जो कि जान-बूझ कर न की गई हो, अपितु इस लिये हो गई हो कि मनुष्य अल्पज्ञ है, इस से भूल-चूक का हो जाना स्वाभाविक है—तब इस भूल-चूक की पितरों को विशेष परवाह न करनी चाहिये, और न इस निमित्त गृहस्थों के प्रति डांट-डपट तथा शाप आदि ही देना चाहिये।

जो गृहस्थ के कर्तव्यों का पालन कर वानप्रस्थ आदि आश्रमों में चले गये हैं,—उन्हें पितृयज्ञ में पितर कहा गया है।

चोरपितर और पितृयज्ञ

(१७३) ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा

अहुतादश्चरन्ति ।

परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्ठा नस्मात्

प्र धमाति यज्ञात् ॥

(अथर्व० १८।२।२८)

(ये) जो (दस्यवः) दस्यु अर्थात् चोर-उचक्के (पितृषु) पितरों

में (प्रविष्टाः) आ कर प्रविष्ट हो गये हैं, (ज्ञातिमुखाः) जिन के कि मुख हमारी जाति के लोगों के सदृश हैं, (अहुतादः) जो कि बिना आहुति दिये अन्न खाते हैं, (चरन्ति) ऐसे जो चोर-उचक्के विचरते रहते हैं, (परापुरः) पुरों अर्थात् नगरों से दूर रहते हुए तथा (निपुरः) नगरों के समीप रहते हुए (ये) जो (भरन्ति) माल-असबाब का हरण करते रहते हैं, (तान्) उन चोर-उचक्कों को (अग्निः) हमारी यह यज्ञाग्नि (अस्मान् यज्ञात्) इस पितृयज्ञ से (प्र धमाति) परे धकेल दे, निकाल दे ।

पितर-लोग प्रायः वनों में रहा करते हैं, या संन्यास की अवस्था में विचरते रहते हैं । सम्भव है कि इन वानप्रस्थी-तथा-संन्यासी पितरों में, छद्मवेपी चोर-उचक्के भी, पितरों का वेष धारण कर घुस जाय । ऐसे पितरों से सावधान रहना चाहिये ।

यदि भिन्न जाति के चोर-उचक्के पितृ-वेषधारी बन कर हमारे पितरों में आ घुसते हैं तो उन का पहिचानना आसान होता है, परन्तु वे यदि हमारी जाति के ही हों तो उन का पहिचानना कठिन हो जाता है । इस लिये पितृयज्ञ में जो पितर सत्कृत किये जाय उन की पहिले अच्छे प्रकार जान-पहचान कर लेनी चाहिये ।

जो वेदमार्गी पितर होंगे उन की अग्निहोत्र आदि कर्मों में श्रद्धा होगी । वे नित्य प्रति सन्ध्या तथा अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मों को करके अन्न ग्रहण करेंगे । परन्तु छद्मवेपी पितर इन नित्य-कर्मों में लापरवाही तथा उदासीनता प्रकट करते हैं । अतः इन दृष्टियों से उन्हें पहिचाना जा सकता है । वे प्रायः करके विचरते रहते हैं, एक जगह में स्थिर हो कर नहीं रहते । क्योंकि उन्हें भय रहता है कि कहीं उन की यह विडालवृत्तिता प्रकट न हो जाय ।

छद्मवेपी ये पितर-लोग नगर से दूर तथा समीप के स्थानों में

पितृवेष में निवास करते हैं, और मौका पा कर लूट-मार करते रहते हैं ।

इन्हें पितृयज्ञ से निकाल देना चाहिये, ताकि ये घर-गृहस्थ का भेद न पा सकें । पितृयज्ञ के आरम्भ में यज्ञाग्नि को प्रदीप्त कर उस में अग्निहोत्र करना चाहिये, अग्निहोत्र के पश्चात् पितरों का सत्कार अन्न तथा वस्त्र आदि द्वारा करना चाहिये । यज्ञाग्नि के प्रदीप्त करने से पहिले ही इन चोर-उचक्कों को घर से बाहिर कर देना चाहिये जो कि छद्मवेष धारण कर के पितर बन कर आए हैं ।

इस वर्णन से प्रतीत होता है कि पितृयज्ञ में सत्कार पाने वाले पितर जीवित व्यक्ति हैं, मृत नहीं । क्योंकि मृत पितर तो मर कर अपने २ कर्मों के अनुसार अपनी २ गति को प्राप्त हो चुके हैं, उन में छद्मवेषधारी पितर कैसे प्रवेश पा सकते हैं ।

पितरों का सत्कार

(१७४) उपहूता नः पितरः सोम्यासो

वर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।

त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि

ब्रुवन्तु ते ऽवन्त्वस्मान् ॥

(अथर्व० १८।३।४५)

(सोम्यासः नः पितरः) वीर्य-शक्ति का सम्पादन करने वाले जो हमारे पितर हैं वे, (वर्हिष्येषु) कुशा आदि से सम्बन्ध रखने वाली (प्रियेषु निधिषु) उन की प्रिय निधियों के निमित्त, (उपहूताः) सत्कारपूर्वक बुलाए गये हैं। (ते) वे पितर (आ गमन्तु) आवें, (ते) वे पितर (इह) इन हमारे घरों में (श्रुवन्तु) हमारे कथनों

को सुनें, (अधि ब्रुवन्तु) और अधिकारपूर्वक हमें उपदेश दें, (ते) वे पितर (अस्मान्) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें।

गृहस्थाश्रम के पश्चात् पितर वानप्रस्थ में जा कर अपनी सोम-शक्ति का फिर सम्पादन करते हैं। इस लिए उन्हें "सोम्यासः" कहते हैं।

पितरों को निमन्त्रण दे कर जब घरों में बुलाया जाय तब उनके सत्कारार्थ उन्हें वे ही वस्तुएँ खान-पान के निमित्त देनी चाहिये जो कि उन्हें प्रिय हों, जिन का कि सेवन वे वनों में रह कर करते रहे हैं। बहिष्कृत का अर्थ है कुशा सम्बन्धी, अर्थात् कुशा से उपलब्धित जो वन है तत्सम्बन्धी। वन में रहते हुए पितर जो २ खान-पान किया करते हैं उन्हीं खान-पानों द्वारा उनका सत्कार गृहस्थी भी "पितृयज्ञों" द्वारा किया करें। क्योंकि इन खान-पानों का उन्हें अभ्यास होता है।

पितर लोग घरों में आवें और गृहस्थों के कष्ट आदि का भी श्रवण किया करें, और फिर उन्हें अधिकार पूर्वक उपदेश दिया करें। इस प्रकार पितर लोग गृहस्थों की रक्षा किया करें। सदुपदेशों के न मिलने से गृहस्थ लोग सत्पथ-गामी नहीं हो सकते।

वनों में पितरों का सत्संग

(१७५) सं गच्छस्व पितृभिः

सं यमेनेष्टापूतैर्न पशमे व्योमन् ।

हित्वावदयं पुनरस्तमेहि

सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥

(अथर्व० १२।३।५८)

हे गृहस्थी ! (इष्टापूतैर्न) इष्ट अर्थात् पितृयज्ञ की विधि

के द्वारा, तथा आपूर्त्त अर्थात् सेवा की अन्य विधियों के द्वारा तू, (परमे व्योमन्) वनों के उत्कृष्ट आकाशों में विचरने वाले (पितृभिः) पितरों के साथ (सं गच्छस्व) सत्संग किया कर, (यमेन) और उनके संयमी अधिपति के साथ (सम्) सत्संग किया कर। (अवद्यम्) और उन पितरों के सत्संग के द्वारा अपने निन्दित कर्मों को (हित्वा) छोड़कर (पुनः) फिर (अस्तम्) घर (एहि) आया कर। (तन्वा सुवर्चाः) इस प्रकार शरीर से तेजस्वी बनकर (स गच्छताम्) अपने गृहवासियों से संग किया कर।

पितृयज्ञ दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो यह कि पितरों को घरों में बुला कर उनका सत्कार करना। दूसरा यह कि पितर यदि किसी कारण से घरों में न आ सकें तो पितरों के स्थानों तथा आश्रमों में जाकर उनका सत्कार करना। इस मन्त्र में इस दूसरे प्रकार के पितृयज्ञ का वर्णन किया गया है।

वनों के उत्कृष्ट और स्वच्छ आकाश में रहने वाले पितरों के पास पहुँच कर उनका सत्संग करना चाहिए, और उन पितरों के मुखिया व्यक्ति का भी सत्संग करना चाहिये, जिसे कि यहां “यम” कहा है। यह मुखिया-व्यक्ति ही नवागत पितरों को दीक्षा देता है और स्वयं वह महा-संयमी होता है। संयमी होने से ही इसे “यम” कहा गया है। वह यम-नियमों का पालने वाला होता है, अतः “यम” है।

वन में जाकर इष्ट अर्थात् पितृयज्ञ की विधि द्वारा पितरों का तथा इनके मुखिया “यम” का सत्कार करना चाहिये।

इसी प्रकार “आपूर्त्त” द्वारा भी इनका सत्कार करना चाहिए। इनके आश्रमों में कुँए खुदवा देना, तालाब बनवा देना, मकान बनवा देना, बगीचे लगवा देना,— ऐसे परोपकारी कामों को आपूर्त्त कहते हैं।

वनों में “पितरों” तथा “यम” का सत्संग कर गृहस्थी को अपने निन्दित कर्मों को त्याग देना चाहिए, और इन निन्दित-कर्मों से पृथक् होकर अपने घर फिर वापिस लौटना चाहिये।

निन्दित-कर्मों के छूट जाने से व्यक्ति शरीर से तेजस्वी बन जाता है, उसकी देह में उत्तम वर्चस् आ जाता है। इन निन्दित-कर्मों को मन्त्र में “अवद्य” कहा है। अवद्य = अ+वद्। अर्थात् ऐसे कर्म जिनके कि विषय में बोलना भी न चाहिये, बातचीत भी न करनी चाहिये। क्योंकि “कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः”, अर्थात् पाप कर्मों के कथन करने से भी मनुष्य का अकल्याण होता है।

पितरों के आश्रमों में जलप्रबन्ध

(१७६) ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये ।

तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥

(अथर्व० १८।३।७२)

(ये) जो (ते) वे (पूर्व) पहिले के पितर (परागताः) गृहस्थ छोड़ कर परे चले गये हुए हैं, (च ये) और जो (अपरे) पीछे के (पितरः) पितर गृहस्थ छोड़ कर परे चले गये हैं, (तेभ्यः) उन सब के लिये (घृतस्य) जल की (कुल्या) नहर (एतु) उनके आश्रम में लाई जाय, (शतधारा) जो नहर कि सैंकड़ों धाराओं में फटे, नाना छोटी २ नहरों में फटे, (व्युन्दती) और पितरों के बगीचों या खेतों को सींचे।

मन्त्र में “पूर्व” और “अपरे” शब्दों द्वारा दो प्रकार के पितरों का वर्णन किया है। जो पहिले गृहस्थ छोड़ कर वानप्रस्थी हो गये हैं उन्हें “पूर्व” अर्थात् “पहिले के पितर” कहा गया है। और जो अभी

१ निघण्टु में घृत का अर्थ है “जल”।

२ वि+उन्द् (बलेदन्, गीला करना, सींचना)।

नए पितर वानप्रस्थी हुए हैं उन्हें “अपरे” अर्थात् “पीछे के पितर” कहा गया है ।

इन पितरों के आश्रमों में जल का प्रबन्ध करता गृहस्थियों का कर्तव्य है । ऐसे कर्तव्यों को “आपूर्त्त” कहा जाता है । बगीचा लगवा देना, मकान बनवा देना, कूआँ खुदवा देना, नहर निकलवा देना,— आदि सत्कर्मों को “आपूर्त्त” कहते हैं ।

पितृयज्ञ में वस्त्रदान

(१७७) एतत् ते देवः सविता वासो ददाति मर्तवे ।

तत् त्वं यमस्य राज्ये वसानस्ताप्यं चर ॥

(अथर्व० १८।४।३१)

(देवः) दिव्य-गुणों वाला, (सविता) तथा उत्पादक-शक्ति वाला या सन्तानों वाला गृहस्थी (ते) हे पितर ! तेरे लिये, (मर्तवे) धारण करने के निमित्त, (एतत् वासः) इस वस्त्र को (ददाति) देता है, (तत्) उस (ताप्यम्) तृप्तिकारक अर्थात् प्रिय वस्त्र को (त्वम्) तू (वसानः) पहनता हुआ, (यमस्य राज्ये) पितरों के नियन्ता संयमी-अधिष्ठाता के राज्य में (चर) विचर ।

मन्त्रसंख्या ६ के अनुसार, सविता का अर्थ है, गृहस्थी । सविता “देव” होने चाहियें, दिव्यगुणी होने चाहियें, दान आदि गुणों से संपन्न होने चाहियें ।

गृहस्थी लोग पितरों को वस्त्र-दान किया करें, और ये पितर इन वस्त्रों को स्वीकार कर, इन्हें पहन कर, अपने आश्रमों में विचरा करें । गृहस्थियों से जो वस्त्र मिलें उन्हें लेकर वे प्रसन्न हों और संतुष्ट रहें ।

पितर यम के राज्य में विचरते हैं । पितर जिस स्थान या

आश्रम में निवास करते हैं उस स्थान या आश्रम के मुखिया को यम कहा है। यह मुखिया संयमी होना चाहिये। संयमी होने से ही उस की संज्ञा “यम” है, अर्थात् यम-नियमों का पालन करने वाला। सब पितरों को इस “यम” की व्यवस्था में रहना चाहिये। पितर इस प्रकार यम के राज्य में रहते तथा विचरते हैं।

यह वर्णन कि पितरों को वस्त्र दिये जाँय, और पितर उन वस्त्रों में संतोष अनुभव करें, तथा उन्हें धारण कर के यम के राज्य में विचरें,—यह सब कुछ जीवित पितरों के सम्बन्ध में उचित प्रतीत होता है, मृत पितरों के सम्बन्ध में नहीं।

पितृयज्ञ प्रतिमास करना

(१७८) परायात पितरः सोम्यासो

गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः।

अधा मासि पुनरा यात नो गृहान्

हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः ॥

(अथर्व० १८।४।६३)

(सोम्यासः) सोमशक्ति की रक्षा करने वाले (पितरः) हे पितरो ! (पूर्याणैः) नगर में जाने-आने वाले (गम्भीरैः) दुर्गम (पथिभिः) मार्गों द्वारा, (परायात) तुम परे चले जाओ, अर्थात् नगर से परे वनों में चले जाओ। (अधा) और (मासि) हर मास में (पुनः) फिर (नः) हमारे (गृहान्) घरों में (आयात) आया करो, (हविः अत्तुम्) हविष्य-अन्न के खाने के लिये। (सुप्रजसः) तुम्हारी कृपा से तुम्हारी प्रजा उत्तम बने, (सुवीराः) और उत्तमवीर बने।

गृहस्थी जब वानप्रस्थ धारण करें तो वे नगरों से परे वनों में जा कर बसें । वे पितृयज्ञों में गृहस्थों के घरों में आकर सेवा-सत्कार पाया करें । सत्कार-तथा-सेवा पाकर वे पितर, नगरों से परे वनों में या आश्रमों में फिर चले जाया करें । वे मोहवश अपने कुल के वासियों में ही देर तक न रहा करें ।

पितरों को चाहिए कि वे अपनी सोमशक्ति की, अच्छे प्रकार से, रक्षा किया करें । सोमशक्ति का अर्थ है वीर्यशक्ति ।

“पूर्याण” का अर्थ है पुरों के मार्ग, अर्थात् नगरों के मार्ग । नगरों के मार्ग दुर्गम नहीं होते, अपितु सुगम होते हैं । इन मार्गों के द्वारा नगरों से निकल कर पितर आगे दुर्गम मार्गों द्वारा अपने २ आश्रमों में चले जाया करें ।

प्रत्येक मास में पितर लोग गृहस्थों के घरों में आया करें । उस समय हविष्य-अन्न द्वारा इन पितरों का सत्कार करना चाहिए । पितृयज्ञ में पितरों को जो अन्न देना होता है उसे यहाँ “हविः” कहा गया है ।

पितर लोग घरों में सत्कार पा कर गृहस्थों को उत्तमोत्तम उपदेश दिया करें, जिस से गृहस्थों की सन्तानें उत्तम हों तथा शूर-वीर हों ।

पितरों के जीवन श्रेष्ठ हों

(१७९) येत्र पितरः पितरो येत्र यूयं स्थ ।

युष्माँस्तेनु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्य ॥

I पूर्याण = पुर् + यान । पुर् में जाने के मार्ग ।

(१८०) य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः ।

अस्माँस्तेनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म ॥

(अथर्व० १८।४।८६, ८७)

(पितरः) हे पितरो ! (ये) जो गृहस्थी (अत्र) इस गृहस्थाश्रम में हैं, (पितरः) और हे पितरो ! (ये) जो (वयम्) तुम लोग (अत्र) इस वानप्रस्थ आदि आश्रमों में (स्थ) हो, (युष्मान् अनु ते) तुम वानप्रस्थी-आदि-पितरों के अनुकूल वे गृहस्थी रहें, (वयम्) तुम वानप्रस्थी-आदि-पितर (तेषाम्) उन गृहस्थों के मुकाबिले में (श्रेष्ठाः भूयास्य) श्रेष्ठ बनो ।

(ये इह) जो इस गृहस्थाश्रम में गृहस्थी हैं, और जो (वयम्) हम (जीवाः पितरः) जीवित पितर (इह) इस वानप्रस्थ आदि आश्रमों में (स्मः) हैं, (अस्मान् अनु ते) हम पितरों के अनुकूल वे गृहस्थी हों, (वयम्) हम पितर (तेषाम्) उन गृहस्थों के मुकाबिले में (श्रेष्ठाः भूयास्म) श्रेष्ठ होंगे ।

इन दो मन्त्रों में यह कहा गया है कि गृहस्थी लोग पितरों के अनुगामी हों, पितरों के उपदेशों के अनुकूल चलने वाले हों, पितरों के प्रतिकूल-गामी न हों ।

गृहस्थी लोग पितरों के प्रति कहते हैं कि आप का जीवन ऐसा हो कि गृहस्थी लोग अपने जीवनो की अपेक्षा आप को श्रेष्ठ समझें और मानें । तभी गृहस्थियों के जीवनो पर पितरों के उपदेशों का प्रभाव हो सकता है । इस पर पितर कहते हैं कि हम अपने जीवनो को श्रेष्ठ बनावेंगे, इस विधि से ही गृहस्थी हमारे अनुकूल रह सकते हैं ।

मन्त्र में पितरों की "जीवाः" कहा गया है, अर्थात् ये पितर जीवित हैं मृत नहीं ।

पितृऋण से उर्द्ध्व होना

(१८१) यदापिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन् ।

एतत्तदग्ने अनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया ।

सम्पृच स्थ सं मा भद्रेण पृङ्क्त विपृच स्थ

वि मा पाप्मना पृङ्क्त ॥ (यजु० १६।११)

(यत्) जो (पुत्रः) मेरा पुत्र, (प्रमुदितः) आनन्दयुक्त हो कर (धयन्) माता का दूध पीता हुआ (मातरम्) अपनी माता को (आपिपेष) तङ्ग करता है, (अग्ने) हे मेरी गार्हपत्य-अग्नि ! (एतत् तत्) इस से मैं (अनृणः) पितृ-ऋण से मुक्त (भवामि) होता हूँ, (मया) मैंने (पितरौ) माता-पिता के नाते को (अहतौ) तोड़ा नहीं । (सम्पृचः) हे पितरो ! तुम भद्रविचारों तथा भद्राचारों से संयुक्त (स्थ) हो, (मा) मुझे (भद्रेण) भद्रविचारों तथा भद्राचारों के (सं पृङ्क्त) साथ संयुक्त करो । (विपृचः) तुम पाप से विमुक्त (स्थ) हो (मा) मुझे (पाप्मना) पाप से (वि पृङ्क्त) विमुक्त करो ।

मनुष्य पर तीन ऋण होते हैं । पितृऋण, देवऋण तथा ऋषिऋण । उत्तम सन्तानों को पैदा कर मनुष्य पितृऋण से मुक्त होता है । यज्ञों के करने से देवऋण से, तथा स्वाध्याय द्वारा ऋषिऋण से मुक्त होता है । मन्त्र में पितृऋण से मुक्त होने की यह विधि दर्शाई है कि गृहस्थी उत्तम सन्तानों को पैदा करे, और माता-पिता रूप वंश-परम्परा को छिन्न-भिन्न न करे ।

साथ ही गृहस्थी अपने बुजुर्गों से प्रार्थना करता है कि वे, इस को, अपने उपदेशों द्वारा भद्रविचारों तथा भद्राचारों से संयुक्त करें, और उसे पाप से विमुक्त करें ।

अतिथियज्ञ

(१८२) एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाशनीयात् ॥

(१८३) अशितावत्यतिथावशनीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय
यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम् ॥

[अथर्व० ६।६ (पर्याय ३) । ७, ८]

(एषः) यह (वै) निश्चय से (अतिथिः) अतिथि है, (यत्) जो कि (श्रोत्रियः) श्रोत्रिय है, वेदों का विद्वान् है । (तस्मात्) उस अतिथि से (पूर्वः) पहिले (न अशनीयात्) गृहस्थी भोजन न करे ॥

(अतिथौ) अतिथि के (अशितावति) खा चुकने पर (अशनीयात्) गृहस्थी भोजन करे, (यज्ञस्य सात्मत्वाय) अतिथियज्ञ की आत्मा बनाए रखने के लिये, (यज्ञस्य अविच्छेदाय) अतिथियज्ञ का विच्छेद न करने के लिये, (तद्) यह (व्रतम्) गृहस्थी के लिये व्रत है ।

अतिथियों को चाहिये कि वे सदा आत्मोन्नति करते रहें, वेदों के स्वाध्याय तथा उनके प्रचार में तत्पर रहें । अतिथियों को श्रोत्रिय होना चाहिये, उन्हें वेदों का विद्वान् होना चाहिये ।

अतिथि के भोजन कर चुकने पर गृहस्थी भोजन करे, पहिले नहीं । गृहस्थी को इस बात का व्रत धारण करना चाहिये कि वह अतिथि को खिलाने के बाद भोजन करेगा, उस से पूर्व नहीं । इसी में अतिथियज्ञ की आत्मा बनी रहती है । अतिथियज्ञ की यह आत्मा अगर अतिथियज्ञ में से निकल जाय तो अतिथियज्ञ मुरदा पड़ जायगा । इस व्रत के ही कारण अतिथियज्ञ का तान्ता छिन्न-भिन्न नहीं होने पाता ।

विद्वान् तथा व्रती अतिथि

[१८४] तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो ऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥

[१८५] स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वावात्सीव्रात्योदकं

व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य

यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथा-
स्त्विति ॥

(अथर्व० १५।११।१,२)

(तत्) जब (एव विद्वान्) इस प्रकार का विद्वान् (व्रात्यः)
व्रती (अतिथिः) अतिथि (यस्य) जिस गृहस्थ के (गृहान्)
घरों में (आगच्छेत्) आवे ॥

(स्वयम्) तब गृहस्थी आप (एनम्) इस अतिथि के
(अभ्युदेत्य) प्रति उठ कर और उस के पास पहुँच कर (ब्रूयात्)
कहे कि (व्रात्य) हे व्रतनिष्ठ ! (क्वावात्सीः) कहां आप
का वास था, (व्रात्य) हे व्रतनिष्ठ ! (उदकम्) जल ग्रहण कीजिये,
(व्रात्य) हे व्रतनिष्ठ ! (तर्पयन्तु) मेरे ये सब पदार्थ आप के तर्पण
के लिए हों, (व्रात्य) हे व्रतनिष्ठ ! (यथा) जिस प्रकार (ते)
आप को (प्रियम्) प्रिय लगे (तथा) वैसा ही (अस्तु) हो,
(व्रात्य) हे व्रतनिष्ठ ! (यथा) जैसी (ते) आप की (वशः)
कामना हो (तथा) वैसा ही (अस्तु) हो, (व्रात्य) हे व्रतनिष्ठ !
(यथा) जिस प्रकार की (ते) आप की (निकामः) अभिलाषा हो
(तथा) वैसा ही (अस्तु) हो, (इति) इस प्रकार से गृहस्थी
अभ्यागत-अतिथि से प्रार्थना तथा पूछ-ताछ करे ।

व्रतनिष्ठ तथा विद्वान् अतिथि यदि घर में आए, तब गृहस्वामी
स्वयं उठ कर, और उसकी ओर जा कर, उस के कुशलक्षेम के सम्बन्ध
में पूछे, और अतिथि की रुचि के अनुसार उसका आतिथ्य-सत्कार करे ।

अविद्वान् तथा अव्रती अतिथि

[१८६] अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो
नाम विभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥

[१८७] कर्षेदेनं न चैनं कर्षेत् ॥

[१८८] अस्यै देवताया उदकं याचामीमां देवतां वासय
इमामिमां देवतां परि वेवेष्मीत्येनं परि वेविष्यात् ॥

[१८९] तस्यामेवास्य तद् देवतायां हुतं भवति य एवं वेद ॥

(अथर्व० १५।१३।११-१४)

(अथ) और (यस्य) जिस गृहस्थी के (गृहान्) घरों में (व्रात्यः) व्रतधारण न करने वाला, (व्रात्यब्रुवः) परन्तु अपने आप को व्रतधारी कहने वाला, (नाम विभ्रती) अर्थात् केवल नामधारी (अतिथिः) अतिथि (आगच्छेत्) आजाय ॥

तो (एनम्) इस प्रकार के अतिथि को (कर्षेत्) क्या गृहस्थी कष्ट पहुँचावे ? । (एनम्) नहीं, इस प्रकार के अतिथि को (न कर्षेत्) गृहस्थी कष्ट न पहुँचावे ॥

(अस्यै देवतायै) इस अतिथि में जो देवतपन है उस के निमित्त (उदकं याचामि) मैं जल चाहता हूँ, (इमां देवताम्) इस देवतपन को, (वासये) मैं घर में निवास-स्थान देता हूँ, (इमां इमां देवताम्) प्रत्येक अतिथिके इस

१ यहाँ सन्धि-छेद “विभ्रती+अतिथि” उत्तम होगा । “विभ्रती” शब्द स्त्रीलिङ्ग में है । इस से सूचित होता है कि सम्भवतः यह नामधारी अतिथि “स्त्री” है । परन्तु साथ ही मन्त्र में अन्य स्थानों में पुल्लिङ्ग पाठ हैं जो कि अतिथि पद के विशेषण हैं ।

दैवतपन के प्रति (परि वेवेष्मि) मैं भोजन परोसता हूँ,—(इति) यह कह कर (परि वेवेष्म्यात्) भृत्यों द्वारा भोजन परसवाए ॥

(यः) जो गृहस्थी (एवं वेद) इस प्रकार अतिथियज्ञ के स्वरूप को जानता है, (अस्य) इस गृहस्थी का (तस्यामेव देवतायाम्) उस दैवतपन में ही (तद्) वह भोजनादि-सत्कार (हुतम्) दिया हुआ (भवति) हो जाता है ।

यदि कोई व्रती न होता हुआ, परन्तु अपने आप को व्रती कहता हुआ, अर्थात् अतिथि-नामधारी अतिथि, घर में आ जाय, तो गृहस्थी उस का तिरस्कार न करे और न उसे कष्ट पहुँचाए । “अतिथिदेवो भव” द्वारा यह समझे कि मैंने अतिथियज्ञ में जो दैवतभाव है, दिव्यभावना है, उस का सत्कार करना है । इस भावना से गृहस्थी समझे कि मेरा दिया सत्कार इस दैवतभाव को ही प्राप्त हो रहा है । इस लिए गृहस्थी ऐसे अतिथि का भी सत्कार किया करे, परन्तु ऐसे अतिथि का सत्कार गृहस्थी स्वयं न करे अपितु अपने भृत्य आदि द्वारा ऐसे का सत्कार करावे ।

अतिथि सेवा का फल

[१६०] एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चत्विजः स्वर्गं लोकं गम-
यन्ति यदातिथयः ॥ [अथर्व० ६।६ (पर्याय २) । ८]

(यद् अतिथयः) जो कि अतिथि हैं (एते) , ये (प्रियाः च) चाहे प्रिय हों, (अप्रियाः च) या चाहे अप्रिय हों, (लोकम्) गृहस्थ-लोक को (स्वर्गं गमयन्ति) स्वर्गधाम बना देते हैं, (ऋत्विजः) जैसे कि ऋत्विक् लोग गृहस्थ को स्वर्गधाम बना देते हैं ।

इस मन्त्र में अतिथि-सेवा का फल दर्शाया है । असली अतिथि

वे होते हैं जो कि श्रोत्रिय हों, वेदों^१ के पढ़े लिखे विद्वान् हों, तथा जिन का जीवन व्रतमय^२ हो। ऐसे अतिथि, घरों में आकर, अपने उपदेशों द्वारा गृहस्थियों के जीवनो को सुधार कर, उन के गृहस्थ को स्वर्गधाम बना देते हैं, जैसे कि ऋत्विक्-और-पुरोहित लोग गृहस्थों को यज्ञ करा कर उन के गृहस्थ को स्वर्गधाम बनाते हैं।

(१६१) सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ॥

(१६२) सर्वो वा एषो ऽ जग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति ॥

[अथर्व० ६।६ (पर्याय २)।८, ६]

(एषः) ये (सर्वः) सब (वै) निश्चय से (जग्धपाप्मा^३) नष्टपाप हो जाते हैं (यस्य) जिन के कि (अन्नम्) अन्न को (अश्नन्ति) अतिथि लोग खा लेते हैं।

(एषः) ये , सर्वः) सब (वै) निश्चय से (अजग्धपाप्मा) अनष्टपाप होते हैं (यस्य) जिन के कि (अन्नम्) अन्न को अतिथि (न) नहीं खाते हैं।

अतिथि लोग जिस श्रद्धावान् गृहस्थी के अन्न को स्वीकार कर लेते हैं वे उस श्रद्धावान् गृहस्थी को उपदेश देकर तथा उसे जीवन का मार्ग दर्शा कर, उस के जीवन को निष्पाप बना कर पुण्यमय बना देते हैं। तथा जिस श्रद्धारहित तथा अतिथि-सेवा के द्वेषी गृहस्थी का, अतिथि लोग, अन्न स्वीकार नहीं करते, उसे सत्सङ्ग के न मिलने से उस का जीवन पापमय बना रहता है।

१ देखो मन्त्र संख्या १८२;।

२ मन्त्र संख्या १८४;।

३ "जग्ध" अर्थात् खा लिया गया है पाप जिस का ऐसा।

अतिथियज्ञ की महिमा

(१६३) प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति ॥

(१६४) प्रजापते र्वा एष विक्रमाननु विक्रमते य उपहरति ॥

[अथर्व० ६।६ (पर्याय २) १११, १२]

(यः) जो गृहस्थी (उपहरति) अतिथियों को अन्न आदि का उपहार देता रहता है (एतस्य) इस गृहस्थी का मानो (वै) निश्चय से (प्राजापत्यः यज्ञः विततः) प्राजापत्य यज्ञ फैला हुआ है।

(यः) जो गृहस्थी (उपहरति) अतिथियों को अन्न आदि का उपहार देता रहता है (एषः) यह गृहस्थी (वै) निश्चय से (प्रजापतेः) प्रजापति के (विक्रमान् अनु) पदचिन्हों के अनुसार (विक्रमते) चलता है।

अतिथि को अन्न देना, उसे उपहार देने, उस की सेवा करना मानो “प्राजापत्ययज्ञ” रचाना है, और प्रजापति का पदानुगामी बनना है।

सब प्रजाओं का पति अर्थात् रक्षक परमात्मा है, इस लिए वह प्रजापति है। वह सब को अन्न आदि सामग्री दे रहा है। संसार में उस परमात्मा ने यह प्राजापत्य-यज्ञ रचाया हुआ है। कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी, तथा सभी प्राणियों को उस ने अपने उपहार दे रखे हैं।

जो गृहस्थी अतिथियज्ञ करता है वह मानो प्राजापत्ययज्ञ को कर रहा होता है और वह प्रजापति-परमात्मा के ही पग-चिन्हों पर चल रहा होता है।

अतिथि के प्रति निर्देश

(१६५) स य एवं विद्वान् न द्विपन्नशनीयान्न द्विपतो

ऽन्नमशनीयान्न मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य ॥

[अथर्व० ६।६ (पर्याय २)।७]

(यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार का (विद्वान्) विद्वान् अतिथि है (सः) वह, (द्विपन्) गृहस्थी के साथ द्वेष करता हुआ उस के भोजन को (न) नहीं (अशनीयात्) खावे, (द्विपतः) और द्वेष करने वाले गृहस्थी का (अन्नम्) अन्न भी (न) नहीं (अशनीयात्) खावे, (मीमांसितस्य) जिस ने यह निश्चय कर लिया है कि अतिथि-सेवा से कोई लाभ नहीं उस गृहस्थी का भी अन्न (न) न खावे, (मीमांसमानस्य) और जो गृहस्थी इस विचार में है कि अतिथि-सेवा करनी चाहिये या नहीं उस का भी अन्न (न) न खावे ।

इस मन्त्र में विद्वान् अतिथि को भोजन के सम्बन्ध में निर्देश दिये हैं । वे ये कि,—

(१) अतिथि स्वयं यदि किसी गृहस्थी के साथ द्वेष रखता है तो वह उस गृहस्थी के घर में अतिथि बन कर न जावे ।

(२) तथा यदि अतिथि को यह ज्ञात है कि अमुक गृहस्थी उसके साथ द्वेष करता है तो उस गृहस्थी का वह अन्न ग्रहण न करे ।

(३) तथा जो गृहस्थी अतिथियज्ञ में श्रद्धावान् न हो उस गृहस्थी का अन्न ग्रहण न करना चाहिये ।

(४) इसी प्रकार जो गृहस्थी अतिथियज्ञ में सन्देह करने लग गया है उस के भी अन्न का ग्रहण न करना चाहिये ।

बलिवैश्वदेवयज्ञ

(१९६) त्वमिन्द्रा पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवत् ।

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते

घासमग्ने ॥ (अथर्व० १६।५।६)

(पुरुहूत) नाना नामों से पुकारी जाने वाली (अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू (इन्द्रा) इन्द्र-की-शक्ति रूप है । (आयुः) आयु वाला अर्थात् जीवित (विश्वम्) प्रत्येक प्राणी (व्यश्नवत्) विविध अन्नों का भोजन तेरी शक्ति के द्वारा करता है । (अहः अहः) प्रतिदिन (ते) हे अग्नि ! तेरे प्रति (बलिम्) बलिवैश्वदेव-यज्ञ के निमित्त बलि का (हरन्तः) उपहार लाते हुए हम हों, (इव) जैसे कि (तिष्ठते) खड़े हुए (अश्वाय) घोड़े के लिये (घासम्) घास को लाते हैं ।

अग्नि के नाना नाम हैं । वेदों के नामपद यौगिक हैं इस लिये वेदों में इन्द्र आदि नाना नाम अग्नि के लिये भी प्रयुक्त होते हैं ।

अग्नि इन्द्र-की-शक्ति रूप है । इन्द्र का अर्थ प्रायः सूर्य और विद्युत् किया जाता है । पार्थिव-अग्नि सूर्य से भी उत्पन्न होती है और विद्युत् से भी । इसी लिये मन्त्र में अग्नि को “इन्द्रा” कहा है । सम्भवतः “इन्द्रा” पद इन्द्र का स्त्रीलिङ्ग का रूप हो । परन्तु भाष्य-कार “इन्द्रा” पद से सम्बुद्ध्यन्त “इन्द्र !” पद समझते हैं ।

बलिवैश्वदेव-यज्ञ में भिन्न २ प्राणियों के नाम पर पक्वान्न के

- 1 “व्यश्नवत्” में “अश्” धातु भोजनार्थक जाननी चाहिये । इसी प्रकार “अश्वाय” पद की निरुक्ति भी भोजनार्थक “अश्” धातु के द्वारा ही करनी चाहिये । जैसे कि निरुक्त में लिखा भी है कि “अश्वः.....महाशनो भवतीति वा” ।

भागों को देने की विधि है । सम्भवतः इस विधि का द्योतन “विश्व-
मायु व्यंश्नवत्” पदों द्वारा किया गया है । पक्वान्न की आहुतियाँ
अग्नि में देने के पश्चात् भिन्न २ प्राणियों के नाम पर पक्वान्न के भाग
देने होते हैं ।

बलिवैश्वदेव-यज्ञ में प्रतिदिन पक्वान्न की आहुतियाँ अग्नि में देनी
होती हैं, इस की सूचना “अहरहः ...” आदि पदों द्वारा दी गई है ।

अश्व को जैसे प्रतिदिन घास दिया जाता है इसी प्रकार गृहस्थ
में अन्य प्राणियों को भी यथासम्भव खान-पान देना चाहिये । जो जिम
के लिये स्वभाव-सिद्ध और उचित खान-पान हो वही उसे देना चाहिये ।
पक्वान्न के भागों के देने की विधि तो गतीक-मात्र है । इस भावना को
दृढ़ करने के लिये है कि गृहस्थी प्रत्येक प्राणी को उस के खाने योग्य
अन्न को देने का स्थाल रखा करे ।

बलिवैश्वदेव-यज्ञ के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द, संस्कारविधि में,
लिखते हैं कि :—

बलिवैश्वदेवयज्ञ में जिन नामों के प्रति आहुतियाँ देनी होती हैं
“यह सब प्रभु के नाम हैं । उसकी आज्ञा पालने के लिए यह आहुतियाँ
दी जाती हैं ।..... मन्त्रों से घृतमिश्रित भात की, यदि भात न बना हो
तो, क्षार और लवणान्न को छोड़ कर जो कुछ पाक में बना हो उस
की,.....आहुति करे । तत्पश्चात् मन्त्रों से बलिदान करे,—
मन्त्रों से एक पत्तल वा थाली में यथोक्त विशाओं में भात धरना ।
यदि भाग धरने के समय कोई अतिथि आ जाय तो उसी को दे देना,
नहीं तो अग्नि में धर देना । तत्पश्चात् घृतसहित लवणान्न ले के
कुत्ता, पतित, चाण्डाल, पापरीगी, काक, और कृमि इन छः नामों से
छः भाग पृथिवी में धरे, और वे छः भाग जिस २ के नाम हैं उस २
को देना चाहिए” ।

सत्पात्रों को दान

(१६७) सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं
परि दन्न एतम् । मा नो द्यूते ऽवगान्मा समित्यां
मा स्मान्यस्मा उत् सृजता पुरा मत् ॥

(अथर्व० १२।३।४६)

(सत्याय) सत्य के प्रचार के लिए, (तपसे) तथा तपोमय जीवन के प्रचार के लिए, (देवताभ्यः) देवतास्वरूप व्यक्तियों के प्रति, (एतम्) ये (निधिम्) निधियां तथा (शेवधिम्) खजाने (परि दन्नः) हम दान रूप में देते हैं । (नः) हमारी ये निधियां तथा खजाने (द्यूते) जुए में (मा अवगात्) न बरबाद हो जाय, (मा समित्याम्) और न युद्धों में बरबाद हो जाय । हे देवता-स्वरूप व्यक्तियों ! (अन्यस्मै) सत्य और तप आदि के प्रयोजनों से भिन्न किन्हीं अन्य प्रयोजनों के निमित्त (मा उत्सृजत) इन खजानों तथा निधियों को न लगाओ, जो निधियाँ और खजाने कि (मत्) मुझ से भी (पुरा) पहिले आप लोगों को दिये गये हैं ।

सत्पात्रों में धन का दान करना चाहिए । ऐसे देवतास्वरूप व्यक्ति ही दान के लिए सत्पात्र हैं, जो कि दान ले कर उसे परोपकार के कार्यों में लगा देते हैं, और केवल अपने स्वार्थ के लिए ही उसे नहीं लगा लेते । दान देना चाहिए ताकि संसार में सत्य का प्रचार हो सके तथा तपोमय जीवन का प्रचार किया जा सके । इन उद्देश्यों के निमित्त निधियों तथा खजानों तक का दान दे देना चाहिए । धन और दान का प्रयोग न तो जुए आदि कर्म में करना चाहिए और न युद्धों में । आज कल के युद्ध तथा महायुद्ध धनपतियों के धन के दुरुपयोग के परिणामरूप हैं । समिति का अर्थ यहां है युद्ध । समिति के दो अर्थ होते

हैं । एक सभा, दूसरा संग्राम । यहां समिति का अर्थ है संग्राम अर्थात् युद्ध । दान देने वाला कहता है कि जो दान मुझ से पहिले अन्य व्यक्तियों ने भी आप महानुभावों को दिए हैं उन का भी दुरुपयोग न होना चाहिए; और न उस दान का ही दुरुपयोग होना चाहिए जिसे कि मैं अब दे रहा हूं ।

(१९८) ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं

पैतृमत्यमृषिमार्षेयं सुधातुदक्षिणम् ।

अस्माद्राता देवत्रा गच्छत् प्र दातारमाविशत् ॥

(यजु० ७।४६)

(ब्राह्मणम्) वेद और ईश्वर के ज्ञाता आस्तिक-ब्राह्मण को (अद्य) आज (विदेयम्) में प्राप्त करूं, (पितृमन्तम्) जिस का कि पिता भी इन गुणों वाला हो, (पैतृमत्यम्) जिस का पितामह अर्थात् दादा भी इन गुणों वाला हो, (ऋषिम्) जो ब्राह्मण कि ऋषिकोटि का हो, (अर्षेयम्) जो कि ऋषिपद्विति का जन्मने वाला तथा ऋषियों में विख्यात हो, (सुधातुदक्षिणम्) जिसे कि उत्तम २ धातुएँ अर्थात् सोना-चांदी-रत्न आदि दक्षिणा में देने चाहियें । (अस्माद्राताः) हे हमारे दानो ! तुम (देवत्रा) ऐसे ही दिव्य-व्यक्ति को (गच्छत्) प्राप्त हुआ करो । (दातारम् प्राविशत्) हे हमारे दानो ! तुम ऐसे दिव्य-व्यक्ति में प्रवेश पाया करो जो कि स्वयं दाता है, अर्थात् दान को लेकर जो उस दान को प्रजा के हित के लिए दे देता है, लगा देता है, और केवल अपने स्वार्थ के लिए ही दान को नहीं लगाता ।

समग्रलोक में पुत्रभावना

(१६६) अहं पचाम्यहं ददामि ममेदु

कर्मन् करुणे ऽधि जाया ।

कौमारो लोको अजानिष्ट पुत्रो ऽ

न्वारभेथां वय उत्तरावत् ॥ (अथर्व० १२।३।४७)

(अहम्) मैं पति (पचामि) पकाता हूँ, मैं पति (ददामि) दान देता हूँ । (मम) मेरे (करुणे कर्मन् अधि) करुणा के कर्म में (जाया इत् उ) मेरी पत्नी भी अवश्य साथ दे । हमारे लिये (लोकोः) समग्र लोक ने (कौमारः पुत्रः) कुमार-पुत्र के रूप में (अज-निष्ट) जन्म लिया है । इस प्रकार (उत्तरावत्) उत्कृष्ट (वयः) जीवन को (अन्वारभेथाम्) तुम दोनों अर्थात् पति-और-पत्नी निरन्तर आरम्भ करो ।

गृहस्थ धारण कर लेने पर पति गृहस्थ के धर्मों में अगुआ बन कर गृहस्थ धर्मों का पालन करे । अतिथि आदि के सत्कार के कार्य में या अनाथों या गरीबों के पालन-रूपी करुणामय-कर्म में यदि पति को स्वयं पका कर भी अन्न देना तथा बाँटना पड़े तो पति को इस कार्य में उद्यत रहना चाहिये ।

यदि पति इन कार्यों में सदा उद्यत रहेगा तो निश्चित है कि उसकी पत्नी भी, सत्कार तथा करुणा के इन कर्मों में, अपने पति का साथ देगी ।

पति और पत्नी को, समग्र-लोक में, पुत्रभावना करनी चाहिए । विवाह हो चुकने पर गृहस्थी समग्र-लोक को अपने पुत्र-पुत्रियों की न्याईं समझें, और समग्र-लोक की सेवा इस प्रकार करें जैसी सेवा कि वे अपने निज पुत्रों की करते हैं । इस प्रकार का सेवामय-जीवन ही “उत्तरावत् वयः” है, उत्कृष्ट जीवन है ।

गृहस्थ स्वर्गलोक है

(२००) ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य।
छन्दांसि पक्षौ मुखमस्य सत्यं विष्टारी जात-
रतपसो ऽधि यज्ञः ॥ (अथर्व० ४।३४।१)

(अस्य ओदनस्य) चावल भात आदि पदार्थ जहाँ होते हैं ऐसे इस गृहस्थाश्रम का, (शीर्षम्) सिर (ब्रह्मा) ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्व-वेद है, (अस्य पृष्ठम्) इस गृहस्थाश्रम की पीठ (बृहत्) सामवेद का बड़ा गीत “बृहत्” नाम वाला है, (उदरम्) और इस का पेट (वामदेव्यम्) “वामदेव्य” नाम का मुख्य गीत है, (पक्षौ) इस गृहस्थाश्रम के दो ओर के पार्श्व अर्थात् कन्वे (छन्दांसि) ऋग्वेद और यजुर्वेद के छन्द हैं, (अस्य मुखम्) इस गृहस्थाश्रम का मुँह (सत्यम्) सत्यभाषण है। (विष्टारी) और विस्तार करने वाला (यज्ञः) यह गृहस्थ-यज्ञ (तपसः) तपोमय-जीवन (अधि) से (जातः) प्रकट हुआ है।

गृहस्थाश्रम को “ओदन” कहा है। इसलिये चूँकि ओदन, दूध, दही, आदि भोग्य पदार्थों का स्थान गृहस्थाश्रम ही है। शेष आश्रम गृहस्थाश्रम के ही आश्रय से भोग्य पदार्थों को प्राप्त करते हैं।

गृहस्थाश्रम को “विष्टारी यज्ञ” भी कहा है। गृहस्थाश्रम से ही प्राणिजगत् का विस्तार होता है। पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग भी गृहस्थ-चर्या द्वारा ही अपने २ वंशों का विस्तार कर रहे हैं। ओदन पद द्वारा यह दर्शाया है कि गृहस्थाश्रम में ही भोग्य पदार्थ मिलते हैं। लोग इसे भोग्यस्थली न समझ लें, इसलिये इस आश्रम को “यज्ञ” भी कहा है। गृहस्थाश्रम में यज्ञिय भावनाओं से प्रवेश करना चाहिए,

अयज्ञिय-भावनाओं से नहीं। भोग-भावना अयज्ञिय-भावना है।

गृहस्थाश्रम का वर्णन पुरुषाकृति के रूप में किया गया है। कवि लोग प्रायः ऐसे वर्णन करते हैं। भारत-माता, गङ्गा-मईया आदि वर्णन भी “पुरुषाकृति” रूप हैं। गृहस्थाश्रम-रूपी “पुरुष” का सिर, पीठ, उदर और पार्श्व— चार वेद हैं। अभिप्राय यह कि विना वैदिक भावनाओं के, विना वैदिक आचार-विचारों के, गृहस्थाश्रम का स्वरूप नहीं बन सकता।

साथ ही यह भी दर्शाया है कि गृहस्थाश्रम-रूपी-पुरुष का मुख है सत्य। अभिप्राय यह कि गृहस्थाश्रम के निवासियों के मुखों से सदा सत्यवाणी ही निकलनी चाहिये।

अन्त में यह भाव प्रकट किया गया है कि गृहस्थ-यज्ञ की उत्पत्ति या जन्म “तप” से होता है, तपोमय जीवन से होता है। विना ब्रह्मचर्याश्रम में तपोमय-जीवन व्यतीत किये, व्यक्ति, गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अधिकारी नहीं बनता।

(२०१) अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः

शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम्।

नैषां शिरनं प्र दहति जातवेदाः

स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥

(अथर्व० ४।३४।२)

(अनस्थाः) ब्रह्मचर्य के कारण जिनके शरीरों में हड्डियाँ नजर नहीं आतीं, (पूताः) शरीर से जो पवित्र रहते हैं, (पवनेन शुद्धाः) प्राणायाम की पवन अर्थात् वायु द्वारा जो शुद्ध हुए हैं, (शुचयः) आत्मा से जो पवित्र हैं; इस प्रकार के लोग (शुचिम्

लोकम्) पवित्र गृहस्थ-लोक को (अपि यन्ति) प्राप्त होते हैं । (जातवेदाः) ब्रह्मचर्याश्रम में प्राप्त की हुई वेदविद्या की अग्नि (एषाम्) ऐसे पवित्रात्माओं की (शिश्नम्) कामेन्द्रिय को (न) नहीं (प्रदहति) प्रदग्ध करती, जलाती, (स्वर्गं लोके) मुख देने वाले गृहस्थ-लोक में (एषाम्) इनकी (बहु स्त्रैराम्) बहुत स्त्रियां होती हैं ।

मन्त्र में “स्वर्ग लोक” शब्द के द्वारा गृहस्थ-लोक का वर्णन हुआ है । “स्वः गच्छन्ति अत्र इति स्वर्गः” । अर्थात् सुखी जीवन को जिस आश्रम में प्राप्त करते हैं उसे स्वर्गलोक कहते हैं । वैदिक आश्रम व्यवस्था में गृहस्थ से अतिरिक्त तीनों आश्रमों में तपोमय जीवन का विधान है । केवल गृहस्थाश्रम में ही तप से मिश्रित सुखी जीवन व्यतीत करने की विधि है । इसलिए वैदिक परिभाषा में गृहस्थाश्रम को स्वर्गलोक कहा गया है ।

गृहस्थ-लोक में उन्हीं लोगों को प्रवेश करना चाहिए जो कि ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचर्य के कारण हृष्ट-पुष्ट हो चुके हैं । जो अस्थि-पञ्जर हैं, जिनके शरीर पर पुष्ट मांस नहीं है, शरीर को देखते जिनकी हड्डियां नज़र आती हैं— ऐसे कमजोर व्यक्तियों के लिये गृहस्थ-लोक में प्रवेश की विधि नहीं है । इस भाव को मन्त्र में “अनस्थाः” शब्द द्वारा दर्शाया गया है ।

गृहस्थलोक में प्रवेश करने वाले व्यक्ति ऐसे होने चाहिए जो कि सदा स्नान करने वाले हों, जो कि नित्य-स्नान द्वारा अपने शरीरों को पूत बनाते रहें, पवित्र बनाते रहें । तथा शुद्ध पवन में रहने वाले हों, और प्राणायाम की पवन द्वारा अपने शरीरों के आभ्यन्तर मलों को तथा मानसिक मलों को दूर कर अपने आप को शुद्ध करते रहें । और साथ ही अपनी आत्माओं को भी शुचि बनाते रहें, सात्त्विक-

भावनाओं द्वारा आत्मा के मल को भी दूर करते रहें। ऐसे व्यक्ति ही पवित्र गृहस्थ-लोक में प्रवेश पाने के अधिकारी होते हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर जिन लोगों ने वेदविद्या-की-अग्नि से अपनी कामवासनाओं के मल को भस्म कर दिया है, तथा उस अग्नि की सत्ता से जिन की कामवासनाओं के मल गृहस्थ में भी भस्मीभूत होते रहते हैं, गृहस्थ में भी आ कर जिन लोगों की जननेन्द्रिय कामाग्नि की तीव्रता से प्रदग्ध नहीं होती,—ऐसे व्यक्ति गृहस्थ में प्रवेश कर के अपनी जननेन्द्रिय का सदुपयोग करते हैं, दुरुपयोग नहीं। वर्तमान समय के भोगमय संसार में, भोगियों की जननेन्द्रियां, अति विषयवासना के कारण रुग्ण हो जाती हैं, प्रदग्ध हो जाती हैं।

गृहस्थ-रूपी-स्वर्गलोक में स्त्रियाँ बहुत होती हैं। यहां स्त्रियों से अभिप्राय एक पुरुष की नाना पत्नियों का नहीं। गृहस्थलोक में माता है, चाची है, ताई है, बहिनें हैं, पुत्रियां हैं, पुत्र-वधुएँ हैं, भावियाँ हैं,—इस प्रकार नाना स्त्रियाँ हैं। इन के होते हुए भी संयमी व्यक्ति की जननेन्द्रिय कामाग्नि से दग्ध नहीं होती। वेदों का यह स्वर्गलोक कितना पवित्र और सुन्दर है।

(२०२) विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति

नैनानवर्तिः सचते कदाचन।

आस्ते यम उप याति देवान्

सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥ (अथर्व० ४।३४।३)

(विष्टारिणम् ओदनम्) गृहस्थाश्रम-रूपी विस्तारी-ओदन का (ये) जो लोग (पचन्ति) परिपाक करते हैं, (एनान्) ऐसे लोगों की (अर्वात्तः) वृत्ति से शून्यता (कदाचन) कभी भी (न सचते) नहीं प्राप्त होती। विस्तारी-ओदन का परिपाक करने वाला व्यक्ति (यमे

आस्ते) यम-नियमों में स्थित रहता है, (देवान् उप याति) वह दिव्य गुणों को प्राप्त करता रहता है, (सोम्येभिः) और सोम-यक्ति के उपासक तथा (गन्धर्वेभिः) वेदविद्या के धारण करने वाले सज्जनों के (सम्) साथ (मदते) आनन्द भोगता है ।

मन्त्र ४।३।४।१ में गृहस्थ को “विष्टारी-यज्ञ” कहा है । इस मन्त्र में गृहस्थ को “विष्टारी-ओदन” कहा है । इस से ज्ञात होता है कि विष्टारी-यज्ञ और विष्टारी-ओदन का एक ही अभिप्राय है । इस लिए मन्त्र ४।३।४।१ में पठित “ओदनस्य” शब्द भी गृहस्थ का वाचक है,—इसमें आशङ्का नहीं रह सकती ।

ओदन पकाया जाता है । इस लिए गृहस्थाश्रम के भी परिपाक का वर्णन यहां किया गया है । तपश्चर्या तथा वेदविद्या की अग्नि द्वारा गृहस्थाश्रम को परिपक्वावस्था में लाना चाहिए ।

जिन के घर में ओदन हो उन्हें वृत्ति की चिन्ता नहीं होती, उन्हें अवृत्ति का कष्ट नहीं उठाना पड़ता । इसी प्रकार जो व्यक्ति परिपक्वावस्था के गृहस्थाश्रम से जीवन-यात्रा करते हैं उन्हें कष्ट नहीं उठाने पड़ते, उन्हें चिन्ता नहीं रहती कि उन की वृत्ति का क्या प्रबन्ध होगा ।

ऐसा सदगृहस्थी सदा यम-नियमों का पालन करता है, दिव्य-गुणों को प्राप्त करता रहता है, और ब्रह्मचर्य के उपासकों तथा वैदिक-विद्वानों के सत्सङ्ग से सदा आनन्द में रहता है ।

(२०३) विष्टारिणोदनां ये पचन्ति

नैनान् यमः परिमुष्णाति रेतः

रथी ह भूत्वा रथयान ईयते

पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥ (अथर्व० ४।३।४।४)

(विष्टा.....रेतः) विस्तारी-ओदन का जो परिपाक करते हैं उन के रेतस् अर्थात् वीर्य को यम-नियमों का अभ्यास चुरा नहीं लेता । ऐसा गृहस्थी (रथी) रथ-स्वामी (भूत्वा) हो कर (रथयाने) रथ की सवारी में (ईयते) भ्रमण करता है, (पक्षी ह भूत्वा) और हवाई-जहाज में चढ़ कर मानों पक्षी बन कर (दिवः) द्युलोक की ओर (अति समेति) बहुत दूर तक उड़ कर वहीं समा सा जाता है ।

गृहस्थ-यज्ञ रचने वाला गृहस्थी यम-नियमों का पालन करता हुआ भी सन्तानोत्पादन करता है । पाँच धर्मों में ब्रह्मचर्य भी यम है जो कि गृहस्थ-क्रिया का प्रतिबन्धक है । पूर्ण ब्रह्मचारियों का रेतस् प्रकट नहीं होता, वे ऊर्ध्वरेता हो जाते हैं, उनका रेतस् मानों किसी ने चुरा सा लिया हो । परन्तु मनु-महाराज के अनुसार ऋतुगामी गृहस्थ भी ब्रह्मचारी ही होते हैं । विना यम-नियमों के अभ्यास के व्यक्ति ऋतुगामी नहीं हो सकता । यह अभिप्राय “नैनान् यमः.....” आदि का है ।

ऐसा यमाभ्यासी व्यक्ति चाहे रथों में भ्रमण करे, या हवाई जहाजों में सवार हो कर द्युलोक की ओर उड़ान लेकर इतनी दूरी तक आकाश की ओर उड़ने का आनन्द उठाय कि वह आकाश में बहुत ऊँचे उड़ कर उस में समा सा जाय, अदृश्य सा हो जाय,—तब भी उस की इन्द्रियां या मन भोग-पथ की ओर विचलित नहीं हो सकते । यह महिमा है गृहस्थ में यम-नियमों के पालन करने की ।

(२०४) एष यज्ञानां विततो बहिष्ठो

विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश ।

आण्डीकं कुमुदं सं तनोति

विसं शालूकं शफको मुलाली ।

एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः

स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमानाः ।

उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥

(अथर्व० ४।३।५)

(यज्ञानाम्) नाना प्रकार के यज्ञों में से (एषः) यह विस्तारी-यज्ञ अर्थात् गृहस्थ-यज्ञ (विततः) बहुत फैला हुआ है, (बहिष्ठः) यह बाहिर का यज्ञ है, मानसिक यज्ञ की न्याई आभ्यन्तर-यज्ञ नहीं है । (विष्टा-रिणाम् पक्त्वा) इस विस्तारी-यज्ञ का परिपाक करके व्यक्ति (दिवम् आविवेश) मुक्त हो कर ब्रूलोक में प्रवेश पा जाता है । विस्तारी-यज्ञ को रचाने वाला सद्गृहस्थी (आण्डीकम्^१) अण्डे की आकृति वाले फूलों को, (कुमुदम्^२) कम्मी के फूलों को, (विसम्^३) कमल की जड़ को तथा कमल-फूलों को, (शालुकम्^४) शोभाशाली अन्य फूलों को (सं तनोति) सम्यक् प्रकार से तथा विस्तृत रूप में लगाता है, (शफकः^५) वह शफा-कृति अर्थात् खुर की आकृति वाले फूलों की खेती करता है, (मुलाली^६) मूली आदि मूलों-और-कन्दों को लगाता है । इन वस्तुओं की धाराएँ अर्थात् नदियाँ (मधुमत् पिन्वमानाः) मधुर पदार्थों से भरपूर हो कर (त्वा उपयन्तु) हे सद्गृहस्थी ! तुम्हें प्राप्त हों, (समन्ताः^७) तथा तेरे घर

- १ आण्डीक = अण्डे की आकृति वाले फूल ।
- २ कुमुद = कु पृथिवी) + मुद । पृथिवी पर मोद-प्रमोद बढ़ाने वाले कम्मियों के फूल ।
- ३ विस = कमल की जड़ । जिसे कि “भैं” या कमल-गट्टे भी कहते हैं ।
- ४ शालुक = विशाल तथा शोभाशाली फूल ।
- ५ शफक = शफ की आकृति वाले फूलों का करने वाला ।
- ६ मुलाली = मूलों वाला, जड़ों वाला ।
- ७ समन्ताः = अन्त के भागों में संगत, सम्बद्ध ।

के प्रान्त-भागों में स्थित (पुष्करिणीः^१) कमलों-वाले-जलाशय (त्वा उप-तिष्ठन्तु) तुम्हें उपस्थित हों, प्राप्त हों ।

वैदिक गृहस्थ का दृश्य इतना सुन्दर तथा रम्य होना चाहिये कि उस में धर्मभावना के साथ २ तरह २ के फल-फूल हों, और वे बहु-मात्रा में हों ।

(२०५) घृतहृदा मधुकूलाः सुरोदकाः

क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना ।

एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः

स्वर्गलोके मधुमत् पिन्वमानाः

उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥

(अथर्व० ४।३।४।६)

(घृतहृदाः^२) घी के तालाबों वाली, (मधुकूलाः^३) मधु अर्थात् शहद आदि मधुर पदार्थ जिन के किनारों पर बिखरे पड़े हों, (सुरोदकाः^४) शुद्ध तथा साफ-सुथरे उदकों वाली, (क्षीरेण पूर्णाः) दूध से भरी हुई, (उदकेन दध्ना) फलों के रसों तथा दही से भरी हुई,—(एताः त्वा धाराः.....) ये सब धाराएँ अर्थात् नदियाँ तुम्हें उपस्थित हों..... ।

अभिप्राय यह कि गृहस्थ में घी, मधु, शुद्ध जल, दूध, फल-रस, दही आदि की प्रभूतमात्रा होनी चाहिए । तभी गृहस्थ-जीवन स्वर्ग का रूप धारण कर सकता है ।

१ पुष्करिणीः = पुष्कर वाले जलाशय । पुष्कर = कमल ।

२ हृद = तालाब । ३ कूला = किनारे । ४ सुरा = जल ।

(निघण्टु) । यहां सुरा का अर्थ है शुद्ध जल या अरिष्ट आदि ।

(२०६) चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि
 क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना ।
 एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः
 स्वर्गेलोके मधुमत् पिन्वमानाः ।
 उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥

(अथर्व० ४।३।१७)

(चतुर्धा) चार प्रकार के (चतुरः) चार (कुम्भान्) घड़ों को (ददामि) हे सदगृहस्थी! मैं तुम्हें देता हूँ, रखने की आज्ञा देता हूँ; (क्षीरेण) जो कि दूध से (पूर्णा) भरे हुए हों, (उदकेन) जल तथा रसों से भरे हुए हों, (दध्ना) दही से भरे हुए हों। (एताः त्वा धाराः....) इन वस्तुओं की धाराएं अर्थात् नदियाँ तुम्हें उपस्थित हों.....। यहाँ “कुम्भों” को “धाराः” कहा है।

(२०७) इमोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं
 स्वर्गम् । स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो
 विश्वरूपा धेनुः कामदुधा मे अस्तु ॥

(अथर्व० ४।३।१८)

(इमम्) इस (ओदनम्) गृहस्थ-रूपी-ओदन को (ब्राह्मणेषु) ब्राह्मण के गुण-कर्मों वाले व्यक्तियों में (नि दधे) मैं स्थापित करता हूँ, (विष्टारिणम्) जो गृहस्थ-रूपी-ओदन कि विस्तारी-यज्ञ-रूप है, (लोकजितम्) जिस द्वारा कि संसार पर विजय पाई जा सकती है, (स्वर्गम्) तथा जिसे कि स्वर्ग कहते हैं। (मे) मेरा (सः) वह स्वर्ग (मा क्षेष्ट) क्षीण न हो। (स्वधया पिन्वमानः) पितरों के सत्कार के योग्य अन्नों द्वारा यह स्वर्ग भरपूर रहे। (विश्वरूपा)

विश्व अर्थात् संसार है रूप जिस का, स्वरूप जिस का, ऐसी (धेनुः) गौ (मे) मेरी (कामदुधा अस्तु) कामनाओं को पूरा करने वाली हो । अभिप्राय यह कि गृहस्थ को विस्तारी-यज्ञ तथा स्वर्ग का रूप वे व्यक्ति ही दे सकते हैं जो कि ब्राह्मणों के गुण-कर्मों वाले हों । अर्थात् जो कि ब्रह्मवेत्ता हों, आस्तिक हों, त्यागी, तपस्वी, निःस्वार्थी तथा परोपकारी हों ।

ऐसे गृहस्थ द्वारा लोकविजय हो सकती है । ऐसा गृहस्थ स्वर्ग-धाम है । मुक्त द्वारा ऐसा स्वर्ग क्षीणावस्था को प्राप्त न हो । इस स्वर्ग में पितरों का, बुजुर्गों का, सत्कार मैं सदा करता रहूँ, उनके योग्य अन्नों का संग्रह कर उन द्वारा मैं उन का पूजन करता रहूँ । इस प्रकार संसार-रूपी-गौ मेरे रास्ते में बाधक न हो, अपितु मेरी कामनाओं को पूरा करने वाली हो ।

(२०८) यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति

विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।

अश्लोणा अङ्गैरहुताः स्वर्गे

तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥

(अथवे० ६।१२०, ३)

(सुहार्दः) उत्तम हृदयों वाले अर्थात् प्रेम, भक्ति, श्रद्धा, सेवा, परोपकार आदि की भावनाओं वाले, (सुकृतः) तथा उत्तम कामों के करने वाले लोग, (स्वायाः) अपने २ (तन्वः) शरीर के (रोगम्) रोगों को (विहाय) छोड़कर, (यत्रस्वर्गे) जिस स्वर्गलोक में अर्थात् गृहस्थलोक में जाते हैं, (मदन्ति) तथा वहाँ जाकर आनन्द प्रसन्न रहते हैं, (अङ्गैः) तथा अङ्गों की दृष्टि से (अश्लोणाः) जो लूले-लंगड़े तथा काने-बहरे आदि नहीं हैं, (अहुताः) तथा जीवन में

जो कुटिल नहीं हैं— ऐसे लोग जिस स्वर्गलोक में जाते हैं, (तत्र) उस स्वर्गलोक में जाकर हम (पितरौ) माता-पिता को (च) और (पुत्रान्) पुत्रों को (पश्येम) देखें।

मन्त्र में वैदिक स्वर्गलोक का वर्णन है। मन्त्र के वर्णन द्वारा ज्ञात हो रहा है कि गृहस्थ-आश्रम ही वैदिक-स्वर्गलोक है। इस गृहस्थाश्रम में वे ही प्रवेश पाने के अधिकारी हैं जो कि उत्तम हृदयों वाले तथा उत्तम कर्मों वाले हैं, जिनके कि शरीरों में कोई रोग विद्यमान नहीं है, जो शरीर के अङ्गों की दृष्टि से ठीक हैं, अर्थात् जिनके अङ्गों में कोई न्यूनता या विषमता नहीं है, तथा जो जीवन में कुटिल गतियों वाले नहीं हैं। इस स्वर्गलोक में माता-पिता आदि बुजुर्गों तथा सन्तानों के भी दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त है। अतः निश्चय से हम कह सकते हैं कि मन्त्र में गृहस्थाश्रम को ही स्वर्ग कहा गया है।

शालानिर्माण

(२०६) उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत ।

शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥

(अथर्व० ६।३।१)

(उपमिताम्) जिस को उपमा के रूप में पेश किया जा सके, (प्रतिमिताम्) जिस के आपने-सामने में खिड़कियां तथा द्वार हों, (उत) और (परिमिताम्) जिसे कि चारों ओर से नाप-माप कर बनाया गया हो, ऐसी शाला को (वि चृतामसि^१) हम दृढ़-वद्ध करते हैं, तथा (विश्ववारायाः) सब ओर जिस के द्वार हैं या जो सब ओर से घिरी हुई है (शालायाः) ऐसी विशाल शाला के (नद्धानि) बन्धे बन्धनों को (वि चृतामसि) हम अधिक दृढ़ करते हैं।

१ चृती = हिंसा और ग्रन्थन ।

मन्त्र में शाला का वर्णन है । विशाल भवन को शाला कहते हैं । यह ऐसी बनानी चाहिये जो कि श्रेष्ठता, सुन्दरता तथा आराम देने में एक उपमा-रूप में कही जा सके । शाला में दरवाजे तथा खिड़कियां इस प्रकार से रखनी चाहियें ताकि वे आमने-सामने पड़ें । इस से शाला में वायु का संचार उत्तम विधि से हो सकता है । शाला कितनी लम्बी और कितनी चौड़ी तथा कितनी ऊँची हो, इस के कमरों का परिमाण क्या २ हो, इस सब का ध्यान रख कर शाला का निर्माण करना चाहिये । शाला के इस गुण को मन्त्र में “परिमिता” शब्द द्वारा दर्शाया गया है ।

शाला के चारों ओर एक घेरा होना चाहिये । इसे मन्त्र में “विश्ववारा” शब्द द्वारा सूचित किया गया है । अर्थात् इस के चारों ओर आवरण चाहिये ।

(२१०) ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम् ।

इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सौम्यं सदः ॥

(अथर्व० ६।३।१६)

(अमृतौ इन्द्राग्नी) अमृत इन्द्र-तथा-अग्नि, (ब्रह्मणा) वेद की विधि द्वारा (निमिताम्) बनाई गई (शालाम्) शाला की, तथा (कविभिः) विद्वान् कारीगरों द्वारा (निमिताम्) बनाई गई और (मिताम्) नापी गई (शालाम्) शाला की, (रक्षताम्) रक्षा करें; (सौम्यं सदः) इस प्रकार यह शाला सौम्य परिस्थितियों का स्थान बने ।

शाला में इन्द्र तथा अग्नि रहनी चाहियें । शाला में अग्नि रहे इस का अभिप्राय यह है कि शाला में गार्हपत्य-अग्नि का निवास हो । यह अग्नि शाला की रक्षा करने वाली है । सायं तथा प्रातः इसे प्रज्वलित कर के इस में आहुति देने से शाला का वायुमण्डल शुद्ध

हो जाता है। इस प्रकार “अग्नि” शाला की रक्षा करती है। इन्द्र का अर्थ सूर्य भी होता है और विजली भी। शाला में सूर्य का प्रकाश भी आना चाहिये। इस प्रकार इन्द्र भी शाला की रक्षा करता है। तथा शाला में विजली की रोशनी भी होनी चाहिये। शाला को इस प्रकार अग्नि-और-इन्द्र द्वारा नीरोग रख कर उसे सौम्य परिस्थितियों का स्थान बनाना चाहिये। रोगों के आक्रमणों के होते रहने पर शाला सौम्य परिस्थितियों का स्थान नहीं बन सकती। इन्द्र-और-अग्नि अमृत हैं। इन शक्तियों के सेवन करने से शाला के निवासी शीघ्र-मृत्यु से बच सकते हैं। **शालानिर्माण (नं० १)**

(२११) हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः ।

सदो देवानामसि देवि शाले ॥ (अथर्व० २।३।७)

(देवि शाले) हे दिव्यशाला ! (हविर्धानम्) तुझ में अन्न आदि वस्तुओं के रखने का कमरा हो, (अग्निशालम्) गार्हपत्य-अग्नि का और पाकशाला का कमरा हो, (पत्नीनां सदनम्) पत्नियों के बैठने का कमरा हो, (सदः) एक सामान्य बैठक भी हो, तथा (देवानां) देवों का (सदः) कमरा हो, —(असि) ऐसी तू हो।

शाला में कम से कम एक कमरा ऐसा होना चाहिए जिस में कि “हविः” अर्थात् खाने की वस्तुओं को रखा जा सके। दूसरा कमरा गार्हपत्य-अग्नि के लिए होना चाहिए जो कि यज्ञशाला का काम दे। तीसरा कमरा पाकशाला या रसोई के रूप में होना चाहिए।

चौथा कमरा ऐसा भी होना चाहिए जिसमें कि घर की स्त्रियां स्वतन्त्र रूप में बैठ-उठ सकें। यह कमरा केवल स्त्रियों के लिए अलग होना चाहिए। पाँचवां कमरा बैठक के रूप में भी होना चाहिए। तथा छठा कमरा ऐसा भी होना चाहिए जिसमें कि अतिथिदेव तथा आचार्य-देव आदि आ कर रह सकें।

मन्त्र में “पत्नीनाम्” शब्द बहुवचन में है। घर में नाना भाईयों के होने पर पत्नियों का भी बहुत होना उचित ही है।

शालानिर्माण नं० २

(२१२) कुलायेऽधि कुलायं कोशे कोशः समुब्जितः ।

तत्र मर्तो विजायते यस्माद् विश्वं प्रजायते ॥

(अथर्व० ६।३।२०)

शाला ऐसी भी हो सकती है जिस में कि (कुलाये' अधि) घर के ऊपर (कुलायम्) घर बनाया गया हो, (कोशे) और कमरे के ऊपर (कोशः) कमरा (समुब्जितः) उभारा गया हो। (तत्र) उस शाला में (मर्तः) मनुष्य (विजायते) विविध गुणों से युक्त हो कर जन्म ग्रहण करे, (यस्मात्) जिस मनुष्य से कि (विश्वम्) यह विश्व (प्रजायते) उत्तम जन्म लेवे।

इस मन्त्र में ऐसी शाला का वर्णन हुआ है जो कि दो या दो से अधिक छतों वाली हो, नाना मंजिलों वाली हो, जिस में कि कमरों के ऊपर कमरे बनाए गये हों। ऐसी शालाओं के छत घास-फूस के नहीं हो सकते। ऐसी शालाओं की नीवें, दिवारें तथा छतें बड़ी मजबूत होनी चाहियें, जिस पर कि कई मंजिलें खड़ी की जा सकें। शालाओं में सन्तानें पैदा हों जो कि विविध गुणों वाली हों। सन्तानों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिये जिस से कि ये संसार के चक्र को बदल दें, संसार को एक नया रूप दे दें, नया जन्म दे दें। मनुष्यसमाज के इतिहास में ऐसे कई महापुरुष उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने कि विश्व को

- 1 कुलाय=“कुल” अर्थात् परिवार, “आ+अय” जिस में आ जाय, समा जाय,—ऐसा घर।
- 2 समुब्जित=सम् (सम्बन्ध प्रकार से)+उब्जित (उभारा गया, ऊपर बनाया गया)।

एक नया तथा उत्तम जन्म दिया है, मानो कि उन से एक नया विश्व पैदा हो गया है और एक उत्तम विश्व पैदा हो गया है ।

शालानिर्माण नं० ३

(२१३) या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते ।

अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीम-
ग्निर्गर्भइवाशये ॥ (अथर्व० ६।३।२१)

(या) जो शाला ऐसी भी है जिस के कि बीच में एक बड़ा कमरा हो (द्विपक्षा) और उस के पक्षों में दो और कमरे हों; (चतुष्पक्षा) या जिस के कि पक्षों में चार और कमरे हों; (षट्पक्षा) या जिस के कि पक्षों में छः और कमरे हों;—ऐसी भिन्न २ प्रकार की शालाएँ (निमीयते) बनाई जावें । (अष्टापक्षाम्) या जिस के कि पक्षों में आठ और कमरे हों; (दशपक्षाम्) या जिस के कि पक्षों में दस और कमरे हों; (मानस्य शालाम्) ठीक रूप से नापी-मापी गई ऐसी शाला में (आशये) मैं शयन करता हूँ, (अग्निः इव) जैसे कि अग्नि अग्नि-शाला में शयन करती है, या (पत्नीं गर्भ इव) जैसे कि गर्भस्थ बालक पत्नी के पेट में शयन करता है ।

इस मन्त्र में उदाहरण रूप में ३, ५, ७, ९ तथा ११ कमरों वाली शालाओं का वर्णन किया गया है, जिन का कि निर्माण अपनी अपनी आवश्यकताओं के अनुसार करना चाहिये ।

शालानिर्माण नं० ४

(२१४) वृक्षैरावृता पलदान् वसाना
रात्रीव शाले जगतो निवेशनी ।

मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्मती ॥

(अथर्व० ६।३, १७)

(शाले) हे शाला ! (वृणः) वृणों से (आवृता) तू ढकी हुई, (पलदान् वसाना) तथा फूस आदि से छती हुई, (रात्रौव) रात्रि की न्याईं (जगतो निवेशनी) जगत् को आश्रय देने वाली है । तू (पद्मती हस्तिनीव) चार पैरों वाली हथिनी की न्याईं (पृथिव्याम्) पृथिवी में (तिष्ठसि) खड़ी है, (मिता) जो तू कि सब प्रकार से नाप माप कर बनाई गई है ।

शाला की छत फूस आदि की भी हो सकती है । ऐसी शाला गरमियों में ठण्डी रहती है और सरदियों में अधिक सरद नहीं होने पाती । शाला में जगत्-मात्र आराम पा सके, यह इच्छा प्रत्येक शाला के स्वामी की होनी चाहिए । जो कोई भी अतिथि आदि आराम पाने के लिए घर पर आ जाय उसे शाला में अवश्य आश्रय देना चाहिए । इसमें दृष्टान्त दिया है रात्रि का । रात्रि के होते रात्रि में सब जगत् विश्राम पाता है । दिन में जागने वाले सब प्राणी रात्रि के समय रात्रि-माता की गोद का आश्रय ले लेते हैं । रात्रि की न्याईं ही गृहस्थी की शाला को भी होना चाहिये । शाला में आश्रय चाहने वाले किसी को भी आश्रय देने से इन्कार न होना चाहिये ।

यह शाला इस प्रकार की है जिसे कि चार स्तम्भों पर खड़ा किया गया है । पहले नीचे चार स्तम्भ खड़े कर दिये जाँय, फिर उन स्तम्भों के ऊपर के चार सिरों पर आड़ी और तिरछी शतीरें आदि लगा कर उस पर शाला का निर्माण करना चाहिये । ऐसी शाला को “पद्मती हस्तिनी” की उपमा दी गई है ।

पैरों पर खड़ी हुई हथिनी के नीचे का प्रदेश जैसे खाली रहता है इसी प्रकार शाला ऐसी भी बनाई जा सकती है जो कि चार स्तम्भों पर खड़ी की जाय और जिसका कि पहिला फ़र्श ज़मीन से काफी ऊँचाई पर बनाया जाय और जिसके पहले फ़र्श और ज़मीन के बीच में खाली जगह रहे । बर्मा में ऐसी शालाओं के बनाने का बहुत रिवाज़ है ।

शालानिर्माण नं० ५

(२१५) आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः ।

उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान् ॥

(२१६) अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम् ।

मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि ॥

(२१७) हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि ।

शीतह्रदा हि नो भुवोऽग्निः कृणोत भेषजम् ॥

(अथर्व० ६।१०६।१-३)

हे शाला ! (ते) तेरे (आयने) अन्दर आने के मार्ग पर तथा (परायणे) बाहर जाने के मार्ग पर (पुष्पिणीः) फूलों वाले (दूर्वाः) घास या पौदे (रोहन्तु) उगाए जावें । (वा) अथवा (तत्र) उस शाला में (उत्सः) कुआँ या चश्मा (जायताम्) होना चाहिए, (वा) अथवा (पुण्डरीकवान्) कमल के फूलों वाला (ह्रदः) तालाब उस शाला में होना चाहिए ॥१॥

अथवा शाला के (ह्रदम्) यह एक ओर (अपां) जलों का (न्ययनम्) बहाव होना चाहिये, (समुद्रस्य) या समुद्र का (निवेशनम्) स्थान होना चाहिए । अथवा (नः) हमारे (गृहाः) घर (ह्रदस्य) जलाशय के (मध्ये) मध्य में होने चाहियें, (मुखा) और उन घरों के मुख अर्थात् दरवाजे (पराचीना कृधि) सरदी-के-घरों के दरवाजों से उल्टी दिशाओं में होने चाहियें ॥२॥

(शाले) हे शाला ! (हिमस्य जरायुणा) ठण्डा रखने वाले पदार्थों के आवरण द्वारा (त्वा) तुझे (परि व्ययामसि) हम चारों ओर से ढाँप देते हैं, (नः) हमारे लिए तू (शीतह्रदा) ठण्डे जलाशय की न्याईं (भुवः) हो जा, (अग्निः) और तेरे भीतर जलने वाली गाहंपत्य-अग्नि (भेषजं कृणोतु) हमारे लिए ओषधि-रूप हो,

हमें रोगों से बचाती रहे ।

इन मन्त्रों में उस शाला का वर्णन हुआ है जो कि गरमियों में रहने के योग्य हो । ग्रीष्मकाल की इस शाला के दरवाजे ऐसे होने चाहिए ताकि धूप का प्रवेश शाला में सीधा न हो सके । सरदियों की शाला इस ढङ्ग की होनी चाहिए कि उस के दरवाजों तथा खिड़कियों से धूप उस शाला में सीधी प्रवेश कर सके । परन्तु ग्रीष्मकाल की शाला शरदकाल की शाला से भिन्न प्रकार की होनी चाहिए ।

शरदकाल की शाला के दरवाजे आदि ग्रीष्मकाल की शाला के दरवाजों से विरुद्ध दिशा में होने चाहिए ।

इसी भाव को “पराचीना मुखा” द्वारा दर्शाया गया है । साथ ही शाला के भीतर गार्हपत्य अग्नि होनी चाहिए जिस में कि अग्निहोत्र तथा यज्ञ किए जाया करें । इस प्रकार यह अग्नि औषध का काम देती है ।

शालानिर्माण नं० ६

(२१८) मा नः पाशं प्रतिमुचो गुरुभारो लघुर्भव ।

वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि ॥

(अथर्व० ६।३।२४)

हे शाला ! (नः) हमारे बान्धे हुए (पाशम्) बन्धनों को (मा प्रतिमुचः) तू ढीला न कर, तेरे बन्धन ढीले न हों, (गुरुः भारः) तेरा भारी भार (लघुः भव) लघु हो जाय, हल्का हो जाय । (शाले) हे शाला ! (यत्रकामम्) जहां तुझे ले जाने की हमारी कामना हो वहां (त्वा) तुझे (भरामसि) हम ले जावें, (वधूम् इव) जैसे कि वधू को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाते हैं, उसे पितृगृह से पतिगृह में ले जाते हैं, या देशयात्रा आदि में दूसरे २ स्थानों में ले जाते हैं ।

इस मन्त्र में निर्देश दिया है कि शाला इस ढंग की भी बनाई जा सकती है कि उसे जहां चाहें वहां ले जाय ।

गृहस्थाश्रम-परिशिष्ट

गृहस्थाश्रम-परिशिष्ट

इक्कीसवां प्रकरण

ब्रह्मचर्य द्वारा पति-प्राप्ति

(२१६) ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।

अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाथो घासं जिगीर्षति ॥

(अथर्व० ११।५।१८)

(ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के व्रत से (युवानम्) युवा हुए पुरुष को, (कन्या) कन्या, (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के व्रत के द्वारा (पतिम्) पतिरूप में (विन्दते) प्राप्त करती है । (अनड्वान्) ब्रैल (अश्वः) और घोड़ा (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के द्वारा ही (घासम्) घास को (जिगीर्षति) निगलने की इच्छा करता है ।

विवाह उसी कन्या का और उसी पुरुष का होना चाहिए जिन्होंने किन्न ह्यचर्य की दीक्षा समाप्त कर ली हो । ब्रह्मचर्य-आश्रम में शरीर की पुष्टि हो जाती है, इन्द्रियां बलवान् हो जाती हैं, मन में संयम तथा आत्मा में बल आ जाता है, तथा मस्तिष्क में विद्या का प्रकाश हो जाता है । जिस कन्या या पुरुष ने ब्रह्मचर्य का सेवन नहीं किया हो उन्हें विवाह का अधिकार प्राप्त नहीं । ब्रह्मचर्य के सेवन किए बिना गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से सन्तानें उत्तम पैदा नहीं हो सकतीं ।

शारीरिक ब्रह्मचर्य की आवश्यकता पशुओं के लिए भी है । पशुओं की नस्लें भी तभी उत्तम हो सकती हैं जब कि पशुओं को

नियन्त्रित जीवन में रख कर उन से पशु-सन्तानें उत्पन्न कराई जाँय। “भूख का चमकना” जैसी प्राकृतिक घटना भी बिना ब्रह्मचर्य के सम्भव नहीं है, और बिना भूख के चमके अन्न का निगलना पशुओं के लिए भी मुश्किल होता है।

कन्या में सद्गुणों की स्थापना

(२२०) एकैक्यैषा सृष्ट्या सं बभूव

यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः ।

यत्र विजायते यमिन्यपतुः

सा पशून् चिणाति रिफती रुशती ॥

(अथर्व० ३।२८।१)

(एषा) यह कन्या (एकैक्या सृष्ट्या) एक २ सद्गुण की सृष्टि द्वारा, एक २ सद्गुण को उत्पन्न कर के, (सं बभूव) सम्यक् द्विजन्मा बनती है, (यत्र) उस ब्रह्मचर्य आश्रम में जिस में कि (भूतकृतः) प्राणियों का निर्माण करने वाले, (विश्वरूपाः) और विश्व का निरूपण करने वाले गुरुजन (गाः असृजन्त) शिक्षा की वाणियों की सृष्टि करते हैं। (यत्र) जिस ब्रह्मचर्य आश्रम में कि (यमिनी) यह कन्या यमनियमों का पालन करने वाली हो कर (विजायते) द्विजन्मा बनती है। (सा) वह कन्या (अपतुः) ऋतु को छोड़ कर, अर्थात् ब्रह्मचर्यकाल में से बिना गुजरे, यदि गृहस्थ धारण करती है तो (रिफती^१) गून्गुनाती हुई,

१ अग + ऋतु । ऋतु-क्रम को छोड़ कर । जीवन की चार ऋतुएँ हैं । ब्रह्मचर्य की ऋतु । गृहस्थ की ऋतु । वानप्रस्थ की ऋतु । तथा सन्यास की ऋतु ।

२ रिफ् = To utter a rough grating sound; To revile, blame. (आपटे को१) ।

निन्दा-अपवाद करती हुई, (रिशती^१) तथा वरवादी करती हुई, नुक्सान पहुँचाती हुई (पशून) घर के पशुओं का (क्षिणाति) क्षय करती है, विनाश करती है ।

मन्त्र में “यमिनी” कन्या का वर्णन है । यमिनी का अर्थ है यम-नियमों का पालन करने वाली, संयमी कन्या । यम-नियमों के पालन करने वाले पुरुष को यमी कहते हैं, और यम-नियमों के पालन करने वाली कन्या को यमिनी ।

कन्या जब गुरुकुल में प्रविष्ट होती है तब इसे यमिनी बनाने के लिये, गुरुजन सद्गुणों में से एक २ गुण को लेकर, इस कन्या में उस २ गुण का सर्जन करते हैं, आधान करते हैं । शिक्षापद्धति की दृष्टि से गुरुजनों को चाहिये कि वे पहिले किसी एक सद्गुण को चुन लें और उस सद्गुण का उपदेश विद्यार्थियों को करें, उस सद्गुण के अनुसार विद्यार्थियों के जीवनो को ढालने का यत्न करें । जब विद्यार्थी एक सद्गुण को ग्रहण कर लें तब दूसरे सद्गुण के शिक्षण में गुरुजन यत्नवान् हों । इस प्रकार एक २ करके नाना सद्गुणों का शिक्षण विद्यार्थियों को करें । एक दम नाना सद्गुणों की सूचि विद्यार्थियों के संमुख उपस्थित न कर दें । इस से विद्यार्थियों का ध्यान बट जाता है और किसी एक विशेष ध्येय की ओर नहीं रहता । इसी लिये मन्त्र में एक २ सद्गुण की सृष्टि का वर्णन किया गया है ।

ब्रह्मचर्य-आश्रम के गुरुजन भूतकृत् हैं । भूतों अर्थात् प्राणियों का निर्माण करने वाले हैं । वर्त्तमान शिक्षापद्धति में विद्यार्थियों का निर्माण उस ढंग से नहीं हो रहा जिस ढंग पर कि गुरुजन उन का निर्माण करना चाहते हैं । प्राचीन शिक्षापद्धति में, भारत में, यह “निर्माणविद्या” बहुत प्रचलित थी । गुरुजन विद्यार्थी के जीवन का

१ रिश् = To tear, rend; To hurt, injure. (आपटे कोष) ।

ऐसा निर्माण किया करते थे कि विद्यार्थी का वह एक नया जन्म हो जाया करता था, दूसरा जन्म हो जाया करता था । जिस से कि विद्यार्थी द्विजन्मा बन कर, दूसरा जन्म ले कर, गुरुकुल से निकला करता था ।

गुरुकुलों के गुरुजन जहां “भूतकृत्” होने चाहियें उस के साथ ही साथ वे “विश्वरूपाः” भी होने चाहियें । विश्वरूपाः का अर्थ है “विश्व का निरूपण कर सकने वाले” । वे गुरुजन विश्वरूपाः हैं जो कि विश्व की समग्र विद्याओं को जानते और उन का निरूपण कर सकते हैं । ऐसे गुरुजन ही विद्यार्थी को विश्व का ज्ञान दे सकते हैं । जो स्वयं अल्पवित् हैं वे विद्यार्थी को बहुवित् कैसे बनावेंगे, जो स्वयं अल्पश्रुत हैं वे विद्यार्थी को बहुश्रुत कैसे बनावेंगे ।

ऐसे गुरुजनों के चरणों में रह कर कन्या, सदाचार के शिक्षण द्वारा, यमिनी बनती है, और विश्व की विद्याओं का ग्रहण कर पण्डिता बनती है । इस मन्त्र में पशु-विद्या के अध्ययन की ओर भी निर्देश किया गया है । जो कन्या “अपर्तु” हो कर, अर्थात् गुरुकुल में आयु का एक उचित काल बिना व्यतीत किये, गृहस्थ में प्रवेश कर लेती है, वह न तो यमिनी ही बन सकती है, और पशु-विद्या आदि के ज्ञान से शून्य होने के कारण न वह गृहस्थ के पशुओं की सम्यक् प्रकार से रक्षा कर सकती है । ऐसी कन्या गृहस्थ के पशुओं का नाश करने वाली होती है ।

कन्या का ब्रह्मणगुरु

(२२१) एषा पशून् संक्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी ।

उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥

(अथर्व० ३।२८।२)

(एषा) यह कन्या अशिक्षित रह कर, (कव्याद्^१) कच्चे मांस के खाने वाले पशु-पक्षियों की न्याईं, तथा (व्यद्वरी^२) कुतरने वाले चूहे-चूहियों की न्याईं नाशक प्रवृत्ति वाली हो कर, (पशून्) पशुओं का (सं क्षिणाति) नाश कर देती है । (उत) इस लिए (एनाम्) इस कन्या को (ब्रह्मणे दद्यात्) शिक्षा के लिए ब्राह्मण गुरुजनों के सुपुर्द कर देना चाहिए, (तथा) इस प्रकार (स्योना) यह कन्या सुखदायिनी तथा (शिवा) मङ्गलकारिणी (स्यात्) हो जाती है ।

संयमी तथा शिक्षित हुए विना, मनुष्य, पशु-पक्षियों तथा कीट-पतङ्गों के समान रहता है, उनकी सी प्रवृत्तियों वाला बन जाता है । इस लिए बच्चों की शिक्षा-दीक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिए । इस निमित्त गुरुजन ऐसे चुनने चाहिए जो कि सच्चे ब्राह्मण हों । ऐसे सच्चे ब्राह्मण ही विद्या के प्रेमी होते हैं, सदाचारी होते हैं, सत्यनिष्ठ तथा दयावान् होते हैं । वे ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या तथा परमात्मा के भक्त तथा उपासक होते हैं । ऐसे गुरुजनों के समीप रह कर विद्यार्थी संसार के लिए सुखदायी तथा मङ्गलमूर्ति बन सकते हैं । बालक तो पुरुष-ब्राह्मणों के आश्रमों में विद्याग्रहण किया करें, तथा बालिकाएँ स्त्री-ब्राह्मणियों के आश्रमों में विद्याग्रहण किया करें ।

१ कव्याद् = कव्य (काटा हुआ कच्चा मांस) + अद् (खाना) ।

२ व्यद्वरी = वि (विशेषरूप से) + अद् (खाने) + वर (वाले) + ई (स्त्रीलिङ्ग में) ।

कन्या का शिवरूप

(२२२) शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।

शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥

(अथर्व० ३।२८।३)

(शिवा) हे शिक्षिता कन्या ! तू कल्याण करने वाली (भव) बन (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये । (गोभ्यः अश्वेभ्यः) गौओं के लिये और अश्वों के लिये (शिवा) कल्याण करने वाली बन । (अस्मै सर्वस्मै) इस सब प्रकार के (क्षेत्राय) खेतों के लिये (शिवा) कल्याण करने वाली बन । (इह) और इस गृहस्थ आश्रम में आकर (नः) हम सब गृहवासियों के लिये (शिवा) कल्याण करने वाली (एधि) हो ।

ब्रह्मचर्य-आश्रम में कन्याओं को 'पुरुष-विद्या' भी पढ़ानी चाहिये । परमात्मा ने स्त्री और पुरुष दो प्रकार की सृष्टि रची है । इन दोनों में लिङ्गभेद के कारण प्रकृति-और-स्वभाव का भेद होता है । पुरुषों की प्रकृति कैसी होती है, इनके स्वभाव तथा आदतें कैसी होती हैं,— इसका परिज्ञान कन्याओं को अवश्य मिलना चाहिये । इसी प्रकार बालकों को शिक्षाकाल में स्त्रियों की प्रकृति, स्वभाव तथा आदतों का परिज्ञान दे देना चाहिये । इस विद्या को प्राप्त कर लेने पर पुरुष और स्त्रियां जब गृहस्थ में प्रवेश करती हैं तब स्त्रियां पुरुषों के लिये कल्याण करने वाली होती हैं और पुरुष स्त्रियों के लिये कल्याण करने वाले होते हैं । अन्यथा एक दूसरे के भिन्न २ स्वभावों को न समझ सकने के कारण प्रवृत्तियां विपम हो जाती हैं और गृहस्थ-जीवन में शान्ति नहीं रहती ।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य-आश्रम में ही "गो-विद्या" तथा "अश्व-

विद्या” तथा अन्य प्राणियों की विद्याओं का भी शिक्षण कन्याओं को विशेष रूप में देना चाहिये । ताकि गृहस्थ-जीवन में जाकर कन्याएँ अपने गृह्य-पशुओं की देख-रेख, उनका पोषण-वर्धन, उनकी नसलों को उन्नत करना तथा उनकी चिकित्सा आदि का कार्य उत्तमता से कर सकें ।

कन्याओं को “क्षेत्रविद्या” की भी शिक्षा देनी चाहिये । क्षेत्र-विद्या में खेती-बाड़ी के सम्बन्ध की विद्या आती है । खेत कई प्रकार के होते हैं । किसी खेत में कोई वस्तु पैदा हो सकती है और किसी में कोई । इस प्रकार सब प्रकार के खेतों की विद्या का परिज्ञान कन्याओं को होना चाहिये ।

कन्या द्वारा गृहपुष्टि

(२२३) इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव ।

पशून् यमिनि पोषय ॥ (अथर्व० ३।२८।४)

(यमिनि) हे यम-नियमों वाली संयमी कन्या ! (इह) इस गृहस्थ आश्रम में (पुष्टिः) तेरे कारण सदा पुष्टि बनी रहे, (इह) इस गृहस्थ आश्रम में (रसः) तु नानाविध रसों तथा रसीले पदार्थों का संग्रह कर, (इह) इस गृहस्थ आश्रम में (सहस्रसातमा) हजारों प्रकार के सुखों को देने वाली (भव) बन । (पशून्) और घर में पशुओं को (पोषय) परिपुष्ट कर ।

पत्नी का कर्तव्य है कि वह गृहस्थ की देख-भाल बड़े ध्यान से करे । घर में पुष्टिकारक वस्तुओं का संग्रह करे । उत्तम दूध, शुद्ध घी, शुद्ध अन्न, शुद्ध जल आदि का प्रबन्ध करे । घर में खाने-पीने के लिए नानाविध रसों का संग्रह करे, तथा नाताविध रसों वाले पदार्थों

का संग्रह करे। गृहस्थ-धर्म में रह कर वह गृहवासियों को हजारों प्रकार के सुखों का प्रदान करे। घर के पशुओं की ओर गृहपत्नी का विशेष ध्यान होना चाहिए। घर के पशुओं को समय पर खाना-पीना देना, उनकी शाला की सफाई, उनके रहन-सहन का स्वच्छ प्रबन्ध, उन के रोगों का निरीक्षण तथा उनकी चिकित्सा,—इस सब प्रबन्ध की ओर भी गृहपत्नी का विशेष ध्यान रहना चाहिए।

संयमी-कन्या का गृहस्थ-प्रवेश

(२२४) यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति

विहाय रोगं तन्वाः स्वायाः।

तं लोकं यमिन्यभि संबभूव

सा नो मा हिंसीत् पुरुषान्पशूँश्च ॥

(अथर्व० ३।२८।५) ॥

(यत्र) जिस गृहस्थ-लोक में (सुहार्दः) उत्तम हृदयों वाले तथा (सुकृतः) उत्तम कर्म करने वाले व्यक्ति जाकर (मदन्ति) सदा आनन्दित रहते हैं, (स्वायाः तन्वाः) और जिस लोक में अपने शरीर के (रोगम्) रोग को (विहाय) त्याग कर संयमी लोग प्रवेश करते हैं, (तं लोकम्) उस गृहस्थ-लोक के प्रति (यमिनी) यम-नियमों वाली यह संयमी कन्या (अभिसंबभूव) अभिमुख हुई है। (सा) वह संयमी कन्या (नः) हमारे (पुरुषान् पशूँश्च) पुरुषों और पशुओं की (मा हिंसीत्) हिंसा न करे।

गृहस्थलोक में प्रत्येक स्त्री और पुरुष को प्रवेश का अधिकार नहीं। गृहस्थलोक सन्तान-निर्माण का लोक है। जो लोग उत्तम सन्तान का निर्माण कर सकते हैं उन्हें ही इस लोक में प्रवेश का अधि-

कार है। लम्पट और दुराचारी लोगों को इस लोक में प्रवेश का अधिकार नहीं है।

उत्तम हृदयों वाले लोग जो कि प्रेम, भक्ति, श्रद्धा, दया, उदारता, आस्तिकता आदि भावों वाले हैं वे ही गृहस्थलोक में प्रवेश के अधिकारी हैं।

उत्तम हृदय के साथ २ इन्हें उत्तम कर्मों वाले भी होना चाहिये। न केवल इनकी भावनाएँ ही उत्तम हों अपितु ये उत्तम कर्मों वाले भी हों। उत्तम भावनाएँ उत्तम बीज हैं। परन्तु वे तब तक अधिक लाभदायी नहीं होते जब तक कि वे क्रिया-क्षेत्र में या कर्म-क्षेत्र में अंकुरित हो कर वृक्ष रूप नहीं हो जाते। इस लिए उत्तम हृदय के साथ २ उत्तम कर्मों वाला भी होना आवश्यक है।

व्यक्ति उत्तम हृदय वाला भी हो, और उत्तम कर्मों वाला भी हो, परन्तु यदि वह शरीर से रोगी है तब भी उसे गृहस्थ में प्रवेश का अधिकार नहीं। रुग्ण शरीरों वाले व्यक्ति गृहस्थ में आ कर रुग्ण-सन्तानों को पैदा करते हैं। इसी लिए मनु ने रोगियों के लिए विवाह का निषेध किया है।

हे संयमी स्त्री ! तू भी इस गृहस्थ-लोक के अभिमुख हुई है। तुझे भी उत्तम हृदय वाली होना चाहिए, उत्तम कर्मों वाली होना चाहिए, तथा अपनी देह को तुझे रोगों से मुक्त करना चाहिए। तभी तुझे इस पवित्र-लोक में प्रवेश का अधिकार होगा, अन्यथा नहीं।

१ हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दोरोमशार्शसम्।

क्षय्यामयव्यपस्मारि श्वित्रिकुण्डिकुलानि च ॥

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकः श्रौं न रोगिणीम्।

नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥ (अ. ३, श्लो. ७, ८)

गृहस्थ-लोक में दो प्रकार के प्राणी रहते हैं । पुरुषविध प्राणी तथा पशु-प्राणी । इन दोनों प्रकार के प्राणियों की रक्षा करना गृह-पत्नी का कर्तव्य है ।

(२२५) यत्रा सुहार्दा सुकृतामग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंवभूव सा नो मा हिंसीत्
पुरुषान् पशूँश्च ॥ (अथर्व० ३।२८।६)

(यत्र) जिस गृहस्थ-आश्रम में (सुहार्दाम्) उत्तम हृदय वालों का, (सुकृताम्) तथा उत्तम कर्म वालों का, (अग्निहोत्रहुताम्) तथा अग्निहोत्र आदि यजों के करने वालों का (लोकः) स्थान है, (तं लोकं अभि) उस स्थान की ओर (यमिनी) यम-नियमों का पालन करने वाली संयमी कन्या (संवभूव) उद्यत हुई है । (सा) वह यमिनी कन्या (नः पुरुषान् पशूँश्च मा हिंसीत्) गृहस्थ-लोक में आकर हमारे पुरुषों और पशुओं की हिंसा न करे, अपितु गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर इन की सुरक्षा, उन्नति और पुष्टि करे ।

गृहस्थाश्रम में वे व्यक्ति प्रवेश पा सकते हैं जो कि उत्तम हृदयों वाले अर्थात् उत्तम भावनाओं वाले हैं, तथा सुकृत् अर्थात् उत्तम कर्मों वाले हैं, और अग्निहोत्र आदि पंचमहायज्ञों के तथा अन्य प्रकार के पाक्षिकयज्ञों तथा ऋतुयज्ञों आदि के करने वाले हैं ।

वर वधू में देख-भाल

(२२६) अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं
तपसो जातं तपसो विभूतम् ।
इह प्रजामिह रयिं रराणः

न जायस्व प्रजया पुत्रकाम ॥

(ऋ० १०।१८३, १) ।

वधू कहती है कि (त्वा) हे वर ! तुझे (अपश्यम्) मैंने देख-भाल लिया है, (मनसा चेकितानम्) मन की दृष्टि से तू मनस्वी है, विद्वान् है । (तपसः) ब्रह्मचर्याश्रम के तप से तू (जातम्) द्विजन्मा रूप में उत्पन्न हुआ है, (तपसो विभूतम्) तप से तू विभूति वाला हुआ २ है । (इह) इस मुक्त नारी में या गृहस्थ में (प्रजां रयि रराणः) उत्तम सन्तानों तथा धन-सम्पत्ति को देता हुआ तू (पुत्र-काम) हे पुत्र की कामना वाले ! (प्रजया) प्रजा के रूप में (प्रजा-यस्व) प्रकट हो, जन्म ले ।

वैदिक स्वयंवर की पद्धति में वधू अपने भावी पति की पहले देख-भाल करती है और उसके सद्गुणों से संतुष्ट होकर उसे अपना पति बनने की स्वीकृति देती है ।

वैदिक वधू की दृष्टि में ज्ञान और तप की बड़ी महिमा है । जब वह जान जाती है कि उसका भावी-पति मानसिक-शिक्षण तथा तप की दृष्टि से कसौटी पर ठीक २ उतर आया है तब वह उसे अपने प्रेम का पात्र बनाती है । पति को “चेकितान” होना चाहिए अर्थात् सम्यक्-ज्ञानी होना चाहिये । साथ ही उसके शरीर तथा अङ्गों में तप का तेज झलकना चाहिये । तभी उसे गृहस्थ-धर्म के योग्य समझना चाहिये ।

गृहस्थ में सन्तान और सम्पत्ति का होना अत्यावश्यक है । निःसन्तान तथा गरीब गृहस्थ स्वर्गधाम नहीं बन सकता ।

गृहस्थ का मुख्य उद्देश है “प्रजा की कामना” न कि इन्द्रिय-भोग । इन्द्रियभोग की दृष्टि से गृहस्थ पाप है और प्रजा-कामना की दृष्टि से गृहस्थ धर्म है, महापुण्य है ।

वरवधू में देखभाल

(२२७) अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां
स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम् ।

उप मामुच्चा युवतिर्वभूयाः

प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे ॥

(अथर्व० १०।१८३।२)

वर कहता है कि हे वधू ! (त्वां) तुझे (अपश्यम्) मैं ने देख-भाल लिया है, (मनसा दीध्यानाम्) मन की दृष्टि से तू चिन्ताशील है, विचारशील है, (स्वायां तनू) और अपने शरीर में तू (ऋत्व्ये) ऋतु-कर्म की (नाधमानाम्) चाहना कर रही है । (उच्चा युवतिः) तू जो ऊँची आयु की युवति है वह तू (माम् उप) मेरे समीप (वभूयाः) हो जा, (पुत्रकामे) हे पुत्र की कामना वाली ! (प्रजया) प्रजा के रूप में (प्रजायस्व) तू प्रकट हो, जन्म ले ।

वैदिक-स्वयंवर में पहिले वधू की इच्छा को जानना चाहिये तत्पश्चात् वर की इच्छा को जानना चाहिये । वर और वधू जब एक दूसरे को देख-भाल लें और परस्पर संतुष्ट हो जायं तभी उन का परस्पर विवाह होना चाहिये ।

इस मन्त्र में वर, वधू के प्रति, कहता है कि मैं ने तुझे देख-भाल लिया है । तू मन से विचारशील है, चिन्तनशील है, और तुझ में गृहस्थधर्म की इच्छा प्रतीत होती है । तू ऊँची आयु की युवति है । मुझे तू गृहस्थधर्म से प्राप्त हो, गृहस्थधर्म से तू मेरी समीपता ग्रहण कर । तुझ में पुत्रप्राप्ति की कामना है । तू अपनी सन्तानों में अपने सद्गुणों को प्रकट कर ताकि वे मानों तेरे ही प्रतिरूप में अर्थात् द्वितीय-रूप में प्रकट हों । मानों कि उन सन्तानों के रूप में तू ही पुनः २ जन्म ले रही है ।

कन्यानुराग की पूर्वपरीक्षा

(२२८) यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति ।

एवा मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसौ

यथा मन्नापगा असः ॥ (अथर्व० २।३।१)

(यथा) जैसे (भूम्याः) भूमि के (इदं तृणम्) इस तृण को (वातः) वायु (अधि मथायति) अधिक रूप में मथता है, (एवा) इसी प्रकार (ते) हे कन्या ! तेरे (मनः) मन को (मथ्नामि) मैं मथता हूँ, (यथा) जिस से कि (माम्) मेरी (कामिनी) कामना वाली (असः) तू हो जा, (यथा) जिस से कि (मत्) मुझ से (अपंगाः) परे जाने वाली (न असः) तू न हो ।

इस मन्त्र द्वारा वर अपनी भावी पत्नी के मन की परीक्षा लेता है । वह कहता है कि जिस प्रकार प्रचण्ड वायु भूमि के घास को मथित करता है, परन्तु वह प्रचण्ड वायु घास को तोड़ नहीं फैंकता, इसी प्रकार मैं भावी-पत्नी के मन को मथित करता हूँ, परन्तु उस के मन की आशा-लता को टूटने नहीं देता । इस का अभिप्राय यह है कि कुमार और कुमारी जब परस्पर विवाह करना चाहें तब विवाह से पूर्व वे एक दूसरे के मन की परीक्षा करें जिस से यह ज्ञात हो सके कि इन में परस्पर वास्तविक-अनुराग विद्यमान है । एतदर्थ बीच २ में उदासीनता प्रकट करनी चाहिये और पता लगाना चाहिये कि इस उदासीनता का दूसरे के मन पर क्या असर हुआ है, क्या उस के मन में इस उदासीनता के कारण व्यथा के कोई चिन्ह प्रकट हुए हैं या नहीं । यदि प्रकट हुए हैं तो इन्हें प्रेमानुराग का चिन्ह जान लेना चाहिये । परन्तु उदासीनता इस सीमा तक न होनी चाहिये कि दूसरे के मन की आशा-लता बिलकुल टूट जाय और इस के भयङ्कर परिणाम देखने पड़ें ।

कन्यानुराग की पूर्वपरीक्षा

(२२९) उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे ।

इषुः कामस्य या भीमा तथा विध्यामि त्वा हृदि ॥

(अथर्व० ३।२५।१)

(उत्तुदः^१) बहुत व्यथा देने वाला काम (त्वा) हे पत्नी ! तुझे (उत्तुदतु) अधिक व्यथा देवे, (स्वे) अपने (शयने) सोने के स्थान पर (मा) न (धृथाः) तू धैर्यपूर्वक रह सके । (कामस्य) काम का (या) जो (भीमा) भयानक (इषुः) वाण है (तथा) उस द्वारा (त्वा) तुझे (हृदि) हृदय में (विध्यामि) मैं वीधता हूँ ।

वर जिस कन्या को अपनी सहधर्मचारिणी बनाना चाहता है वह उस के साथ वस्तुतः प्रेम करती है या नहीं इस की परीक्षा वर को अवश्य कर लेनी चाहिए । इस के लिए विवाह से पूर्व की विरहावस्था में वर के सम्बन्ध में कन्या के हावभावों तथा अनुराग की तीव्र परख करनी चाहिए । कन्या का हृदय यदि वर की प्राप्ति के निमित्त व्यथित हो रहा हो, और कन्या यदि चैन से बैठ तथा लेट न सके तो समझ लेना चाहिए कि अमुक कन्या का अमुक वर के प्रति वास्तविक अनुराग है । इस वास्तविक अनुराग की परीक्षा कर लेने के पश्चात् वर और कन्या का परस्पर विवाह होना चाहिए ।

कामवाण का स्वरूप

(२३०) आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्पकुल्मलां ।

तां सुसन्नतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥

(अथर्व० ३।२५।२)

१ उत्तुदः = उत्त (बहुत) + तुदः (व्यथा देने वाला, तुद् व्यथने) ।

(आधीपर्याम्) चिन्ता या विषयध्यान-रूपी पंखों वाले, (कामशल्याम्) चाहना-रूपी फाल वाले, (संकल्पकुलमलाम्) संकल्प-रूपी दण्ड वाले, (तां-इषुम्) उस इषु अर्थात् बाण को, (सुसन्त-तां कृत्वा) ठीक प्रकार से भुकाकर अर्थात् तेरा निशाना बनाकर, (कामः) काम (त्वा हृदि) हे कन्या ! तुझे हृदय में (विध्यतु) वीधे ।

मनुस्मृति में लिखा है कि “संकल्पमूलः कामो वै” अर्थात् काम का मूल संकल्प है । काम का मूल अर्थात् जड़ या कारण संकल्प है । संकल्प के बिना काम की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यहां संकल्प का अभिप्राय है “कल्पना” । एक ही विषय किसी के लिये मोहक होता है और किसी के लिये नहीं । जो व्यक्ति अपनी कल्पनाओं के द्वारा किसी विषय को अनुकूल रूप से प्रतीत करने लगता है उस व्यक्ति के लिये वह विषय मोहक बन जाता है । विषय के सम्बन्ध में की गई इन मानसिक-कल्पनाओं को यहां संकल्प कहा गया है । इसी संकल्प-की-भूमि में, काम अर्थात् विषय-की-चाहना, जड़ पकड़ती है । मन्त्र में कहा गया है कि कामवाण की दण्डी है “संकल्प” । कुलमल^१ = दण्डी ।

बाण की दण्डी के मुख पर लोहे का फाल लगा होता है । मन्त्र में फाल को “शल्य” कहा है । कामवाण में “काम” को, कामना को, अर्थात् संकल्प के कारण से मोहक बने हुए विषय-की-चाहना को, तत्सम्बन्धिनी उत्कट-इच्छा को, बाण का शल्य अर्थात् फाल कहा है । “संकल्प” तो कामवाण की दण्डी है, और “काम” अर्थात् चाहना कामवाण का फाल है ।

आधी का अर्थ होता है मानसिक चिन्ता^१, मानसिक ध्यान, मानसिक लगाव, अर्थात् मन को विषय पर स्थापन^२ करना, उस पर मन को लगा देना । “आधी” कामवाण का पूर्ण है, पङ्ख है ।

कई लोग वाण के मूल में पङ्ख लगाते हैं । सम्भवतः पङ्ख वाण को, वायु में तैराने का काम करते हैं । जैसे पक्षी अपने पङ्खों के सहारे वायु में उड़ते, तैरते तथा समतुलित रहते हैं, इसी प्रकार की किसी विशेष क्रिया के लिए वाण में पङ्ख लगाए जाते हैं । कामवाण में पङ्ख आधी का होता है, मानसिक-चिन्तन, मानसिक ध्यान, मानसिक लगाव का होता है । इस प्रकार “संकल्प, काम, और आधी” के मेल से कामवाण का स्वरूप बनता है । कन्या अपने वर के सम्बन्ध में, अपने हृदय में, जो नानाविध मोहक कल्पनाएं करती है उन “कल्पनाओं” के कारण, कन्या में वर के प्रति अधिकाधिक “काम” अर्थात् चाहना उत्पन्न होने लगती है, तथा वर के और वर-सम्बन्धी वस्तुओं के “चिन्तन तथा सतत ध्यान” से यह कामवाण सदा उस के सम्मुख कार्य करता हुआ दृष्टिगोचर होता रहता है । कामवाण की रचना के लिए, “संकल्प = वाण की दण्डी; काम = वाण का शल्य; आधी = पूर्ण अर्थात् वाणदण्ड पर लगे पङ्ख ।

कामवाण का प्रभाव

(२३१) या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसन्नता ।

प्राचीनपक्षा व्योषा तथा विध्यामि त्वा हृदि ॥

(अथर्व० ३।२।१३)

१ आ+धै (चिन्तायाम्) ।

२ आ+धा । आधान करना, स्थापन करना ।

(कामस्य) काम का (या इषुः) जो वाण, (मुसन्तता) ठीक निशाने पर झुका हुआ हो कर, (प्लीहानम्) प्लीहा अर्थात् तिल्ली को (शोषयति) सुखा देता है, (प्राचीनपक्षा) और उस वाण में जब पंख लग जाते हैं जो कि उसे आगे २ गति देने वाले होते हैं, तब वह वाण, (व्योषा) अधिक जलाने वाला बन जाता है, (तथा विध्यामि त्वा हृदि) उस वाण के द्वारा हे कन्या ! तुझे मैं हृदय में बीधता हूँ ।

काम की अधिक तीव्रता, शरीर और मन को, नुकसान पहुँचाने वाली बन जाती है । काम^१ के बिना गृहस्थ-धर्म नहीं चलता, परन्तु काम की तीव्रता घातक का काम करती है । इस लिये काम का नियन्त्रण भी अवश्य होना चाहिये । मन्त्र में दृष्टान्त के रूप में कहा है कि अनियन्त्रित काम का प्रभाव यह होता है कि इस से तिल्ली सूख जाती है ।

इस मन्त्र में वाण के पंखों का कार्य दर्शाया गया है । “प्राचीन” शब्द “प्र+अञ्च्” का बना हुआ है । प्र = आगे; और अञ्च् = गति । इसलिये “प्राचीन” का अर्थ है “आगे की ओर गति देने वाला” । पंख का काम है कि वह वाण को आगे की ओर गति दे, उसे लक्ष्य की ओर ले जाय । मन्त्रसंख्या २३० में आधी को “पर्या”, अर्थात् पंख कहा गया है । इस मन्त्र में पंख का वर्णन “पक्ष” शब्द द्वारा हुआ है ।

I मनुस्मृति में लिखा है कि:—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।

यद्यदि कुरुते किञ्चित्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥

(२३२) शुचा विद्रा व्योपया शुष्कास्याभि सर्प मा ।

मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥

(अथर्व० ३।२।१।४)

हे मेरी भावी पत्नी ! तू (व्योपया) विशेष रूप से जलाने वाले (शुचा) विरह-शोक से (विद्रा) विद्ध हुई २, (शुष्कास्या) और सूखे चेहरे वाली हुई २ (मा अभिसर्प) मुझे प्राप्त हो । (मृदुः) स्वभाव से जो तू नरम है, (निमन्युः) मन्यु अर्थात् गुस्सा करने वाली नहीं है, (केवली) जो केवल मुझे ही चाहने वाली है, (प्रियवादिनी) जो कि प्रिय-मधुर बोलने वाली है, (अनुव्रता) तथा मेरे व्रतों के अनुकूल व्रतों को धारण करने वाली है ।

विवाह से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि जिस वर और वध का परस्पर विवाह होने वाला है वे एक-दूसरे के साथ अनुराग रखते हैं या नहीं । इस की परख लक्षणाओं द्वारा करनी चाहिये । यदि वे परस्पर के विरह को अधिक देर तक सह नहीं सकते और वे इस विरह के कारण शोकित प्रतीत होते हैं, और उन के चेहरों पर यदि इस विरह-शोक के चिन्ह विद्यमान हैं तो जान लेना चाहिये कि ये वर और वधू परस्पर अनुराग रखते हैं । ऐसे अनुरागी वर-वधू का विवाह करा देना चाहिये ।

विवाह के लिये वधू में ये गुण होने चाहियें । वह स्वभाव में मृदु हो, नरम हो, उग्र-स्वभाव की न हो । वह निमन्यु हो, मन्यु करने वाली न हो, गुस्से के स्वभाव वाली न हो । वह केवली हो, केवल उसी एक पति को चाहने वाली हो जिस के साथ कि उस का विवाह होना है, अन्य पुरुष की वह चाहना करने वाली कभी न हो ।

१ वि+उप् (दाहे) । २ नि (अलग)+मन्यु (गुस्से से) ।

वह प्रियवादिनी हो, सदा मधुरवाणी का प्रयोग करने वाली हो । तथा वह “अनुव्रता” हो, पति के व्रतों के अनुकूल अपने जीवन को व्रतमय बनाने वाली हो, उस में सदा यह इच्छा रहे कि वह ऐसे कामों को करे जो कि उस के पति की इच्छा के अनुकूल हों ।

निष्कपटता से कन्यावशीकरण

(२३३) यदन्तरं तद्वाह्यं यद्वाह्यं तदन्तःम् ।

कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥

(अथर्व० २।३।०।४)

(यत्) जो (अन्तरम्) अन्दर हो (तत्) वह (वाह्यम्) बाहिर होना चाहिये, (यत्) और जो (वाह्यम्) बाहिर हो (तत्) वहीं (अन्तरम्) अन्दर होना चाहिये । यह सिद्धान्त ओषधिरूप है । (ओषधे) हे ओषधिरूप सिद्धान्त ! तू (विश्वरूपाणाम्) विश्व को रूप देने वाली (कन्यानाम्) कन्याओं के (मनः) मन को (गृभाय) ग्रहण कर ।

वर को सदा निष्कपट होना चाहिये । उस के विचार तथा व्यवहार सदा एक से होने चाहियें । वह यदि किसी कन्या को वास्तव में चाहता है तो उसे तदनुकूल अपना व्यवहार भी करना चाहिये । दिल में और भाव रख कर कन्या का क्षणिक प्रतारण न करना चाहिये, उसे छलना न चाहिये ।

सच्चाई तथा निष्कपटता का यह सिद्धान्त परम-ओषधिरूप है । इस द्वारा कन्या के मन को वशीभूत कर लिया जा सकता है । कन्या सदा उसे चाहती है जो कि उस के साथ निष्कपट-प्रेम करता हो ।

कन्याओं को “विश्वरूपा” कहा गया है । “विश्व” को वास्तव में कन्याएँ ही रूप देती हैं । यह चेतन-जगत् कन्याओं द्वारा ही रूप-

वान् हुआ २ है । चेतन-जगत् की सत्ता ही न रहे यदि कन्याएं या स्त्री-शक्ति विद्यमान न हो । इस लिये संसार-में कन्याएं एक मुख्य शक्ति-रूप हैं । विवाह के लिये कन्या के मन को वश में करना,— विवाह-विधि में मूल-प्रेरक होता चाहिये । बलात्कार की विवाह-विधि प्रशस्त नहीं । कन्याओं के मनों पर विजय पा कर, उन्हें अपने अनुकूल बना कर, उनसे विवाह करना ही विवाह की श्रेष्ठतम-विधि है ।

वर-वधू में परस्पर कामना

(२३४) एयमगन्पतिकामा जनिकामोऽहमागमम् ।

अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥

(अथर्व० २।३।१५) ।

(इयम्) यह कन्या (पतिकामा) पति की कामना वाली होकर (आगमन्) आई है । (अहम्) ओर में वर (जनिकामः) स्त्री की कामना वाला होकर (आगमम्) आया हूँ, (यथा) जैसे कि (कनिक्रदद्) हिनहिनाता हुआ (अश्वः) घोड़ा उत्पत्ति की कामना से आता है । (अहम्) मैं वर (भगेन सह) भगों से सम्पन्न होकर (आगमम्) आया हूँ ।

अनुकूल वर्ताव तथा प्रेमप्रदर्शन द्वारा कन्या के मन को अपने अनुकूल बनाकर उसमें पति-कामना को जागृत करना चाहिए ।

पति और पत्नी का परस्पर सम्बन्ध, कामाग्नि की शान्ति के उद्देश्य से न होना चाहिये । अतः उत्तम सन्तान को जन्म देने के उद्देश्य से होना चाहिये । वैदिक सिद्धान्त में सन्तान के उद्देश्य से भोग करने को धर्म कहा है, और भोग की दृष्टि से भोग करने को व्यभिचार कहा है ।

इस सम्बन्ध में वेद ने अश्व का दृष्टान्त दिया है । अश्व आदि नर केवल भोग-वासनी से मादा के साथ सम्पर्क नहीं करते ।

ऋतुकाल में केवल सन्तानोत्पादन के उद्देश्य से ही प्राणिजगत् में नर मादा का परस्पर सम्बन्ध होता है। मनुष्यों को इन पशुओं से इस सम्बन्ध में शिक्षा लेनी चाहिये।

विवाह के लिए वर में भगों का होना आवश्यक है। समग्र प्रकार का ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य— इन्हें भग कहते हैं। समग्र प्रकार के ऐश्वर्य से अभिप्राय है मकान का होना, सम्पत् का होना, घर में पशुओं का होना इत्यादि। इसी प्रकार वर धर्म में निष्ठा वाला, यशस्वी, शारीरिक-कान्ति से सम्पन्न, ज्ञानवान् तथा संसार में लम्पटता न रखने वाला पूर्णयुवा होना चाहिये। इन गुणों के साथ वर को विवाह के लिये वधू की ओर जाना चाहिए।

विवाह में मातापिता की अनुमति

(२३५) आजामि त्वाजन्या परि मातु थो पितुः ।

यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥

(अथर्व० ३।२१.५)

हे कन्या ! (आ+अजामि^१) मैं प्राप्त करता हूँ (त्वा) तुझे। (आ+अजन्या^२) प्राप्त करता हूँ तुझे वैदिक-मार्ग के द्वारा। (परि मातुः अथो पितुः) तेरी माता से और तेरे पिता से मैं तुझे प्राप्त करता हूँ। (यथा) ताकि (मम) मेरे (क्रतौ) कर्मों और संकल्पों में (असः) तू रहे, (मम) और मेरे (चित्तम्) चित्त के (उप) समीप (आयसि) तू आ जाय।

१ अजामि = अज गतिहेपणथोः ।

२ आ = आ + अजामि ।

३ अजनि = A path, road, (आपटे कोष) । अर्थात् मार्ग ।

वर कहता है वधू को कि मैं तुम्हें प्राप्त होता हूँ। वर कहता है कि मैं वैदिक-मार्ग के द्वारा तुम्हें प्राप्त करता हूँ। पत्नी को प्राप्त करने का वैदिक-मार्ग यह है कि पति ब्रह्मचर्य सम्पन्न हो, सुशिक्षित हो, कमाऊ हो, तथा उस वधू के प्रति अनुराग वाला हो जिसके साथ उसने विवाह करना है।

वर और वधू का परस्पर अनुराग होते हुए भी वधू की माता तथा पिता की अनुमति इस सम्बन्ध में अवश्य प्राप्त करनी चाहिए। परस्पर अनुराग के होने हुए भी, यदि वधू के माता-पिता इनके परस्पर विवाह को, इन के भावी जीवन की दृष्टि से, उत्तम तथा लाभप्रद न जानें, तो यह विवाह न हो सकेगा। माता-पिता की अनुभवपूर्ण सम्मति के अनुसार वर और वधू का विवाह में प्रवृत्त होना चाहिए।

विवाह के पश्चात् पत्नी को, अपने प्रति के कर्मों तथा संकल्पों के अनुकूल, अपने आप को ढाल लेना चाहिए। वैदिक-विवाह में पति और पत्नी का बराबर का दर्जा नहीं है। वैदिक-विवाह में यदि पति २५ वर्षों का है तो पत्नी १६ वर्षों की होगी। इस प्रकार आयु, अनुभव, और विद्या की दृष्टि से पति प्रायः पत्नी से श्रेष्ठ रहेगा। छोटी आयु वाले, और थोड़े अनुभव वाले, तथा थोड़ी विद्या वाले को, उसके पीछे चलना ही चाहिए जो कि बड़ी आयु वाला है, बहुत अनुभव वाला है तथा बहुत विद्या वाला है। इस विषमता के रहते हुए भी पति और पत्नी को सदा यह कोशिश करते रहना चाहिये कि वे परस्पर एक दूसरे की सम्मति का मान और आदर करें, एक दूसरे को सदा सुख पहुँचाने की चेष्टा करें, एक दूसरे के साथ ऐकमत्य बनाए रखने में यत्नवान् हों। परन्तु यदि किसी मौलिक विषय पर पति और पत्नी का विचार भिन्न हो जाय तो वहाँ पत्नी झुक जाय और वर पति के विचार को मान देवे।

पति कहता है कि इस प्रकार तू मेरे चित्त के समीप हो जा । वर्तमान गृहस्थ-जीवनों में पति और पत्नी देहिक-सम्बन्ध में समीप रहते हुए भी चित्तों की दृष्टि से एक दूसरे के समीप नहीं होने पाते । चित्तों की दृष्टि से वे एक दूसरे के समीप तभी हो सकेंगे जब कि पति और पत्नी में सच्चा अनुराग हो और पत्नी यह समझे कि उसने पति की इच्छा की अनवर्तिनी होकर गृहस्थ के सुखों को प्राप्त करना है, तथा पति का विरोध नहीं करना । इस विधि से पति और पत्नी चित्तों की दृष्टि से भी एक दूसरे के समीप हो सकते हैं ।

विवाह में मातापिता की अनुमति

(२३६) सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ।

सं वां भगासो अग्रमत सं चित्तानि समु व्रता ॥

(अथर्व० २।३।२)

(अश्विना = अश्विनौ) हे अश्विनयो ! तुम दोनों (इत्) ही (सं नयाथः^१) विवाहेच्छु वर-वधू को परस्पर मिलाते हो, (कामिना = कामिनौ) और परस्पर कामना वाले हो कर हे कुमार और कुमारी ! तुम दोनों, तदनन्तर, (सं वक्षथः^२) परस्पर विवाह करते हो । विवाह के अनन्तर (वाम्) तुम दोनों के (भगासः) भग अर्थात् सब प्रकार के ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य आदि (सम् अग्रमत) परस्पर मिल जाते हैं, एक हो जाते हैं । (चित्तानि) तुम्हारे चित्त (सम्) परस्पर मिल जाते हैं । (व्रता = व्रतानि) और व्रत (सम् उ) भी परस्पर मिल जाते हैं ।

१ सं + नी = To bring together ; To bring near to ; To unite. (आगे कोष) ।

२ सं + वह् = परस्पर विवाह ।

कन्या के और वर के माता पिता को अश्विनौ कहा है । अश्विनौ का अर्थ है अश्वों वाले । ये दोनों इन्द्रिय-रूपी अश्वों के स्वामी हों, इन्द्रिय-संयमी हों । सम्भवतः इस लिये भी वेदों में माता-पिता को अश्विनौ कहा जाता है ।

अथवा पशुओं में श्रेष्ठतम पशु अश्व है । शक्ति की दृष्टि से अश्व को श्रेष्ठ माना गया है । इस लिये अश्व को वाजी (शक्ति वाला) भी कहते हैं । वैद्यक-शास्त्र की परिभाषा में शक्ति-उपाजन को “वाजीकरण” कहते हैं । अतः पाणिजगत् से उपमा लेकर शक्तिमान् पति और शक्तिमती पत्नी को अश्व और अश्वी कहा गया है । गृहस्थ के योग्य पति को अश्व तथा गृहस्थ के योग्य पत्नी को अश्वी कहा गया है । “सन्तान-प्रजनन-शास्त्र” को दृष्टि से जो माता-पिता शक्ति की दृष्टि से आदर्श रूप हैं उन्हें अश्विनौ कह सकते हैं । सम्भवतः इस दृष्टि से भी यहां कन्या के और वर के माता-पिता को अश्विनौ कहा हो ।

1 उपनिषदों में इन्द्रियों की उपमा “हयों” अर्थात् अश्वों से दी जाती है । यथा:— आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

..... इन्द्रियाणि हयानाहुः ॥ (कठ. उप. ३।३)

2 आजकल भी शक्ति की इकाईयों के नापने में Horse-Power शब्द का प्रयोग होता है ।

3 अथर्ववेद में लिखा है कि “अत्रामृत प्रशस्तिमिरश्वा भवथ वाजिनः” (१, ४, ४) । अर्थात् जल की प्रशस्त शक्तियों द्वारा तुम अश्व बनो और वाजी बनो । जल-चिकित्सा द्वारा न तो पुरुष घोड़ा बन सकता है और न स्त्री घोड़ी बन सकती है । इस लिये “अश्वो भवथ, वाजिनः भवथ” का यही अर्थ है कि तुम शक्तिशाली बनो ।

4 अश्वी च अश्विनी च अश्विनौ ।

“सन्तान-प्रजनन-शास्त्र” की दृष्टि से कामसूत्रों में पुरुषों के तीन भेद किये गये हैं, यथा “शश, वृष, और अश्व”। इसी प्रकार स्त्रियों के भी तीन भेद किये गये हैं, यथा “मृगी, वडवा (अश्व), हस्तिनी”। कई कामशास्त्री पुरुषों और स्त्रियों के चार २ भेद करते हैं। यथा शश, मृग, वृष, अश्व। और पद्मिनी, चित्राणी, शंखिनी, हस्तिनी।

वर और वधू के माता-पिता, पति-पत्नी के चुनाव में, वर और वधू के मार्गदर्शक हों, मार्गनेता हों। माता-पिता से परामर्श पा कर, वर और वधू, एक दूसरे के प्रति प्रेमानुराग उत्पन्न कर विवाह करें। विवाह के बाद इन के भगों का एकत्रीकरण हो जाना चाहिये। पति की सम्पत्ति पत्नी की समझी जानी चाहिये और पत्नी की सम्पत्ति पति की समझी जानी चाहिये। इसी प्रकार इन के चित्त भी परस्पर में एक हो जाने चाहिये, और इन के व्रत भी अर्थात् धार्मिक-कृत्य भी एक जैसे हो जाने चाहिये।

कन्या का मित्रशासन तथा वरुणशासन

(२३७) व्यस्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम्।

अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥

(अथर्व० ३।२५।६)

(मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण के रूपों वाले, वधू के, हे माता तथा पिता ! (अस्यै = अस्याः) इस वधू के (हृदः) हृदय से (चित्तानि) विरोधी संकल्पों और विचारों को (व्यस्यतम्) तुम दोनों अलग कर दो। (अथ) तदनन्तर (एनाम्) इस वधू को

I शशो वृषोऽश्व इति लिङ्गतो नायकविशेषाः। नायिकाः पुनः मृगी, वडवा, हस्तिनी चेति। (कामसूत्र, वात्स्यायन, २।१।१)।

(अक्रतुम्) विरोधी कर्म न करने वाली (कृत्वा) करके, (मम एव) मेरे ही (वशे) वश में रहने वाली (कृणुतम्) कर दो ।

वर प्रार्थना करता है वधू के माता-पिता से कि तुम दोनों सदुपदेश देकर, प्रेम दर्शा कर, तथा सन्नियन्त्रण द्वारा इस वधू के हृदय से उन विचारों तथा संकल्पों को परे हटा दो जिनके कि रहते गृहस्थ-जीवन में सुखों की कमी होती है और दुःखों की वृद्धि होती है ।

इसके लिये माता-पिता को मित्र और वरुण कहा है । मित्र शब्द मैत्री के भाव को तथा वरुण शब्द नियन्त्रण के भाव को दर्शाता है । १६ वर्ष की आयु वाली सन्तान के साथ माता-पिता मित्रता^१ का व्यवहार करें । उस समय माता-पिता अपनी सन्तानों को इस विधि से समझाया करें जैसे कि एक मित्र अपने दूसरे मित्र को समझाकर उसे सत्पथ पर लाने की कोशिश करता है । परन्तु मित्र-विधि यदि सफल न हो तो उन्हें वरुण-विधि का भी आश्रय लेना चाहिये । वेद में वरुण का वर्णन आता है कि वह दण्ड देने वाला है, उसके दूत^२ सर्वत्र विचरते हैं, वह पाशों^३ वाला है, वह घोर है, वह निग्रह^४ करने वाला है, पापियों को पकड़ने वाला है । कन्या यदि मित्र-विधि से नहीं सुधरती तो उसे वरुण-विधि से सुधारने का यत्न

१ प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रमिवाचरेत् ॥

२ दिवः स्पशाः प्रचरन्तीदमस्य (अथर्व० ४।१६।४) ॥

३ वारुणो वै पाशः (श० ब्रा० ६, ७, ३, ८), तथा “वरुण्या वा एषा यद्रज्जुः” (श० ब्रा० ३, २, ४, १८) ॥

४ अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति (तै० ब्रा० १, ७, २, ६) ॥ वरुणो वा एतं गृह्णाति यः पाप्मना गृहीतो भवति (श० ब्रा० १२, ७, २, १७) ॥

करना चाहिये । परन्तु ये यत्न कन्या के माता-पिता को ही करने चाहियें ताकि वह भावी पति के ठीक अनुकूल बन सके । तत्पश्चात् उसका विवाह किया जाना चाहिये ।

माता-पिता मित्र-और-वरुण का रूप धारण कर अपनी विवाह-योग्य कन्या को इस प्रकार से शिक्षित कर दें ताकि वह पति के घर जाकर पति के विरुद्ध कर्मों तथा संकल्पों के करने वाली न हो । पति के जैसे कर्म तथा संकल्प हों, उसकी पत्नी भी वैसे ही कर्मों तथा संकल्पों वाली होने का यत्न करती रहे,—यह भाव “अत्रतुं कृत्वा” द्वारा दर्शाया गया है । परन्तु पति और पत्नी का परस्पर सम्बन्ध तब तक ही है जब तक कि इनमें धर्म-व्यवहार है । पति के उत्सव-नामी होने पर पति के दुष्कर्मों तथा असत्संकल्पों के अनुकूल पत्नी का चलना,—वेदद्वारा अनुमोदित नहीं है ।

कन्याग्रहण तथा दहेज

(२३८) आ नो अग्ने सुमतिं संभलो

गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन ।

जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं

पत्या सौभगमस्त्वस्यै ॥

(अथर्व० २।३६।१)

(अग्ने) हे अग्नि ! (संभलः) सम्यक् अर्थात् मधुर-तथा-सत्य भाषण करने वाला यह कुमार, (नः) हमारी (सुमतिम्) उत्तम मति वाली (इमाम् कुमारीम्) इस कुमारी को, (नः) हमारे (भगेन सह)

1 देखो मन्त्र-संख्या ५१, ॥ पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥

2 सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।

प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥

भगों के साथ, (आ गमेत्) प्राप्त हो । (वरेषु^१) वरण करने वालों में (जुष्टा) यह कुमारी प्रिय है, (समनेषु^२) तथा सामाजिक जीवनों में (वल्गुः) श्रेष्ठ है । (ओपम्^३) उपाकाल के पूर्व २, (पत्या) पति के कारण होने वाला (अस्यै) इस कुमारी का (सौभगं अस्तु) सौभाग्य, संभ्र हो जाय, अथवा एक उपाकाल से दूसरे उपाकाल तक अर्थात् प्रतिदिन पति के साथ इस का सौभाग्य बढ़ता रहे ।

कुमार “संभल” अर्थात् सदा सम्बन्ध-भाषण करने वाला होना चाहिये । सत्य और सधुर भाषण करना ही सम्बन्ध-भाषण करना है । मनुस्मृति में लिखा है कि “सत्य बोलो और प्रिय बोलो, अप्रिय सत्य न बोलो, और न प्रिय अनृत बोलो,—यही सनातन धर्म है ।”

इसी प्रकार कुमारी सुमति होनी चाहिये । यह अपनी मति से बुरे-भले को पहिचाने, और पति के साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करती हुई गृहस्थधर्म का पालन करे ।

कुमारी के पिता आदि सम्बन्धियों द्वारा कुमारी में सम्पादित किये गये भगों के साथ कुमारी को, कुमार स्वीकृत करे । विवाह के समय पिता आदि, दहेज के रूप में, धन आदि सम्पत्ति भी देने हों, तथा विवाह से पूर्व वे कुमारी-शिक्षण द्वारा कुमारी में अन्य भी कई भगों का सम्पादन कर देते हैं, यथा उसे धर्मपरायण बना देते हैं, उसे यश वाली बना देते हैं, उसे तेज वाली, ज्ञान वाली तथा वैराग्य वाली बना देते हैं । पिता आदि सम्बन्धियों द्वारा दिये गये इन सब भगों के साथ वर्तमान जो कुमारी है, उस कुमारी को यह कुमार स्वीकार करे ।

१ “वर” के लिये देखो मन्त्रसंख्या ६ ।

२ सम् + अन (जीवन) अर्थात् सामूहिक जीवन, सामाजिक जीवन ।

३ आ + उपम् । अर्थात् दिन के चढ़ने से पहिले २ ।

कुमारी के सम्बन्धी कहते हैं कि यह कुमारी वरण करने वालों में अर्थात् भावी पति और पति के सम्बन्धियों में, प्रेमपूर्वक व्यवहार करने वाली होगी, तथा उन के सामाजिक जीवन में रुचि रखने वाली होगी ।

वैदिकपद्धति में विवाह चूंकि अग्निसाक्षिक होता है इसलिये मन्त्र में अग्नि का सम्बोधन हुआ है ।

कन्याग्रहण तथा दहेज

(२३६) सोमजुष्टं ब्रह्मजुष्टमर्यम्णा संभृतं भगम् ।

धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ॥

(अथर्व० २।३६।२) ॥

(सोमजुष्टम्) सोमशक्ति वाले ब्रह्मचारी-पति जिस भग को चाहते हैं, (ब्रह्मजुष्टम्) तथा ब्रह्मा-पदवी वाले पति जिस भग को चाहते हैं, (अर्यम्णा) तथा आर्यमन वाले कन्यापिता द्वारा (संभृतम्) लाया गया (भगम्) जो भग है उसे मैं, (धातुः देवस्य) संसार के धारण करने वाले परमात्मदेव के दर्शाए (सत्येन) सत्यमार्ग के द्वारा, (पतिवेदनं कृणोमि) पति को निवेदित करता हूँ, उसे समर्पित करता हूँ, या उसे पति प्राप्त करने में साधनरूप करता हूँ ।

सोम का अर्थ है वीर्यशक्ति । वीर्यशक्ति से सम्पन्न उच्चकोटि के ब्रह्मचारी को भी सोम कहते हैं । सोमशक्ति का आदर्श है आदित्य^१ ब्रह्मचारी का । आदित्य-ब्रह्मचारी उच्चकोटि की ब्रह्मचारिणी के साथ विवाह करना चाहते हैं । उच्चकोटि की ब्रह्मचारिणी को वेदों में सूर्या^२ कहा गया है । कुमारी में उच्चकोटि के ब्रह्मचर्य का होना एक ऐसा “भग” है अर्थात् सद्गुण है, जिसे कि सोमशक्ति वाले आदर्श ब्रह्मचारी चाहते हैं ।

चारों वेदों के जानने वाले विद्वान् को ब्रह्मा कहते हैं। ब्रह्मा-कोटि का विद्वान् अपनी पत्नी में उच्चकोटि की विद्या या विद्वत्ता चाहता है। कुमारी में उच्चकोटि की विद्या या विद्वत्ता का होना एक ऐसा “भग्न” है, अर्थात् सद्गुण है, जिसे कि ब्रह्मापदवी वाले विद्वान् पति चाहते हैं।

कुमारियों में इन दो प्रकार के भगों की विद्यमानता तो होनी ही चाहिए। परन्तु इन दो भगों के साथ २, कन्यापिता द्वारा दिये गए अन्य भगों अर्थात् अन्य सद्गुणों, तथा धन-सम्पत् की भी सत्ता होनी चाहिये। इन सब भगों के साथ विद्यमान कुमारी को, उसका योग्य पति, प्राप्त होता है।

कुमारी को पति प्राप्त कराने का सत्यमार्ग वह है जो कि संसार के धारण करने वाले परमात्मदेव ने वेदों में प्रकट किया है। उस सत्यमार्ग का वर्णन वेदों के वैवाहिक-मन्त्रों में स्थान २ पर मिलता है।

कन्याग्रहण तथा दहेज

(२४०) इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट

सोमो हि राजा सुभगां कृणोति ।

सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति

गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु ॥

(अथर्व० २।३६।३) ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (इयम्) वह (नारी) नारी (पतिम्) पति को (विदेष्ट) प्राप्त हो, (सोमः) सोम-शक्ति से सम्पन्न (राजा) गृहस्थ-राज्य का राजा (सुभगां कृणोति) हे नारी ! तुझे सौभाग्यों से

युक्त करे । (पुत्रान्) पुत्रों को (सुवाना) जन्म देती हुई यह नारी (महिषी^१ भवाति) गृहस्थ-राज्य की महाराणी बने, (पतिं गत्वा) पति को प्राप्त हो कर (सुभगा) तथा सौभाग्यवती हो कर यह नारी, (वि राजतु) गृहस्थ-राज्य में राज्य करे ।

यहां साक्षीभूत विवाहाग्नि का वर्णन अग्नि शब्द द्वारा हुआ है । पति गृहस्थ-राज्य का राजा है और उस की पत्नी राणी है । पत्नी सुपुत्रों को उत्पन्न कर गृहस्थ की महाराणी बनती है ।

कन्याग्रहण तथा दहेज

(२४१) यथाखरो मघवँश्चारुरेप

प्रियो मृगाणां सुपदा बभूव ।

एवा भगस्य जुष्टेगमस्तु

नारी सम्पिया पत्याविगधयन्ती ॥

(अथर्व० ३।३।४)

(मघवन्) हे ऐश्वर्यवान् पति ! (यथा) जैसे (एषः) यह (चारुः) रुचिकर (आखरः^२) गुफा आदि निवास-स्थान,—जो कि (सुपदाः^३) सुखपूर्वक बैठने का स्थान है वह,—(मृगाणाम्) मृग आदि पशुओं को (प्रियः बभूव) प्रिय हुआ है, (एवा) इसी प्रकार (इयं नारी) यह नारी, (भगस्य^४) भगों से सम्पन्न पति को (जुष्टा) सेवन के योग्य

१ महिषी = The principal queen; A queen in general.

(आपटे कोष) ।

२ आखरः = आ + खनु (अवदारणे) = खुदा हुआ स्थान ।

३ सुपदाः = सु + सद् + असुन् ।

४ भगस्ते हस्तमग्रभीत् । देखो मन्त्रसंख्या ५१ ।

तथा (सम्प्रिया) सम्यक्-प्रिय अर्थात् बहुत प्रिय (अस्तु) हो । और यह नारी (पत्या) पति के साथ मिल कर (अविराधयन्ती) गृह-कार्यों को ठीक प्रकार से सिद्ध करने वाली हो ।

जैसे गुफा आदि रुचिकर स्थान, मृग आदि के लिये, सुख-पूर्वक बैठने का स्थान होने से, प्रिय होता है, ऐसे ही पत्नी, पति के लिये सेवन के योग्य, रुचिकर तथा सम्यक्-प्रिय बने । और यह पत्नी पति के साथ मिल कर गृहस्थ-कार्यों को सम्यक् सिद्ध करे ।

कन्याग्रहण तथा दहेज

(२४२) भगव्य नावमारोह पूर्णामनुपदस्वतीम् ।

तयोपप्रताग्य यो वरः प्रतिकाम्यः ॥

(अथर्व० २।३६।५)

हे वधू ! (पूर्णाम्) पूरी अर्थात् जिस में नौका चलाने के साधनोपसाधन पूरे हैं, (अनुपदस्वतीम्^१) और जो टूटी-फूटी नहीं है (भगव्य नावम्) भग की उस नौका पर (आरोह) तू आरोहण कर, चढ़ । (तया) उस नौका द्वारा तू (उप प्रतारय) उसे तैरा दे (यः वरः) जो वर कि (प्रतिकाम्यः) चाहने वाली तुझ को चाहने वाला है ।

गृहस्थ एक सागर है । ब्रह्मचारी, ब्रह्मचर्य का पालन कर, इन सागर में प्रवेश करता है, और इस सागर को पार कर अगले आश्रम की ओर बढ़ता है ।

१ अ (आ) + वि + राध् (संसिद्धौ) । सम्यक् प्रकार से विविध कार्यों को करने वाली। अथवा सिद्ध करने के विरोधी आचरण न करने वाली।

२ अन् + उप + दस् (क्षव, नाश) + वती । नष्ट न होने वाली, न टूटी-फूटी ।

इस सागर को तैरने के लिये एक नौका चाहिये । वह नौका भग की नौका है । ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य रूपी भग की नौका है । विना ऐश्वर्य के तथा धर्म आदि के मनुष्य गृहस्थ-सागर में ही गोते खाते रहते हैं । विना ऐश्वर्य के गृहस्थ चल नहीं सकता, बालबच्चों का पालन पोषण तथा शिक्षण हो नहीं सकता । तथा विना धर्म आदि के गृहस्थ का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता । ज्ञान गृहस्थधर्म के पालन में मार्गदर्शक है और वैराग्य गृहस्थधर्म में भी निष्कामता सिखाता हुआ गृहस्थी को जीवन का अगला मार्ग दिखाता रहता है ।

पत्नी इन छः भगों की नौका पर आरुढ़ होती है जो नौका कि हर प्रकार से पूरी है, किसी प्रकार से अधूरी नहीं है, जिस में कि नौका चलाने के हर प्रकार के साधन और उपसाधन विद्यमान हैं, तथा जो टूटी फूटी नहीं है । इस नौका की खवैया पत्नी है । पत्नी इस नौका पर बैठ कर इसे चलाएगी और गृहस्थ-सागर से सफलता-पूर्वक पति को पार कराएगी और स्वयं भी पार होगी । पत्नी का गृहस्थ-धर्म में कितना महत्त्व प्रदर्शन किया गया है,—इसे पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं ।

कन्याग्रहण तथा दहेज

(२४३) आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु ।

सर्वं प्रदक्षिणं कुरु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥

(अथर्व० २।३६।६) ।

I वेद में पत्नी को “प्रतरणी गृहाणाम्” अर्थात् गृहस्थ की “नौका” भी कहा है । देखो मन्त्रसंख्या १० ।

(धनपते) हे धन के पति ! अर्थात् कन्या के पिता !
(वरम् आक्रन्द्य) तू वर को बुला और उसे (आमनसम्) अपने
अनुकूल मन वाला (कृणु) कर । (सर्वम्) सब कुछ जो कुछ कि
तू ने वर को विवाह में भेंट करना है उसे (प्रदक्षिणं कुरु) उत्कृष्ट-
दक्षिणा रूप में दे, (यः) जो (वरः) वर को (प्रतिकाम्यः) तेरी
कामना के योग्य है ।

अन्त्र में कन्या के पिता को धनपति कहा है । विवाह के
निमित्त जो कुछ भी धन इसने व्यय करना निश्चित किया है उस कारण
कन्या के पिता को धनपति कहा गया है ।

कन्या का पिता वर को अपने घर बुलाए और वर को अपने
मन के अनुकूल बनाए, उसके मन को अपनी ओर झुकावे । विवाह
में कन्या का पिता वर के प्रति वह सब-कुछ जो कुछ कि उसने वर
के प्रति समर्पित करना है उसे प्रकृष्ट दक्षिणा के रूप में दे दे । दक्षिणा
यज्ञ का एक मुख्य अंग है । दक्षिणा में लेन-देन का सौदा नहीं करना
होता । इसलिये दक्षिणा को प्रकृष्ट कहा गया है । कन्या का पिता
विवाह के समय वर के प्रति जो कुछ समर्पित करना चाहता है वह
उसे प्रकृष्ट दक्षिणा के रूप में समर्पित करे और वर उसे प्रकृष्ट दक्षिणा
के रूप में स्वीकार करे । देते समय कन्या का समुचित-भाग न देना
उस दान के दक्षिणारूप को मार देता है, तथा उसे स्वीकार करते
समय वर यदि थोड़े-बहुत का विचार करे तब भी उस दान का
दक्षिणारूप मारा जाता है । इसी हेतु से विवाह के समय दिये गए
धन आदि को दक्षिणा या प्रकृष्टदक्षिणा कहा गया है ।

कन्याग्रहण तथा दहेज

(२४४) इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौत्तो अथो भगः ।

एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥

(अथर्व० २।३६।७) ॥

(इदम्) यह (हिरण्यम्) सुवर्ण है, (गुल्गुलु) ये गुग्गुलु आदि हवनीय पदार्थ हैं, (अयम् औत्तः^१) यह बैल या गौ है, (अथो) और (भगः) यह छः प्रकार का भग है जिससे कि यह कन्या सम्पन्न है,—(एते) इन सब पदार्थों ने (त्वाम्) हे कुमारी ! तुझे (पतिभ्यः) तेरे रक्षकों के प्रति सुपुर्द किया है, (प्रतिकामाय वेत्तवे) तथा तेरी कामना करने वाले तेरे भावी-पति के प्रति तुझे सुपुर्द किया है ।

कन्या का पिता विवाह के समय वर के प्रति दहेज रूप में कुछ वस्तुएँ समर्पित करता है । यथा सुवर्ण या सुवर्ण के बने आभूषण, हवन के योग्य गुग्गुलु आदि सामग्री तथा हवन के अन्य उपकरण, बैल या गौ तथा अन्य सम्पत्ति । कन्या का पिता इन वस्तुओं के साथ २ उस महासम्पत्ति को भी देता है जो कि भगरूप में कन्या में विद्यमान है ।

ये सब वस्तुएँ कन्या के साथ उसके पतिगृह को जाती हैं । इन सब वस्तुओं के साथ, कन्या, पतियों के संरक्षण में जाती है । यहाँ “पतिभ्यः” शब्द वैवाहिक नाना पतियों के सम्बन्ध में प्रयुक्त नहीं हुआ, अपितु उन रक्षकों के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ है जिनके कि संरक्षण में रह कर कन्या ने पतिगृह में रक्षा पानी है । वे हैं पति के माता-पिता तथा अन्य बुजुर्ग सम्बन्धी ।

१ औत्तः=उत्ता (बैल) की सन्तान । अर्थात् बैल या गौ ।

वैवाहिकपति का वर्णन “प्रतिकामाय” पद द्वारा किया गया है। यह वह पति है जिसकी कि कामना कन्या करती है, और इस कामना की प्रतिक्रिया के रूप में जो वर कि कन्या की कामना करता है। यह वैवाहिक-पति एक ही है। इसलिये “प्रतिकामाय” पद में एकवचन का प्रयोग हुआ है।

कन्याग्रहण तथा दहेज

(२४५) आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः ।

त्वमस्यै धेह्योषधे ॥ (अथर्व० २।३६।८) ॥

(ते) तेरा (सविता) उत्पादक पिता (आ नयतु) हे कुमारी ! तुझे यहां विवाह-मण्डप में लावे, (यः) और जो (प्रतिकाम्यः) तुझे चाहने वाला (पतिः) तेरा भावी पति है वह तुझे विवाह के पश्चात् (नयतु) अपने कुल में ले जावे। (ओषधे) और हे ओषधि ! (त्वम्) तू (अस्यै) इस विवाहित वधू का (धेहि) धारण-पोषण कर।

विवाह-मण्डप में विवाह के लिये कुमारी को उस का पिता लावे, और विवाह हो चुकने पर जो उस का पति बना है वह उसे ले जाय।

विवाह के अनन्तर सात्विक-तथा-ओषधिरूप अन्नों द्वारा वधू का धारण-पोषण अच्छे प्रकार होना चाहिये। ताकि यह स्वयं स्वस्थ तथा परिपुष्ट होकर स्वस्थ तथा परिपुष्ट सन्तानों की माता बन सके।

कन्याग्रहण के तीन हेतु

(२४६) यासां नाभिरारेहणं हृदि संवननं कृतम् ।

गावो घृतस्य मातरोऽम् सं वानयन्तु मे ॥

(अथर्व० ६।६।३)

(यासाम्) जिन स्त्रियों की (नाभिः) प्रजनन-शक्ति (आरेह-
णम्^१) अर्चना के योग्य है, (हृदि) जिन स्त्रियों के हृदय में (संवननम्^२)
भक्ति, श्रद्धा, सेवा, प्रेम तथा बाण्ट कर खाने का भाव (कृतम्)
परमात्मा ने उत्पन्न किया है, (गावः घृतस्य मातरः) घृत का निर्माण
करने वाली गौओं की न्याईं जो कि घर के खान पान की वस्तुओं का
निर्माण करती हैं,—ये भावनाएँ (अमूम्) उस बधू को (मे) मेरे
निमित्त (सं वोनयन्तु) सम्यक् प्रकार से प्रेरित करें।

वर को जो बधू की चाह होती है उस में मुख्यरूप से तीन
भावनाएँ प्रेरक हैं। पहिली भावना है स्त्री में जनन-शक्ति का होना।
सन्ध्या के मन्त्रों में लिखा है कि “जनः पुनातु नाभ्याम्” अर्थात् जग-
ज्जननी हमारी नाभि अर्थात् जनन-शक्ति को पवित्र करे। नाभि का
सम्बन्ध जनन-शक्ति के साथ है। मन्त्र में जनन-शक्ति का वर्णन नाभि
पद द्वारा किया है। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक आकर्षण में मुख्य
भावना स्त्री की जनन-शक्ति है। पति जनन-शक्ति को चाहता है इस
लिये पति के मन में पत्नी की ओर आकर्षण उत्पन्न होता है।

इस जनन-शक्ति की अवहेलना नहीं करनी चाहिये। जनन-
शक्ति के साथ बुरे भावों का सम्बन्ध न होना चाहिये। यह जनन-
शक्ति मातृशक्ति है। इस शक्ति की अर्चना, पूजा तथा सत्कार होना
चाहिये। यजर्वेद में कहा है कि “अपचितिर्भसद्”। भसद् अर्थात्
स्त्री की जनन-शक्ति अपचिति का स्थान है, पूजा का स्थान है, मान
और सत्कार का स्थान है।

१ रिहतिः अर्चति कर्मा । (निघं० अ० ३, खं० १४) ।

२ वन = संभक्तौ ।

३ यजु० अध्याय २०, मन्त्र ६ ।

पत्नी को चाहने में दूसरी प्रेरक-भावना है “सुख-दुःख का सञ्चा साथी ढूँडना” । स्त्रियों में हृदय-शक्ति का अधिक विकास होता है । ये अपने पति के प्रति अपना हृदय सौंप सकती हैं । ये अपनी भक्ति, श्रद्धा, प्रेम और सेवा का आराध्य-देवता पति को बना सकती हैं । इस लिये भी पति ऐसे हृदय की चाहना करता है ।

पत्नी को चाहने में तीसरी मुख्य भावना है गृह-प्रबन्ध । नौकरो-भृत्यों द्वारा गृह-प्रबन्ध नहीं चल सकता । गृह-प्रबन्ध ठीक २ चला सकना पत्नी पर निर्भर होता है । जैसे गौएँ दूध, घी आदि का निर्माण करती हैं वैसे स्त्रियाँ भी इन खाद्य-तथा-पेय वस्तुओं का यथोचित प्रबन्ध कर समग्र परिवार की पुष्टि का सम्पादन करती हैं ।

ये उपर्युक्त तीन भावनाएँ हैं जिन द्वारा प्रेरित हो कर वर कामना करता है वधू की । इस लिये इस मन्त्र में कहा है कि ये तीन भावनाएँ, इस वधू को, मुझ पति की ओर, प्रेरित करें ।

पत्नी का लक्षण

(२४७) पत्नी यद् दृश्यते पत्नी यक्ष्यमाणा जगित्रोथामो दैव ।
होता विष्टीमेन जगित्रोथामो दैव ॥

(अथर्व० २०।१३।५)

(पत्नी) पत्नी (यद्) जो (पत्नी) पत्नी के रूप में (दृश्यते) दिखाई देती है वह तब जब कि वह (यक्ष्यमाणा) यज्ञ करने कर रही हो, जैसे कि (होता) होता आदि ऋत्विक् (विष्टीमेन)

१. विष्टि + मा । विष्टि का अर्थ है व्याप्ति, काम, वेतन, मजदूरी आदि । “मा” शब्द का अर्थ है मापना, निर्माण करना । विष्टीम = विष्टिमा । अर्थात् काम का निर्माण करना, काम करना ।

अपने २ कर्मों के द्वारा होता आदि के रूप में दिखाई देते हैं। इस लिये (जरितः) हे वैदिक कर्मों का उपदेश देने वाले ! तथा (दैव) हे देवाधिदेव ! (ओथामः^१) इस ओर हम उत्थान करते हैं, यत्न करते हैं।

पति-पत्नी भाव यज्ञ द्वारा स्थिर होता है। अष्टाध्यायी में एक सूत्र है—“पत्युर्नो यज्ञसंयोगे”। इस से प्रतीत होता है कि यज्ञ-संयोग के द्वारा स्त्री पत्नी बनती है। इस यज्ञ-संयोग का वर्णन इस मन्त्र में हुआ है। विवाहाग्नि में यह यज्ञ किया जाता है।

यहां यह भी जानना चाहिए कि घर में नौकरनियां भी रहती हैं, और अन्य सम्बन्धी स्त्रियां अर्थात् बहिनें तथा माता आदि भी रहती हैं। इन के साथ ही साथ घर में पत्नी भी रहती है, तो कैसे ज्ञात हो कि इन में से कौन सी तो पत्नी है और सी पत्नी नहीं। इस के लिए इस मन्त्र में एक वैदिक चिन्ह दर्शाया गया है जिस के होते कोई स्त्री पत्नी होती है, अन्यथा नहीं होती।

जो स्त्री जिस पुरुष की सङ्गिनी हो कर गृह्ययज्ञों अर्थात् बच्चों के संस्कार-कर्मों, पञ्चमहायज्ञों, तथा पाश्विक-यज्ञों आदि के करने में सहयोग देती है वह उसकी पत्नी कहलाती है। यह भाव “यक्ष्यमाणा” शब्द द्वारा प्रकट हो रहा है।

जैसे कि यज्ञ के करने के लिए, यजमान और उसकी पत्नी, होता आदि ऋत्विजों का वरण करते हैं, और इन का वरण कर लेने पर जो २ ऋत्विक् जैसे २ कर्म को यज्ञ में करता है उस २ कर्म के द्वारा वह २ ऋत्विक् पहिचान लिया जाता है, “होता” का कर्म करने से एक ऋत्विक् “होता” जाना जाता है, उद्गाता का कर्म करने से दूसरा ऋत्विक् उद्गाता जाना जाता है, अध्वर्यु का कर्म करने से तीसरा ऋत्विक् अध्वर्यु जाना जाता है और ब्रह्मा का कर्म करने से

चौथा ऋत्विक् ब्रह्मा जाना जाता है, इसी प्रकार घर के यज्ञों में सहयोग देने और न देने से यह जान लिया जाता है कि अमुक स्त्री पत्नी है और अमुक पत्नी नहीं है ।

पत्नी का यह लक्षण जिस उपदेष्टा ने उपदिष्ट किया है उसे मन्त्र में “जरितः” पद द्वारा सूचित किया है । “जरितः” का अर्थ है स्तवन करने वाला, कथन करने वाला, उपदेश देने वाला, वस्तुओं के गुणधर्मों तथा लक्षणों का कहने वाला । परमात्मा ने वेदों द्वारा धर्म-कर्म का उपदेश दिया है । इस जरिता को मन्त्र में देव भी कहा है । देव का अर्थ है “देवों में रहने वाला और उन में प्रेरणा करने वाला” । अर्थात् देवों का अधिष्ठाता देवाधिदेव परमात्मा ।

स्त्रीहृदय का चित्रण

(२४८) पुरुरवो मा मृधा मा प्रपप्तो मा

त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन् ।

न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति

सालावृकाणां हृदयान्येता ॥

(अथर्व० १०।६५।१५)

(पुरुरवः!) हे महागर्जना करने वाले वीर पति ! (मा मृधा:) तू आत्मघात की मृत्यु को न प्राप्त हो, (मा) न (प्रपप्तः) तेरा पाप में पतन हो, (वृकासः) भेड़ियों की न्याईं वर्तमान जो (अशिवासः) अशिव-संकल्प हैं वे (त्वा) तुझे (मा उ क्षन्) न खा जाय । (न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति) स्त्रियां परपुरुषों के साथ मैत्री नहीं करती हैं, (साला-वृकाणाम्) क्योंकि साला अर्थात् घर के वृकों अर्थात् भेड़ियों के (हृदयानि एता) ये मानों हृदय हैं ।

पतिव्रता पत्नी पति की सदैव रक्षा करती है । पति यदि आपत्ति या दुःख के कारण आत्म-घात करना चाहे तो पतिव्रता स्त्री

पुरु (बहुत) + रव (शब्द) करने वाला ।

धैर्य बन्धा कर उसे इस कुकृत्य से रोकती है । पतिव्रता पत्नी कहती है कि हे पति ! तू ऐसे पापकर्मों में प्रवृत्त न हो । ये पापकर्म अशिव हैं, भेड़ियों की न्याईं मनुष्यों को खा जाने वाले हैं ।

पत्नी कहती है कि पत्नी का सच्चा प्रेम केवल अपने ही पति के साथ होता है । पतिव्रता पत्नियां परपुरुषों के साथ अनुचित मात्रा के सखिभाव में नहीं रहतीं । ये तो मानों सालावृकों के हृदयों की न्याईं होती हैं । सालावृक का अर्थ है शाला का भेड़िया, अर्थात् कुत्ता । यहाँ पत्नियों को कुत्तों से उपमा नहीं दी गई, अपितु कुत्तों के हृदयों से उपमा दी गई है । कुत्ते चाहे अष्ट प्राणी हैं परन्तु कुत्तों के हृदय बड़े पवित्र होते हैं । कुत्तों के हृदय सदा स्वामी-भक्त होते हैं । कुत्तों की स्वामिभक्ति घर २ में प्रसिद्ध है । पत्नी कहती है कि स्त्रियाँ तो इन हृदयों की न्याईं होती हैं, अर्थात् सदा स्वामिभक्त होती हैं ।

पत्नी सुधार

(२४६) निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं निराति सुवामसि ।

अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अराति नयामसि ॥

(अथर्व० १।१८।१)

(ललाम्यम्) अधिक सुन्दर रहने के इच्छा रूपी (लक्ष्म्यम्) बुरे लक्षण को (निः सुवामसि) हम पत्नी से पृथक् करते हैं, (अरातिम्^१) न दान करने की भावना को (निः) हम पत्नी से दूर करते हैं । (अथ) और (या^१ = यानि) जो (भद्रा = भद्रानि) भद्र अर्थात् कल्याण के

१ अराति = अ + रा (दान) + ति ।

२ मन्त्र के तीसरे पाद में “या, भद्रा, तानि”,—ये तीनों पद नपुंसकलिङ्ग में हैं । इस लिये “लक्ष्म्यं, ललाम्यं” को भी नपुंसकलिङ्ग का माना है । साथ ही “या, भद्रा, तानि”—इन का विशेष्य-पद लक्ष्म्यानि समझना चाहिये ।

लक्षण हैं (तानि) उन लक्षणों को (नः प्रजायै) हम अपनी प्रजा को उत्तम बनाने के लिये (नयामसि) पत्नी में लाते हैं, (अरातिम्) ये भद्र-लक्षण शत्रुरूप हैं, बुरे लक्षणों के ।

ललाम^१ का अर्थ है सुन्दर । साधारण रूप से सुन्दर बन कर रहता उत्तम है । परन्तु अपने शरीर को सुन्दर बनाए रखने की कुप्रवृत्ति उत्तम लक्षण नहीं है । इस से जीवन के बिगड़ने की सम्भावना रहती है । पत्नी में यह कुप्रवृत्ति न होनी चाहिये ।

इसी प्रकार अराति^२ अर्थात् अदान-का-भाव भी बुरा लक्षण है । वैदिक गृहस्थ-जीवन का विशाल-भवन दान की नींव पर स्थित है । देवयज्ञ, अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ आदि उत्तम कर्म दान-भाव पर ही आश्रित हैं । बुरे लक्षणों को पत्नी से दूर कर उस में सद्गुणों के बीज बोने चाहियें । पत्नी में सद्गुणों की सत्ता होने से सन्तानें भी भद्र ही उत्पन्न होती हैं । जैसे २ भद्रगुणों के संस्कार पड़ते जाते हैं वैसे ही वैसे अभद्र-दुर्गुण स्वयमेव नष्ट होते जाते हैं । दुर्गुणों को छुड़ाने पर जोर देने के स्थान में पत्नी में भद्रगुणों को बो देने की अधिक चिन्ता करनी चाहिये । ये भद्रगुण दुर्गुणों के अराति^३ हैं, दुश्मन हैं । भद्रगुणों के आ जाने से दुर्गुण स्वयमेव नष्ट होते रहते हैं ।

१ ललाम = Charming, beautiful. (आपटे कोष) ।

२ अराति = अ + रा (दाने) + ति ।

३ वैदिक समाज में अदानी को समाज का शत्रु माना है । क्योंकि वैदिक वर्णव्यवस्था का आधार है दान-भाव ।

पत्नी सुधार

(२५०) निररणि सविता साविपत्पदोः
 निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा ।
 निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां
 देवा असाविषुः सौभगाय ॥

(अथर्व० १।१८।२) ॥

(सविता^१) वधू का पिता (पदोः) वधू के पैरों तथा (हस्तयोः) हाथों से (अरणिम्) अरमणीयता को (निर् साविपत्) निकाल देवे, (वरुणः^२ मित्रः अर्यमा) पत्नी को वरण करने वाला या श्रेष्ठ गुणों वाला सखारूप, और आर्यमन वाला पति भी इस के पैरों और हाथों से अरमणीयता को निकाल देवे । इस प्रकार (निर्) जिस के कि पैरों और हाथों से अरमणीयता निकाल दी गई है ऐसी यह वधू, (अस्मभ्यम्) हमारे लिये, (अनुमतिः) अनुकूल-मति वाली हो, (रराणा) तथा रमणीय गुणों से सम्पन्न हो । (इमाम्) रमणीय गुणों वाली तथा अनुकूल-मति वाली इस वधू को (देवाः) समाज के विद्वान् लोग या दिव्य गुण, (सौभगाय) इसके तथा गृह-वासियों के सौभाग्य के लिये, (प्र असाविषुः) प्रेरित करें ।

१ सविता = कन्या का उत्पादक पिता । देखो मन्त्रसंख्या ६, १३, १४.

२ पति वरण करता है । इसलिये उसे “वर” कहते हैं । वरण करने के कारण ही उसे “वरुण” भी कहते हैं । वह श्रेष्ठ होना चाहिये इसलिये भी वह वरुण है । पति और पत्नी परस्पर स्खारूप हैं, इसलिये पति “मित्र” है । पति को “आर्यमन वाला” होना चाहिये, इसलिये वह अर्यमा है ।

वधू के पिता का यह कर्तव्य है कि वह कन्या को विवाह से पूर्व, अच्छे प्रकार, सभ्यता तथा ज्ञान की शिक्षा देवे, ताकि उसके हाथों और पैरों से अरमणीयता दूर हो जाय। हाथों और पैरों की चञ्चलता उनकी अरमणीयता है। इसी प्रकार दृष्टि^१ से न देख कर पैरों को चलाना भी पैरों की अरमणीयता है। वधू का पिता अपनी कन्या को सुशिक्षित कर उसकी इन दोनों अरमणीयताओं को दूर कर दे।

विवाह हो जाने के पश्चात् भी यदि नव-वधू के हाथों और पैरों में अरमणीयता के चिह्न दिखाई दें तो पति अपनी पत्नी की अरमणीयता का प्रेममय उपदेशों द्वारा दूर करे, जैसे कि एक मित्र अपने दूसरे मित्र को सत्पथ पर लाने के लिये उसे प्रेमभरे उपदेश देता है। पत्नी में से अरमणीयता को दूर करने के लिये पति को स्वयं भी अधिक श्रेष्ठ^२ बनने में यत्नवान् होना चाहिये, तथा आर्यमन^३ वाला बनना चाहिये।

नववधू के पतिकुल के सम्बन्धी कहते हैं कि हाथों और पैरों की अरमणीयता से पृथक् हुई हमारी वधू हमारे लिये अनुमति-रूप हो, हम सबके साथ अनुकूल मति बना कर इस कुल में रहने वाली बने। और ऐसे रमणीय गुणों से यह सुभूषित हो।

इस प्रकार नववधू के दिव्य गुण, समाज- और -पतिकुल के देव, अर्थात् समाज के विद्वान् और मातृदेव, पितृदेव तथा आचार्यदेव, इस नववधू के सौभाग्य के लिये तथा पतिकुल के सौभाग्य के लिए, इसे सन्मान पर चलने की प्रेरणा सदा करते रहें।

१ दृष्टिपूर्तं न्यसेत्पादम् ॥ [मनु०]

२ वरुण अर्थात् श्रेष्ठ।

३ अर्यमा अर्थात् आर्यमन वाला।

पत्नी सुधार

(२५१) यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति
 यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा ।
 सर्वं तद्वाचाप हन्मो वयं
 देवस्त्वा सविता सूदयतु ॥

(अथर्व० १।१८।३)

(ते) हे वधू ! तेरी (आत्मनि) आत्मा में, (तन्वाम्) तेरे शरीर में (यत्) जो (घोरम्) घोरता (अस्ति) है, (यद्वा) अथवा (केशेषु) तेरे केशों में (वा) या (प्रतिचक्षणे) तेरी आंखों में जो घोरता है, (तत् सर्वम्) उस सब घोरता को (वाचा) अपनी प्रेमभरी उपदेश वाणियों के द्वारा (वयम्) हम (अप हन्मः) तुझ से दूर कर देते हैं, (सविता देवः) तेरा उत्पादक पितृदेव भी (त्वां) तुझे (सूदयतु) इस कार्य के लिये प्रेरित तथा उत्साहित करे ।

नास्तिकता, अश्रद्धा, असत्यविचार, अज्ञानता आदि आत्मा में रहने वाली घोरता है । अब्रह्मचर्य, व्यभिचार, शरीर की मलिनता, असत्यभाषण आदि दुष्कर्म शरीर में रहने वाली घोरता है । केशों

१ सूद् = To incite, prompt, excite, urge on, animate.

(आपटे कोष) । अथवा सूद्=क्षरणे । धो डालना । तेरा पिता इन दुर्गुणों से तुझे धो डाले । जैसे किसी वस्तु को धो कर उस वस्तु के मल को अलग कर दिया जाता है वैसे ही तेरा पिता तुझे धो डाले, तुझ से दुर्गुणरूपी मल पृथक् कर डाले ।

२ केशों की मल-रूपी-घोरता को दूर करने के लिये कंधे का भी विगान है । देखो मन्त्रसंख्या १३२ ।

का गिरना, इन का समय से पूर्व सुफ़ैद हो जाना, इन में मल तथा जूँ आदि का होना आदि,—केशों में रहने वाली घोरता है । इसी प्रकार दृष्टि की क्रूरता, दृष्टि में प्रेम का न होना, दूसरे को बुरी नज़र से देखना, परपुरुष से प्रीति आदि,—चक्षु' में रहने वाली घोरता है । विवाह के पश्चात् नववधू में यदि कारण-वश ऐसी घोरताएँ प्रतीत हों तो इस कारण नववधू को धमकाना या सताना न चाहिये, अपितु उसे प्रेमपूर्वक समझा कर, उसे प्रेममय सदुपदेश देकर, उसे इन दुर्गुणों से पृथक् करने का यत्न करना चाहिये ।

नववधू की इन घोरताओं को दूर करने के लिये उस के पितृ-देव की भी सहायता होनी चाहिये । जैसे इन घोरताओं को दूर करने के लिये नववधू के पतिकुल के सम्बन्धी यत्नवान् हों वैसे ही नववधू का पिता भी अपना कर्तव्य समझ कर अपनी विवाहित पुत्री की इन घोरताओं को दूर करने में यत्नवान् हो ।

चाईसवां प्रकरण

पाणिग्रहण का स्वरूप

(२५२) यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि ।

प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम् ॥

(अथर्व० ६।८।११)

(यन्ता असि) हे पति ! तू परिवेष्टन^१ करने वाला है, (हस्तौ) तू अपने दोनों हाथों को इस निमित्त (यच्छसे) देता है, (रक्षांसि) इस के अनन्तर तू राक्षसों को (अपसेधसि) दूर करता है । (प्रजाम् धनं च) प्रजा और धन को (गृह्णानः) लेकर (अयम्) यह पति (परिहस्तः) परिहस्त (अभूत्) हुआ है, पत्नी को अपने हाथों का सहारा देने वाला हुआ है ।

“यन्ता” पद में “यम्” धातु है । यम् धातु का अर्थ “परिवेष्टन” भी होता है । परिवेष्टन अर्थात् चारों ओर लपेटना, घेरना । इस मन्त्र में पाणिग्रहण की विधि को अधिक स्पष्ट किया गया है । विवाह की पद्धति में ऋषि दयानन्द पाणिग्रहण के सम्बन्ध में लिखते हैं कि :—

“वर आसन से उठ, पूर्वाभिमुख बैठी हुई वधू के संमुख पश्चिमाभिमुख खड़ा रह कर, अपने वाम हस्त से वधू का दाहिना हाथ चत्ता धर के ऊपर को उचाना, और अपने दक्षिण हाथ से वधू के उठाए हुए दक्षिण-हस्ताञ्जलि अंगुष्ठ-सहित चत्ती ग्रहण कर के वर

१ यम च परिवेषणे । परिवेषणमिह वेष्टनम् । यमयति चन्द्रं, परिवेष्टते इत्यर्थः ॥ (सिद्धान्त कौमुदी) ॥

पाणिग्रहण के ६ मन्त्रों को बोल कर वधू की हस्ताञ्जलि पकड़ के उठावे” ।

इस लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पाणिग्रहण की विधि में वर, वधू के दाहिने हाथ की अञ्जलि के नीचे, पहिले अपना बायाँ हाथ रखता है, और फिर अपने दाएँ हाथ से वधू के दाएँ हाथ की अञ्जलि को उस के अंगुष्ठ-समेत पकड़ता है । इस विधि में वधू का केवल दाहिना हाथ काम में आता है और वर के दोनों हाथ काम में आते हैं । वधू के दाहिने हाथ के नीचे वर का बायाँ हाथ होता है और वर ऊपर से अपने दाएँ हाथ द्वारा वधू के दाएँ हाथ को साङ्गठ पकड़ लेता है । यही परिवेष्टन अर्थात् लपेटना है, वधू के हाथ को अपने दोनों हाथों से लपेटता है । यहां कहा गया है कि वर यन्ता है, लपेटने वाला है, अपने दोनों हाथों द्वारा वधू के दाहिने हाथ को लपेट लेता है ।

इस लपेटने के लिये वर “यच्छसे हस्ती” अर्थात् अपने दोनों हाथों को देता है, काम में लाता है । “यच्छसे” पद में “दा” धातु को “यच्छ” आदेश हुआ २ है । इस लिये “यच्छसे” का अर्थ है “देता है” । “हस्ती” पद में भी द्विवचन है । इसलिये यहां वर के दोनों हाथ समझने चाहिये ।

वर में गुण होना चाहिये राक्षसों को नाश करने का । अथर्व० १४।२।४१ में चास्पई के राक्षसों के नाश का वर्णन हुआ है तथा १४।१।५६ में राक्षसों के हनन का वर्णन हुआ है । इस के लिये देखो मन्त्रसंख्या १०५ तथा ५६ ।

वर के पास प्रजासम्पत्ति तथा धनसम्पत्ति होनी चाहिये । तभी वर को परिहस्त होने का अर्थात् वधू के पाणि के ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त होता है । प्रजासम्पत्ति में गौओं, घोड़ों आदि का

होना, माता-पिता भाई-बहिन तथा नौकर आदि का होना सम्मिलित है । परिहस्त का अर्थ होता है “परिदत्तौ हस्तौ येन सः परिहस्तः”। अर्थात् जिस ने लपेटने के लिये अपने दोनों हाथ बधू को समर्पित किये हैं वह वर “परिहस्त” है ।

पाणिग्रहण का रहस्य

(२५३) मम त्वा दोषणिश्रिषं कृणोमि हृदयश्रिषम् ।

यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥

(अथर्व० ६।६।२) ॥

(मम) मेरी (दोषणिश्रिषम्) बाहुओं में आश्रय पाई हुई (त्वा) तुझ को हे पत्नी ! मैं (हृदयश्रिषम्) अपने हृदय में आश्रय पाने वाली (कृणोमि) करता हूँ, (यथा) ताकि (मम) मेरे (क्रतौ) कर्मों में (असः) तू विद्यमान रहे, (मम) और मेरे (चित्तम्) चित्त के (उप+अयसि) समीप तू आ जाय ।

पति विवाहसंस्कार में पाणिग्रहण की विधि के द्वारा अपने हाथों या बाहुओं का सहारा पत्नी को देता है । इन हाथों या बाहुओं का सहारा देता हुआ पति कहता है कि हे पत्नी ! मैं तुझे केवल अपने हाथों या बाहुओं का ही सहारा नहीं देता, अपितु इस बाह्य-पद्धति द्वारा मैं तुझे हृदय का भी आश्रय देता हूँ, तुझे मैं अपने हृदय की निवासिनी बनाता हूँ, अपनी हृदय-भूमि में विचरने वाली बनाता हूँ । इस कथन द्वारा पति अपनी पत्नी के प्रति अपने हार्दिक प्रेम को प्रकट करता है और उसे सदा आश्रय देने का वचन देता है ।

पति यह भी कहता है कि तू मेरे कर्मों में विद्यमान रह । कोई भी कर्म करता हुआ मैं तुझे भूलता नहीं हूँ । प्रत्येक कर्म को करते हुए मैं

तेरी स्मृति को सदा जागृत रखता हूँ। इस प्रकार अपने चित्त के समीप मैं तुम्हें रखता हूँ, मैं चित्त से भी किसी अन्य स्त्री का चिन्तन नहीं करता, तू सदा मेरे चित्त-मन्दिर की देवी शोभा है।

पतिपत्नी में परस्पर दोषदृष्टि

(२५४) वाञ्छ मे तन्वं पादौ वाञ्छाक्ष्यौ वाञ्छ सक्थ्यौ ।

अक्ष्यौ वृषण्यन्त्याः केशाः मां ते कामेन शुष्यन्तु ॥

(अथर्व० ६।६।१) ॥

हे पत्नी ! (मे) मेरे (तन्वम्) शरीर को (वाञ्छ) तू चाह, (पादौ) मेरे दानों पैरों को तू चाह, (अक्ष्यौ) मेरी दोनों आंखों को (वाञ्छ) तू चाह, (सक्थ्यौ) मेरी दानां जंघाओं को तू चाह । (वृषण्यन्त्याः) बलशाली मुझ पति को चाहने वाली (ते) जो तू मेरी पत्नी है उसके (अक्ष्यौ) आंख आदि अवयव (केशाः) और केश (माम्) तुम्हें (कामेन) उसकी कामना के द्वारा (शुष्यन्तु) सुखावें ।

परस्पर की परीक्षा के अनन्तर, जब वर और वधू का परस्पर विवाह हो जाय तो विवाह के अनन्तर, न तो पत्नी ही पति के शरीर में या अंगों में दोषदर्शन करे और न पति पत्नी के शरीर में या अंगों में या केश आदि में दोष दर्शन करे। विवाह के अनन्तर पत्नी अपने पति के देह के सम्बन्ध में तथा उसके अंग २ के सम्बन्ध में सदा प्रेमदृष्टि करे और इसी प्रकार पति भी अपनी पत्नी के शरीर तथा अंगों के सम्बन्ध में प्रेमदृष्टि करे। विवाह के अनन्तर एक दूसरे के अंगों के सम्बन्ध में दोषदर्शन पारस्परिक-प्रेम का विधातक होता है।

पति यह भी कहता है कि हे पत्नी ! यदि तू मेरी वास्तविक

चाहना करेगी तो स्मरण रख कि तेरे प्रत्येक अवयव में मेरी प्रेम-दृष्टि होगी, और तेरा प्रत्येक अवयव तेरी कामना के द्वारा मुझे सुखा देगा। अर्थात् किसी अन्य स्त्री के प्रति मेरी चाहना के स्रोत को बहने न देगा, उसे मूलतः सुखा देगा।

पतिपत्नी में पारस्परिक प्रसन्नता

(२५५) अद्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम् ।

अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति ॥

(अथर्व० ७।३६।१)

(नौ) हम दोनों की अर्थात् पति और पत्नी की (अक्षयौ) दोनों २ आँखें ऐसी हों कि उन में (मधुसंकाशे) माधुर्य का प्रकाश हो रहा हो, (नौ) हम दोनों के (अनीकम्) मुख एक दूसरे को देख कर (समञ्जनम्^१) इकट्ठे खिल उठें। वे दोनों एक दूसरे को कहें कि (माम्) मुझ को तू (हृदि) अपने हृदय के (अन्तः) अन्दर (कृणुष्व) कर लें। (नौ) हम दोनों का (मनः) मन (सह) एक (असति) हो जाय।

पति-पत्नी की आँखों में धारता न हो, अपितु मिठास हो। उन का मुख एक दूसरे को देख कर खिल उठे। वे एक दूसरे को अपने २ हृदय में धारण करें और एक दूसरे को कभी भूलें नहीं। वे ऐसे हो जाय मानों कि उन के दो शरीरों में एक ही मन काम मर रहा हो।

१ संकाश (सम्यक् रूप से) + काश् (दीप्ति, प्रकाश)। जिन आँखों में माधुर्य का सम्यक् प्रकाश हो ऐसी।

२ सम् + अञ्जु (व्यक्ति, प्रचण, कान्ति आदि)।

पतिपत्नी में समन्वय

(२५६) यथायं बाहो अश्विना समैति सं च वर्तते ।

एवा मामभि ते मनः समैतु सं च वर्तताम् ॥

(अथर्व० ६।१०२।१)

(यथा) जैसे (अयम्) यह (बाहः) भार ढोने में समर्थ घोड़ा, (अश्विना) घोड़ा हाँकने वाले के साथ (सम् ऐति) समन्वय में रहता है, (च) और (सं वर्तताम्) समन्वय में वर्तता है, (एवा) इसी प्रकार हे पत्नी ! (ते मनः) तेरा मन (माम् अभि) मुझ पति की ओर (सम् ऐतु) समन्वय में रहे, (च) और (सं वर्तताम्) समन्वय में वर्ते ।

पत्नी के मन का अनुकूलन

(२५७) आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ठ्यामिव ।

रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः ॥

(अथर्व० ६।१०२।२)

(राजाश्वः) राजा का घोड़ा या श्रेष्ठ घोड़ा (इव) जैसे (पृष्ठ्याम्) अपनी पीठ में लगी गाड़ी को खींचता है, इसी प्रकार (अहम्) मैं पति (ते मनः) हे पत्नी ! तेरे मन को (आ खिदामि) अपनी ओर खींचता हूँ । (रेष्मच्छिन्नम्) अव्यक्त शब्द करने वाली प्रचण्ड वायु द्वारा कटा हुआ (तृणं यथा) तिनका जैसे उस प्रचण्ड वायु में लिपटा रहता है, इसी प्रकार हे पत्नी ! (ते मनः) तेरा मन (मयि) मुझ पति में (वेष्टताम्) लिपटा रहे ।

१ अश्विना=अश्विन् (अश्व + इन्) का तृतीया विभक्ति का एकवचन ।

२ खिद् दैन्ये । दैन्यावस्था में लाता हूँ ।

३ रेष्मा = रेष्ट अव्यक्ते शब्दे । अव्यक्त शब्द करने वाला वायु ।

पति के उपहारों में प्रसन्नता

(२५८) आज्ञनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च ।

तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद् भरे ॥

(अथर्व० ६।१०।३)

(आज्ञनस्य) सुरमे तथा उवटने के, (मदुघस्य) मधु तथा मधु-छत्ते के, (कुष्ठस्य) कुठ आदि औषध के, (नलदस्य च) और खस आदि पदार्थों के (अनुरोधनम्) उपहारों को मैं पत्नी,—(तुरः^२) उद्योगी तथा (भगस्य) भाग्यवान् पति के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (उद् भरे) स्वीकार करती हूँ ।

पत्नी को चाहिये कि वह पति द्वारा दिये गये उपहारों की सदा सराहना किया करे, और चाहना पूर्वक सदा उन उपहारों का स्वागत किया करे । इस से परस्पर में प्रेम बढ़ता रहता है ।

पतिव्रत और पत्नीव्रत धर्म

(२५९) स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः

पश्यदक्षएवान् न वि चेतदन्धः ।

कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता

विजानात् स पितुष्पितासत् ॥

(अथर्व० ६।११।५)

(मे) मेरे प्रति (आहुः) विद्वान् लोग कहते हैं कि (स्त्रियः) स्त्रियों को (सतीः) अर्थात् पतिव्रता होना चाहिये, (तान् पुंसः)

१ अनुरोध के रूप में दिये गये उपहार ।

२ तुरः = त्वरा वाला जो पति है उस के ।

और उन पुरुषों को भी सत् अर्थात् पत्नीव्रत होना चाहिए। (अक्षपवान्) आँखों वाला व्यक्ति (पश्यत्) इस सिद्धान्त को प्रत्यक्ष देखता है, जानता है, (अन्धः) अन्धा व्यक्ति (न) नहीं (विचेतत्) इस सिद्धान्त को जानता। (यः पुत्रः) इसी प्रकार जो पुत्र (कविः) विद्वान् और मेधावी बन जाता है (सः) वह भी (ईम्) इस सिद्धान्त को (आचिकेत) अच्छे प्रकार जान लेता है, (यः) जो (ताः) उन स्त्रियों तथा पुरुषों के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त को जानता है (सः) वह (पितुः पिता) पिता का पिता (असत्) होने का अधिकारी होता है।

वेद ने उपदेश दिया है कि स्त्रियों को सती अर्थात् पतिव्रता होना चाहिए और पुरुषों को सत् अर्थात् पत्नीव्रत होना चाहिए। जिनकी कि ज्ञान-की-आँखें हैं वे इस सती-और-सत् रहने के सिद्धान्त को जानते तथा मानते हैं। परन्तु जो अन्धे हैं, जिनकी कि ज्ञान-की-आँखें नहीं खुलीं, वे स्वेच्छाचारी हो कर गृहस्थधर्म को बिगाड़ देते हैं, और नानापत्नियों के तथा तलाक आदि के विषम सिद्धान्तों द्वारा संसार को भी अन्धा बनाते हैं।

पुत्रों और पुत्रियों को ऐसे और इसी प्रकार के अन्य सच्चे वैदिक सिद्धान्तों का उपदेश दे कर उन्हें, इस सम्बन्ध में, विद्वान् तथा मेधावी बनाना चाहिए, ताकि वे भी इन वैदिक सिद्धान्तों को जान जाय और तदनुकूल आचरण करने लगें।

जो इस सिद्धान्त के मानने वाले हों वे गृहस्थ में प्रवेश पा कर पुत्रों तथा पौत्रों वाले बनें। “पितुः पिता” का अर्थ है “पिता का पिता” अर्थात् दादा। यहां “पितुः पिता” द्वारा दादा-दादी दोनों का ग्रहण है।

पत्नीव्रत प्रतिज्ञा

(२६०) अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वदः ।

ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥

(अथर्व ७ ७।३८।४) ॥

पत्नी कहती है कि (अहम्) मैं (वदामि) कहती हूँ कि (त्वम्) हे पति ! तू (न इत्) अकेले नहीं, अपितु (सभायाम्) विद्वानों तथा परिचितों के सभामण्डप में (अह) निश्चयपूर्वक (त्वम्) तू (वद) प्रतिज्ञा के रूप में कह कि (मम) मेरा (इत्) ही (त्वम्) तू (केवलः) अकेला (असः) होगा, रहेगा, (अन्यासाम्) मुझ से भिन्न और स्त्रियों का (न कीर्तयाः चन) तू कभी कीर्तन न करेगा, कथन न करेगा, उन के साथ पतिपत्नी के प्रेमभाव में न रहेगा ।

इस मन्त्र में विद्वानों की सभा में पहिले पत्नी अपने नव-विवाहित पति के प्रति कहती है कि तू मुझे वचन दे कि तू मेरा ही अकेला बन कर रहेगा और मुझ से भिन्न किसी स्त्री के साथ गृहस्थ-सम्बन्ध न करेगा ।

पति जब पत्नी को इस प्रकार के वचन दे देता है तत्पश्चात् पति भी पत्नी से इस प्रकार का आश्वासन मांगता है, वह यह कि तू भी केवल मेरी ही पत्नी बन कर रहेगी और अन्य किसी पुरुष के साथ अनुचित सम्बन्ध न रखेगी ।

पति और पत्नी का चुल्ला एक

(२६१) यद्यद्जाया पचति त्वत् परः परः

पतिर्वा जाये त्वत् तिरः ।

सं तत् सृजेथां सह वां तदस्तु

संपादयन्तौ सह लोकमेकम् ॥

(अथर्व० १२।३।३६)

हे पति ! (जाया) तेरी पत्नी (त्वत्) तुझ से (परः परः) परे २ रह कर (यत् यत्) जो २ (पचति) पकाती है, (जाये) और हे पत्नी ! (त्वत्) तुझ से (तिरः) छिप कर (पति वां) अथवा तेरा पति जो २ कुछ पकाता है, (तत्) उसे, (सं सृजेथाम्) इकट्ठा कर दो, मिलादो, (तद्) वह पकाना आदि काम (वांम्) तुम दोनों का (सह) एक साथ (अस्तु) हुआ करे, (एकं लोकम्) एक गृहस्थ-लोक को (सह) इकट्ठे (संपादयन्तौ) तुम दोनों सम्पादन करने वाले होओ ।

विवाह के बाद पति और पत्नी का एक चुल्ला होना चाहिये । एक दूसरे से छिपा कर, या वैमनस्य की वजह से, पृथक् २ चुल्ले तपाना इन दोनों के लिये उचित नहीं । इन दोनों का खाना-पीना इकट्ठा होना चाहिये । क्योंकि इन दोनों ने व्रत लिया है कि ये दोनों मिल कर गृहस्थ-लोक का सम्पादन करेंगे ।

स्त्रीसत्कार तथा युगधर्मविस्तार

(२६२) सूर्यो देवीमुपसं रोचमानां

मय्यो न योषामभ्येति पश्चात् ।

यत्रा नरो देवयन्तो युगानि

वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम् ॥

(अथर्व० २०।१०७।१५)

(रोचमानाम्) चमकती हुई (देवीम्) और दिव्यगुणों वाली (उषसम्) उषा के पीछे २, (सूर्य अभ्येति) सूर्य आता है, (न) जैसे कि

(मर्यः) पुरुष अर्थात् पति (योषां पश्चात् अभ्येति) अपनी पत्नी के पीछे २ आता है । (यत्र) जिस गृहस्थाश्रम में कि (नरः) नर-नारी (देवयन्तः) देवों के आचरणों को करते हुए (युगानि) युगधर्मों का (वितन्वते) विस्तार करते हैं, और (प्रति भद्राय) प्रत्येक भद्र व्यक्ति के प्रति (भद्रम्) भद्र-व्यवहार करते हैं ।

गृहस्थ-धर्म में पति को चाहिये कि वह अपनी पत्नी का सदा सत्कार करे । चलने में, घर में आने तथा घर से बाहर जाने में पत्नी के पीछे २ पति चला करे । इस से पत्नी का सत्कार होता है । देखो सूर्य-पति भी अपनी उषा-पत्नी के पीछे २ चलता है । प्रातः काल पहिले उषा का आगमन होता है और उस के पीछे २ सूर्य का आगमन होता है ।

पत्नी को मैला-कुचैला न रहना चाहिये । सदा सफ़ाई द्वारा, तथा स्नान और वस्त्र-शुद्धि आदि द्वारा, पत्नी को “रोचमाना” बनना चाहिये । साथ ही दिव्यगुणों को धारण कर उसे सच्च्ची देवी बनना चाहिये । तभी वह सत्कार-भाजन बन सकती है ।

गृहस्थ में रह कर नर-नारी को युगधर्मों का विस्तार करना चाहिये । पति और पत्नी,—यह एक युग है, युगल है, जोड़ा है । इन के परस्पर के प्रति अपने २ धर्म हैं । भाई-बहिन,—यह दूसरा युग है, युगल है, जोड़ा है । इन के परस्पर के प्रति अपने २ धर्म हैं । माता-पुत्र तथा पिता-पुत्र,—ये भी दो युग हैं, जोड़े हैं । इन के परस्पर के प्रति अपने २ धर्म हैं । गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा, सेव्य-सेवक, स्वामि-भृत्य आदि नाना युग हैं, जोड़े हैं । इन के भी परस्पर के प्रति अपने २ धर्म हैं । गृहस्थ में रह कर इन सब युगधर्मों का विस्तार करना चाहिये ।

गृहस्थ-धर्म में यह भी ख्याल करना चाहिये कि भद्र-व्यक्ति के प्रति भद्रता का व्यवहार हो । भद्र के प्रति अभद्रता का व्यवहार कभी न होना चाहिये ।

तेईसवां प्रकरण

नाना सन्तानोत्पादन में शर्त

(२६३) यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम् ।

ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता ॥

(अथर्व० ६।१३।३)

(यद्) जो (धावसि) तू दौड़ सकता है (त्रियोजनम्) तीन योजनों तक, (पञ्चयोजनम्) या पाँच योजनों तक, (आश्विनम्) जैसे कि अश्व दौड़ सकता है, (ततः) और वहाँ से (त्वम्) तू (पुनः) फिर (आ + अयसि) आ भी सकता है, तब तू (नः पुत्राणाम्) हमारे पुत्रों का (पिता) पिता (असः) हो सकता है ।

मन्त्र में नाना पुत्रों के पिता होने के लिये, अर्थात् नाना पुत्रों के उत्पादन का अधिकार प्राप्त करने के लिये, एक बड़ी कड़ी शर्त रखी गई है । वह यह है कि शरीर की शक्ति का पूर्ण विकास होना, शरीर का हृष्ट-पुष्ट तथा बलिष्ठ और ब्रह्मचर्य से युक्त होना । तभी सम्भव है कि पिता बनने वाला व्यक्ति, घोड़े की न्याईं एक दिन में तीन योजन या पाँच योजन दौड़ सके, और इतनी दूर पहुँच कर वहाँ से फिर वापिस लौट भी सके । योजन चार कोसों के बराबर होता है । इसलिये ३ योजन १२ कोसों के बराबर हैं, और ५ योजन २० कोसों के बराबर हैं ।

पुत्रोत्पादन के साधन

(२६४) शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम् ।

तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वाभरामसि ॥

(अथर्व० ६।१।११) ॥

(शमीम्) शान्त स्वभाव वाली स्त्री पर (अश्वत्थः^१) अश्व की शक्ति वाला पुरुष (आरूढः) जब आरोहण करता है (तत्र) तो इस विधि में (पुंसवनं कृतम्) पुमान् पुत्र की उत्पत्ति होती है । (तद्) यह विधि (वै) निश्चय से (पुत्रस्य वेदनम्) पुत्र प्राप्त कराती है, (तत्) इसलिये ऐसे शक्तिशाली वीर्य को (स्त्रीषु) स्त्रियों में (आभरामसि) हम धारण करते हैं ।

स्त्री यदि शान्त स्वभाव की है, कोमल प्रकृति की है, और पुरुष यदि अश्व की न्याईं शक्ति से सम्पन्न है, तो निश्चित है कि पुत्र उत्पन्न होगा । यदि पति और पत्नी इन उपयुक्त स्वभावों से विरुद्ध स्वभाव वाले हैं तो उस समय पुत्री का जन्म होता है ।

मन्त्र में श्लेषार्थ द्वारा पुत्रोत्पत्ति की एक ओषध का भी वर्णन कर दिया है । शमी वृक्ष पर यदि अश्वत्थ वृक्ष उगा हो तो उस अश्वत्थ वृक्ष के पत्ते, जड़, फूल, फल, छाल आदि को लेकर उसे कूट-पीस कर यदि उसका सेवन किया जाय तो पुत्र उत्पन्न होगा ।

१ अश्वत्थ = अश्व इव तिष्ठतीति । जिसकी स्थिति अश्व की न्याईं हो, जो अश्व की न्याईं सामर्थ्यवान् तथा पुरुषधर्म से युक्त हो ।

पुत्रोत्पादन के साधन

(२६५) यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च ।

तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूयेनुका भव ॥

(अथर्व० ३।२३।४)

(यानि) जिन (भद्राणि) श्रेष्ठ (बीजानि) बीजों को (ऋषभाः) ऋषभगण की ओषधियाँ (जनयन्ति) पैदा करती हैं, (तैः) उन बीजों के सेवन के द्वारा (त्वम् पुत्रं विन्दस्व) तू पुत्र को प्राप्त कर, (सा) वह तू इस के सेवन से (प्रसूः) सुखपूर्वक पुत्र को पैदा करने वाली (भव) बन, (धेनुका भव) और बच्चे को दूध देने वाली बन ।

ऋषभगण की ओषधियों के निर्दुष्ट तथा परिपुष्ट बीजों के सेवन से पुत्र प्राप्त होता है, तथा स्त्री सुखपूर्वक बच्चे को पैदा करती है, और बच्चे के पालन-पोषण के लिए माता की छाती में पर्याप्त दूध प्रकट हो जाता है ।

(२६६) यासां द्यौः पिता पृथिवी माता

समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ।

तास्त्वा पुत्रविधाय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥

(अथर्व० ३।२३।६)

(यासां) जिन (वीरुधाम्) ओषधियों का (पिता) पिता (द्यौः) प्रकाश है, (माता) और माता (पृथिवी) पृथिवी (बभूव) हुई है, (समुद्रः) तथा समुद्र जिन ओषधियों की (मूलम्) जड़ हुआ है, (ताः) वे (दैवीः) दिव्यशक्तियों से उत्पन्न हुई (ओषधयः) ओषधियाँ, (पुत्रविधाय) पुत्रलाभ के लिए, (त्वा) तुम्हें (प्रावन्तु)

प्राप्त हों ।

ऋषभगण की ओषधियों को मन्त्र में “वीरुध्”^१ कहा है । वीरुध् के अर्थ होते हैं बेल, शाखा, वह वृक्ष जो कि काटने पर फिर उग पड़ता है, तथा झाड़ी ।

ऋषभगण की वे ही ओषधियाँ अधिक उपयुक्त होंगी जो कि सूर्य के तथा द्युलोक के खुले प्रकाश और ताप में उत्पन्न हुई हों, पृथिवी के खुले स्थान में उगी हों, तथा जिन की जड़ में समुद्र का जल लगता हो । इस प्रकार ये ओषधियाँ समुद्र के किनारों के आसपास से लेनी चाहियें ।

सन्तानों को भद्र बनाना

(२६७) यद् भद्रस्य पुरुषस्य पुत्रो भवति दाघृषिः ।

तद् विप्रो अब्रवीदु तद् गन्धर्वः काम्यं वचः ॥

(अथर्व० २०।१२८।३)

(भद्रस्य) भद्र (पुरुषस्य) पुरुष का (पुत्रः) पुत्र भी (दाघृषिः) अभद्रता का धर्षण करने वाला (भवति) होता है,—(यत्) यह जो (काम्यम्) सुन्दर (वचः) वचन है, (तद्) उस वचन को (विप्रः) मेधावी ने (अब्रवीद्) कहा है, (उ) निश्चय से (तद्) उस वचन को (गन्धर्वः^२) वेद-वाणी के धारण करने वाले ने कहा है ।

सन्तान को उत्तम बनाने का एक आवश्यक सूत्र इस मन्त्र में

१ वीरुध् = A spreading creeper; A branch, shoot. A plant which grows after being cut. A creeper, a shrub in general. (आपटे कोष) ।

२ गो (वाणी) + धर्व (धारण करने वाला) ।

दिया गया है। वह यह कि “भद्र पुरुष का पुत्र भद्र हुआ करता है”। किस प्रकार से संस्कार, माता-पिता से, सन्तानों में संक्रमण करते हैं,— इस के तत्त्व का निर्देश इस सूत्र में कर दिया है। सन्तान के निमित्त गर्भाधान के समय तथा उस से पूर्व जिस प्रकार का जीवन माता-पिता का होगा उसी प्रकार के संस्कार भी सन्तति में संक्रमण करेंगे,—यह सिद्धान्त सर्वमान्य है।

“दाधृषि” का अर्थ है धर्षण करने वाला। धर्षण करने का अर्थ है दवाना, पराजित करना। “भद्र पुरुष का पुत्र भी दाधृषि होता है”,—इस का अभिप्राय यह है कि “भद्र पुरुष का पुत्र भी अभद्रता को दवाने वाला होता है, अभद्रता को पराजित करने वाला होता है, अर्थात् भद्र होता है।

मन्त्र में “विप्र” तथा “गन्धर्व” शब्दों द्वारा परमात्मा को सूचित किया गया है। क्योंकि वह विप्र अर्थात् मेधावी है तथा वेद-वाणियों को धारण करने वाला है, और उसी परमात्मा ने अपने वेद-काव्य में ऐसे २ सुन्दर वचनों का कथन किया है।

सन्तानों में सद्गुणों के उपाय

(२६८) प्रेतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता ।

अच्छा वीरं नर्यं पंक्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥

(यजु० ३३।८६) ॥

(ब्रह्मणस्पतिः) वेद का रक्षक विद्वान् (प्रेतु) आवे, (सूनृता) सत्य और प्रिय वाणी की (देवी) मूर्तिमयी देवी (प्र...) आवे। (देवाः) ये तथा अन्य भी दिव्य गुण (नः अच्छ) हमें ऐसा पुत्र (नयन्तु) प्राप्त करावें जो कि (वीरम्) वीर हो, (नर्यम्) मनुष्यों में उत्तम हो, (पंक्तिराधसम्) पंक्तियों की सेवा करने वाला

हो, (यज्ञम्) तथा जिसका जीवन यज्ञमय हो ।

गृहस्थ-जीवन में पति यदि वैदिक-धर्म का पालन करने वाला हो, तथा पत्नी यदि सूनता की मूर्ति हो, अर्थात् प्रिय तथा सत्य वाणी को बोलने वाली हो तो उनकी सन्तानें वीर होंगी, धर्मवीर होंगी, शूरवीर होंगी, दानवीर होंगी तथा श्रेष्ठ होंगी, और मनुष्य-समाज की सेवा करने वाली होंगी तथा उनका जीवन यज्ञमय होगा ।

सन्तानों को वैदिक शिक्षा

(२६६) उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये ।

सुमृडीका भवन्तु नः ॥ (यजु० ३३।७७) ॥

(ये) जो (नः) हमारी (सूनवः) सन्तानें हैं वे (अमृतस्य) अमर परमेश्वर की वा नित्यवेद की (गिरः) वाणियों को (उपशृण्वन्तु) अध्यापक आदि के निकट श्रद्धा से सुना करें, वे सन्तानें (नः) हमारे लिये (सुमृडीकाः) उत्तम सुख देने वाली (भवन्तु) होंवें ।

वैदिकशिक्षा, वैदिकस्वाध्याय तथा वैदिकमनन द्वारा सन्तानें उत्तम विचारों तथा उत्तमाचारों वाली होकर स्वयं भी सुखी होती हैं, तथा अपने समग्र परिवार को भी सुखी बनाती हैं ।

आशीर्वाद द्वारा सन्तानों का शासन

(२७०) विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व ।

श्रद्धस्मै नरो वचसे दधातन यदाशीर्दा दम्पती
वाममश्रुतः । पुमान् पुत्रो जायते विन्दते
वस्वधा विश्वाहारप एधते गृहे ॥ (अजु० ८।५)

(विवस्वन्) अविद्यान्धकार को दूर करने वाले (आदित्य) हे आदित्य ब्रह्मचारी ! (एषः सोमपीथः) यह सोमपान (ते) तेरे लिये गृहस्थधर्म में भी नियत है, (तस्मिन्) उस सोमपान में (मत्स्व) तू प्रसन्न रह । (नरः) हे गृहस्थधर्म के नेताओ ! (अस्मै वचसे) इस वचन में (श्रुत् दधातन) श्रद्धा करो (यत्) कि (आशीर्दा दम्पती) आशीर्वाद देने वाले पति-पत्नी (वामम्) सुन्दर फल (अश्नुतः) पाते हैं, अर्थात् (पुमान्) सदा वृद्धिशील (पुत्रः) सन्तान (जायते) उन के पैदा होती है, (वसु विन्दते) और वह सन्तान आध्यात्मिक, विद्या-सम्बन्धी, धन-सम्बन्धी, तथा सद्गुण-सम्बन्धी सम्पत्ति को प्राप्त करती है, (अधा) और (विश्वाहा) सदा (अरपः) पाप-रहित हो कर (गृहे) घर में (एधते) बढ़ती है ।

मन्त्र में उत्कृष्ट कोटि के गृहस्थ का वर्णन है जिस में कि आदित्य^१ कोटि के ब्रह्मचारी तथा सूर्या^२ कोटि की ब्रह्मचारिणियां प्रवेश पाती हैं ।

आदित्य कोटि के ब्रह्मचारी अपने ज्ञान के प्रकाश से अविद्यान्धकार को दूर कर देते हैं । इसलिये इन्हें विवस्वान् भी कहते हैं । विवस्वान् का अर्थ है सूर्य, जो कि अपने प्रकाश से अन्धकार को दूर कर देता है । वि (पृथक्)+वस् (निवास करना)+वान्, अर्थात् जिस सूर्य के आने पर अन्धकार वहां से हट जाता है ।

आदित्य ब्रह्मचारियों ने ४८ वर्षों तक ब्रह्मचर्याश्रम में रह कर सोमपान^३ किया होता है, अर्थात् अपनी वीर्य-शक्ति का सम्पादन किया

१ देखो मन्त्रसंख्या १, २ ।

२ देखो मन्त्रसंख्या १०, १२ आदि ।

३ देखो मन्त्रसंख्या ३, ४ ।

होता है । उन्हें कहा गया है कि तुम गृहस्थ में भी प्रवेश कर अपने सोपान में मस्त रहना, आनन्दित रहना, गृहस्थ में सोमशक्ति का दुरुपयोग न करना ।

उन नेताओं अर्थात् गृहस्थधर्म के नेताओं आदित्य ब्रह्मचारियों के प्रति गृहस्थधर्म के एक व्यवहार के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि “तुम इस कथन में श्रद्धा रखो कि आशीर्वाद देने वाले माता-पिता सदा सुन्दर फल पाते हैं, अर्थात् उन के घरों में वृद्धिशील सन्तानें पैदा होती हैं जो कि सद्गुणों से विभूषित होती हैं, और सदा निष्पाप हो कर बढ़ती रहती हैं” । वर्त्तमान समय में हम देखते हैं कि माता-पिता की आशीर्वाद देने की भावना ढीली पड़ गई है । बच्चों के प्रति कठोर वचन बोलने, उन्हें मारना, उन्हें गाली-गलौच देना,— यह बातें गृहशासन में मुख्य बन गई हुई हैं । हम इन कटु उपायों का अवलम्बन करते हैं, सन्तानें फिर भी बिगड़ती चली जा रही हैं और काबू से बाहिर हो रही हैं । वेद उपदेश देता है कि “तुम सन्तानों को सदा आशीर्वाद ही दिया करो, इस आशीर्वाद के फल सुन्दर होंगे इस में श्रद्धा रखो” । कितने विश्वास से भरा हुआ यह उपदेश है । इस लिये बच्चों के शासन में सदा आशीर्वाद के वचनों का ही प्रयोग करना चाहिये । बच्चों से यदि काम बिगड़ भी जाय तब भी उन्हें आशीर्वाद ही देना चाहिये, जैसे कि परमात्मा तुम्हें धैर्य दे, शक्ति दे, समझ दे कि तू ठीक काम करने वाला बने,—इत्यादि । इस आशीर्वाद की विधि के फल सदैव सुन्दर होंगे ।

पुत्रों में भावनाएं

(२७१) स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु

स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।

विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु

ज्योगेव दशेम सूर्यम् ॥ (अथर्व० १।३।१।४)

(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिए (उत) और (पित्रे) हमारे पिता के लिए (स्वस्ति^१) कल्याण हो, उत्तम स्थिति हो, (गोभ्यः) गौ आदि प्राणियों के लिए कल्याण हो, उत्तम स्थिति हो, (जगते) सम्पूर्ण जगत् के लिए कल्याण हो, उत्तम स्थिति हो, (पुरुषेभ्यः) जगत् के सब मनुष्यों के लिए कल्याण हो, उत्तम स्थिति हो । (नः) हमारा (विश्वम्) सब संसार (सुभूतम्) उत्तम विभूति से युक्त हो, (सुविदत्रम्^२) उत्तम विद्या से सम्पन्न, उत्तम दानी तथा सब का त्राण करने वाला हो, इस प्रकार हम (ज्योक् एव) बहुत दीर्घ काल तक (सूर्यम्) सूर्य का (दशेम) दर्शन कर सकें ।

परिवार के पुत्रों में कैसी भावनाएं जागृत करानी चाहियें इस का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है । यदि हर एक परिवार के पुत्रों में,—पुत्रों और पुत्रियों में, ये भावनाएं जागृत हो जाय तो समग्र संसार का कल्याण हो जाय । वर्तमान समय के पुत्रों और पुत्रियों ने ही बड़े बन कर समाज, राष्ट्र तथा विश्व के रूप में प्रकट होना है । यदि प्रत्येक परिवार के पुत्र और पुत्रियाँ इन सर्वोत्कृष्ट वैदिक-भावनाओं से सुवासित हो जाय तो संसार के दुःख, दारिद्र्य, अज्ञान और परस्पर-विनाश सर्वथा लुप्त हो जाय, और संसार सुखस्थली तथा कल्याणधाम बन जाय ।

परिवार के पुत्र-और-पुत्रियाँ अपने परिवार की माता तथा अपने परिवार के पिता के लिए कल्याण की भावना को प्रकट करते हैं कि

१ स्वस्ति = सु + अस्ति (स्थिति) ।

सुविदत्र = सु + विद् + त्रा । अथवा सु + वि + दा + त्रा ।

“हमारी माता और हमारे पिता के लिए कल्याण हो, उन की उत्तम स्थिति बनी रहे” । यदि परिवार के पुत्र और पुत्रियाँ मिल कर अपनी इस सामूहिक भावना को सदा जागृत रखें तो परिवार के वृद्ध माता-पिता कितने सुखी तथा प्रसन्न रहेंगे इस की कल्पना की जा सकती है, तथा सुखी और प्रसन्न वृद्ध माता-पिता के आशीर्वादों से परिवार-वृक्ष कितना हरा-भरा, पुष्पित तथा सुफलित होगा इस की भी कल्पना की जा सकती है । इस भावना के जागृत रहते परिवार के पुत्र और पुत्रियाँ सदा अपने मातृदेव और पितृदेव की पूजा में तथा उन की आज्ञापालन में तत्पर रहेंगे यह तो सुतरां आशा की जा सकती है ।

परिवार के पुत्र और पुत्रियाँ परिवार में रहने वाली गौश्रों तथा घोड़े आदि पशुश्रों के भी कल्याण तथा उत्तम स्थिति के लिए अपनी हार्दिक भावनाओं को जागृत करते हैं । इस से पशुसेवा का भाव उन में पोषण पाता है । घर के पशुश्रों की सुरक्षा, उन्हें उत्तम खान-पान देना, उन के निवास का उत्तम प्रबन्ध करना, उन्हें नीरोग तथा स्वस्थ बनाए रखने के लिए सदा चिन्ता करना,—ये गुण उन्हीं पुत्रों और पुत्रियों में विद्यमान हो सकते हैं जिन के हृदयों में कि इन के कल्याण करने की भावनाओं के बीज बोए तथा अंकुरित किये गए हैं ।

ये पुत्र और पुत्रियाँ केवल अपने माता-पिता तथा अपने घर के पशुश्रों की ही कल्याणभावना वाले न हों, अपितु समग्र जगत् के कल्याण की भावना वाले हों । समग्र जगत् के सभी माता-पिता तथा सभी पशुपक्षी तथा कीटपतङ्ग कल्याणी हों तथा उत्तम स्थिति वाले हों,—ऐसी वैदिक व्यापक-भावनाओं वाले वैदिकपुत्र और वैदिकपुत्रियाँ होनी चाहियें । वैदिक-सर्वभूत-मैत्री का यही सार है ।

अन्तर्राष्ट्रिय सद्-भावनाओं का वर्तमान समय में भी क्रियात्मक विकास नहीं होने पाया । प्रत्येक समाज के, प्रत्येक धर्म के, प्रत्येक

जाति के, प्रत्येक राष्ट्र के तथा समग्र संसार के पुरुष अर्थात् मनुष्य कल्याण को प्राप्त हो सकें, उत्तम स्थिति को प्राप्त हो सकें—यह कैसी दैवी-भावना है जिस का कि वर्णन इस मन्त्र में हुआ है ।

वेदमन्त्र आगे कहता है कि विश्व अर्थात् समग्र संसार उत्तम विभूति से सम्पन्न हो, उत्तम ऐश्वर्य से युक्त हो, समृद्धिशाली हो, समग्र संसार में उत्तम-ज्ञान तथा उत्तम-विद्या फैले, कोई व्यक्ति शिक्षा और ज्ञान से विहीन न रहे, सब में दान देने का, सात्त्विक दान देने का भाव हो, तथा ज्ञान प्राप्त कर और दान देकर सभी व्यक्ति सबका आण तथा रक्षण करें,—ये भी बहुत ऊँची भावनाएँ हैं ।

अन्त में इस मन्त्र में सबके दीर्घायुष्य की भावना प्रकट की गई है और इस दीर्घायुष्य में संसार के सभी व्यक्ति संसार के सभी पदार्थों का दर्शन तथा भोग कर सकें, यह भावना दर्शाई गई है । संसार के किसी भी सार्वजनिक पदार्थ पर किसी व्यक्ति, समाज, या राष्ट्र की monopoly अर्थात् एकाधिकार न होना चाहिये ।

क्षत्राणी माता की भावनाएं

(२७२) मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट् ।

उताहमस्मि संजया पत्न्यै मे श्लोक उत्तमः ॥

(ऋ० १०।१५।३) ॥

क्षत्राणी माता कहती है कि (मम) मेरे (पुत्राः) पुत्र (शत्रुहणः) शत्रुओं के नाश करने वाले हों, (अथो) और (मे) मेरी (दुहिता) कन्या (विराट्) विशेष दीप्ति वाली, विशेष प्रसिद्ध, क्षात्रधर्म से सम्पन्न, तथा राज्य करने वाली हो । (उत) और (अहम्) मैं भी (संजया अस्मि) सम्यक् विजय प्राप्त करने वाली

हूँ, (पत्न्यौ) और पति के सम्बन्ध में (मे श्लोकः) मेरी कीर्ति (उत्तमः) उत्तम हो ।

वीर क्षत्राणी के ये वचन हैं । वीर क्षत्राणों चाहते हैं कि उसके पुत्र शत्रुओं पर विजय पाने वाले हों तथा उसकी कन्या भी क्षात्रधर्म के गुणों से सम्पन्न होकर राज्य करने तक की योग्यता को प्राप्त करने वाली हो जाय ।

ऐसी क्षत्राणी, स्वयं वीर होती हुई भी, पति के प्रति नम्रभाव से ही रहा करे, पति के सम्बन्ध में वह अपने उत्तम यश को बनाए रखे । वह यह कि अमुक क्षत्राणी अपने पति की आज्ञापालिका है, तथा उसकी सेवा शुश्रूषा करने वाली है ।

मातृस्तन का प्रभाव

(२७३) यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभू-

र्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः ।

येन विश्वा पुण्यसि वार्याणि

सरस्वति तमिह धातवेऽकः ॥

उर्वन्तरिक्तमन्वेमि ॥ (यजु० ३८।५) ।

(सरस्वति) हे विदुषी स्त्री ! (यः) जो (ते) तेरा (स्तनः) स्तन (शशयः) बच्चे को सुलाने वाला है, (यः) जो (रत्नधाः) रमणीय गुणों का स्थापन करने वाला है, (वसुविद्) सद्गुणरूपी सम्पत्तियों का देने वाला है, (यः) जो (सुदत्रः) उत्तम गुणों का देने वाला है, (येन) जिस स्तन द्वारा (विश्वा वार्याणि) सब वरणीय गुणों का (पुण्यसि) तू पोषण करती है, (तम्) उस स्तन को (इह) इस गृहस्थाश्रम में (धातवे) बच्चे

को पिलाने के लिये (अकः) तूने किया है । (उरु) विस्तृत (अन्त-
रिक्षम्) आकाश में (अन्वेमि) मैं प्राप्त होता हूँ ।

विद्या में उन्नत स्त्री को सरस्वती कहते हैं । हिन्दी और
संस्कृत के वर्तमान साहित्यों में भी सरस्वती को विद्या की अधिष्ठात्री
देवता माना है । महाविदुषी को कहते हैं कि यह सरस्वती का
अवतार है ।

सरस्वती जब अपने शिशु को अपने स्तनों का पान कराया
करे तब अर्पण पुनीत भावों और विचारों तथा नानाविध सद्गुणों का
आधान, अपने शिशु में, अपने स्तन्यपान द्वारा कराया करे ।

माता के स्तन को पीता २ वच्चा सुख की नींद सो जाता है ।
स्तन वच्चे को सुख देने वाला है, वच्चे में नाना सद्गुणरूपी रत्नों
का आधान करने वाला है, सद्गुणों की सम्पत्ति को प्राप्त कराने
वाला, तथा सब प्रकार के श्रेष्ठ गुणों तथा श्रेष्ठ आचारों का परि-
पोषण कराने वाला है ।

पति अपनी सरस्वती-पत्नी के प्रति कहता है कि मैं गृहस्थ में
प्रवेश पाकर विस्तृत आकाश में घूमने वाला अपने आपको अनुभव
करने लगा हूँ । पहले मैं संकुचित क्षेत्र में निवास करता था, अब
गृहस्थ धारण कर मैं विस्तृत क्षेत्र में विचरने वाला बन गया हूँ ।
क्योंकि गृहस्थ में अतिथि आदि के सेवन द्वारा गृहस्थी के जीवन का क्षेत्र
पर्याप्त विस्तृत हो जाता है ।

सन्तानसुधार

(२७४) श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः ।

प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते म्रियः

तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता ॥

(अथर्व० ४।३७।११)

(सर्वकेशकः) जिस के समग्र शरीर पर केश हैं ऐसा (एकः) कोई तो (श्वा इव) कुत्ते की न्याई, (एकः) और कोई (कपिः इव) बन्दर की न्याई, (कुमारः) कुत्सित मार वाला अर्थात् कुत्सित काम-वासना वाला होता है । (गन्धर्वः) वह सुगन्ध आदि लगा कर (दृशः प्रिय इव) देखने में प्रिय सा (भूत्वा) हो कर (स्त्रियः) नाना स्त्रियों के साथ (सचते) भोग सम्बन्ध करता है । (तम्) ऐसे व्यक्ति को (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं, (वोर्यावता ब्रह्मणा) शक्तिशाली वेद के द्वारा, शक्तिशाली वैदिक ज्ञान के प्रदान के द्वारा ।

जिन के समग्र शरीर पर अधिक रोम होते हैं वे कुत्सित काम-वासना वाले होते हैं,—ऐसा भाव इस मन्त्र में प्रकट किया गया है । गृहस्थधर्म की दृष्टि से ऐसे व्यक्ति श्रेष्ठ नहीं हैं । मनुस्मृति में भी विवाह में “रोमश” अर्थात् अधिक रोम वाले व्यक्ति त्याज्य समझे गये हैं । रोमश पुरुष और अतिलोमा स्त्री दोनों ही विवाह सम्बन्ध में गृहीत हैं ।

कुत्सित कामवासना में दृष्टान्त-रूप में कुत्ते और बन्दर का वर्णन मन्त्र में किया गया है । “सर्वकेशक” व्यक्तियों में इन पशुओं की सी कामवासनाएँ जागृत रहती हैं ।

ऐसे व्यक्ति सज-धज कर तथा आँखों को प्रिय लगाने वाला रूप बना कर और सुगन्धित पदार्थों से अपने आप को सुवासित कर के नाना स्त्रियों को लुभाते रहते हैं ।

ऐसे व्यक्तियों का नाश वेदोक्त विधियों द्वारा करना चाहिये । वेदोक्त विधियाँ बहुत शक्तिशाली हैं,—ऐसा इस मन्त्र में वर्णन किया गया है । वेदोक्त रहन-सहन, व्रतों तथा उपदेशों द्वारा ऐसे व्यक्तियों की दुष्ट वासनाओं को दूर करना चाहिये ।

१ ब्रह्म = वेद । यथाः—अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुः सामब्रह्मणम् ॥ मनु. अ. ३, श्रौ. २३ ॥

चौबीसवां प्रकरण

पत्नी का सम्पत्ति में हक्क

(२७५) तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः ।

तासां या स्फातिमत्तमा तथा त्वाभि मृशामसि ॥

(अथर्व० ३।२४।६)

(गन्धर्वाणाम्) गो अर्थात् पृथिवी का जो धारण करने वाले हैं उन के (तिस्रः मात्राः) तीन हिस्से हैं, (गृहपत्न्याः) और गृहपत्नी के (चतस्रः) चार हिस्से हैं । (तासाम्) उन दो प्रकार के हिस्सों में (या स्फातिमत्तमा) जो बड़ा हिस्सा है (तथा) उस हिस्से के साथ, हे गृहपत्नी ! (त्वा) तेरा (अभिमृशामसि) हम सम्बन्ध करते हैं ।

इस मन्त्र में, अचल-सम्पत्ति जो कि भूमि है उस की उपज के विभाग का निर्णय किया गया है । गृहस्वामी के नाम पर जो भूमि हो उस से जो उपज हो उस में से तीन हिस्सों के हक्कदार वे व्यक्ति हैं जो कि पृथिवी का धारण-पोषण करने वाले हैं, अर्थात् मजदूर तथा किसान हैं, जिन्होंने कि पृथिवी को जोता है, उस में बीज बोया है, खेती की रक्षा की है तथा उसे काटा है, तथा अन्य प्रकार का परिश्रम इस सम्बन्ध में किया है । इन किसानों तथा मजदूरों को इस उपज में से तीन हिस्से दे देने चाहियें । तथा उपज में से चार हिस्सों पर गृहपत्नी का हक्क है । वह इन चार हिस्सों की स्वामिनी है । पति के स्वर्गवास होने की अवस्था में भी उस के बाल-बच्चे तथा अन्य निकट सम्बन्धी गृहपत्नी से उस का यह नियत हक्क छीन नहीं सकते ।

अथर्व० ३।२६।१ में लिखा है कि राजा लोग इष्ट और आपूर्त का १६वां हिस्सा लगान के रूप में लेंगे। इस मन्त्र की आज्ञा के अनुसार खेती की उपज का १६वां हिस्सा लगान के रूप में राजा का है। अतः प्रतीत होता है कि खेती की उपज के १६ हिस्से करने चाहियें। जिस में से १ हिस्सा लगान का समझना चाहिये, ३ हिस्से मजदूरों तथा किसानों के, ४ हिस्से गृहपत्नी के। अतः शेष ८ हिस्से जो बचे वे गृह-स्वामी अर्थात् पति के समझने चाहियें।

पुत्रिका^२ का सम्पत्ति में हक्क

(२७६) अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः।

अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः॥

(अथर्व० १।१७।१)

(लोहितवाससः) लाल वस्त्र पहिनी हुई (योषितः) स्त्रियों की न्याईं (अमूः याः) वे जो (हिराः) रक्त-की-नाड़ियां (यन्ति) जाती हैं, अर्थात् शरीर से बाहर अपने रक्त का साव करती हैं, वे (हतवर्चसः) निस्तेज होकर (तिष्ठन्तु) रक्त के बहाने से ठहर जायं, (अभ्रातरः) विना भाई की (जामयः) बहिनें (इव) जैसे ठहर जाती हैं।

शरीर में नाड़ी के फट जाने पर रक्त बह कर शरीर से बाहर निकलने लगता है उस रक्त-के-बहाव को रोकने का वर्णन इस मन्त्र में है।

१ यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशम् ॥

२ जिस कन्या का कोई भाई नहीं, उसे यदि उस का पिता, पुत्ररूप में उद्घोषित कर उस का विवाह करता है तो ऐसी कन्या को "पुत्रिका" कहते हैं। इस पुत्रिका का, पिता की जायदाद में, हक्क है।

अथर्व०^१ १।१७।३ में धमनी और हिरा शब्द आए हैं। ये दो शब्द रक्त-नाड़ियों के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। सम्भवतः “धमनी” शब्द लाल खून की नाड़ियों के लिए प्रयुक्त हुआ हो, और “हिरा” शब्द नीले खून की नाड़ियों के लिये। परन्तु वर्तमान मन्त्र में हिरा शब्द सामान्य रूप से रक्त-नाड़ी के लिए प्रयुक्त हुआ है। “हिरा” शब्द का अर्थ है हरण करने वाली या गतिशील। रक्तनाड़ियाँ रक्त का हरण करती हैं, रक्त को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाती हैं, तथा ये गतिशील हैं, इन में सदा गति होती रहनी है, और इन की गति से ही रक्त में भी गति होती रही है।^२ कहीं २ “हिरा” के स्थान में “सिरा” शब्द भी पढ़ा गया है। “ह” और “स” का वर्ण-व्यत्यय हुआ है। अथवा “सिरा” का अर्थ होता है “उदक” अर्थात् जल। अर्थात् जल वाली, रक्तरूपी जल वाली, रक्तरूपी जल जिन में बह रहा है ऐसी रक्त-नाड़ियाँ। यह भी सम्भव है कि सिरा शब्द सीरा का द्वितीयरूप हो। सीरा का अर्थ है नदी। रक्त की नाड़ियाँ मानो शरीर में नदियाँ बह रही हैं।

पंजाव में यह प्रत्यः रिवाज है कि कन्याएं विवाह के समय लाल वस्त्र पहनती हैं। यह सम्भवतः उन के रजस्वला होने की अर्थात् प्रौढ़ावस्था होने की निशानी हो। वर्तमान समय में लाल वस्त्र पहिनने का रिवाज कम हो गया है और उस के स्थान में लालचूड़ा पहिनने का रिवाज रह गया है। कन्याएं विवाह-काल में लाल वस्त्र धारण कर, विवाह के पश्चात्, पितृकुल से पतिकुल को जाती हैं (यन्ति)।

-
- 1 शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम् । 2 हृज् हरणे ।
 3 हि (गतौ) + रा (वाली) । 4 निघं० अ० १, खं० १२ ।
 5 निघं० अ० १, खं० १३ ।

शरीर में चोट आदि द्वारा जब रक्त-वाहिनी नाड़ी फट जाती है तो उस से शरीर का रक्त बाहिर बहने लगता है, जैसे कि विवाहित कन्याएं अपने पितृकुल से बाहिर जाने लगती हैं, पितृकुल को छोड़ कर बाहिर अर्थात् पतिकुल में जाने लगती हैं। इस दृष्टि से फटी हुई रक्त-नाड़ियों की उपमा विवाहित कन्याओं से दी गई है।

फटी हुई रक्त-नाड़ी की गति को रोकना है, बाहर बहते रक्त को स्थिर करना है, रोकना है (तिष्ठन्तु)। ताकि इन का रक्त शरीर में ही संचार करे, शरीर से बाहर न जाय। इस की उपमा “विना भाई की बहिनों” से दी गई है। विना भाई की बहिनें अपने पितृकुल में ही स्थित रहती हैं, उन का पतिकुल के साथ सम्बन्ध न हो कर पितृकुल से ही सम्बन्ध बना रहता है।

निरुक्त के नैघण्टुक काण्ड अ० ३, पा० १, ख० १ से ६ में जाय-दाद के विभाग के सम्बन्ध में विचार किया है। मनु^१ तथा कई अन्य^२ प्राचीन आचार्यों का विचार रहा है कि पिता की जायदाद में पुत्रों और पुत्रियों का समान हक्क है। परन्तु कई आचार्य यह मानते हैं कि उसी पुत्री को अपने पिता की जायदाद में अधिकार प्राप्त है जिसका कि कोई भाई नहीं है^३। अर्थात् पिता, विना भाई की अपनी पुत्री को, पुत्र^४ समझ कर उसका विवाह कराए। इस प्रकार इस पुत्र-रूप पुत्री से जो पुत्र हों उन्हें अपने पौत्र अर्थात् पोते समझे और जाय-

१

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।

मिथुनाणां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥

२ न दुहितर इत्येके।

३ अभ्रातृमतीवाद इत्यपरम्।

४ लोकं यस्य तद्भवति। इत्यभ्रातृकायाः प्रत्यक्षः पितुश्च पुत्रभावः।

दाद के विभाग के समय पुत्ररूप पुत्री को जायदाद का बड़ा^१ हिस्सा दे, और इससे उत्पन्न हुए पुत्रों को, जो कि इसके पौत्र बने हैं— यथाभाग हिस्से दे। विना भाई की जिस कन्या को पुत्र समझकर, विवाह के रूप में उसके पिता ने दिया है, उससे अतिरिक्त उसकी बहिनें यदि पितृकुल में और भी हैं तो उन बहिनों का अधिकार अपने पिता की जायदाद में नहीं होता। अभिप्राय यह कि विना भाई की जिस कन्या को, पिता ने पुत्र जान कर, उसका विवाह किया है, उसके यदि पुत्र उत्पन्न हो जाता है तब तो उपर्युक्त रीति से जायदाद का विभाग होगा, और यदि पुत्ररूप-कन्या के विवाह के पश्चात् उसे कोई पुत्र नहीं हुआ तो पुत्ररूप कन्या को पिता की जायदाद का बड़ा भाग मिलेगा। अर्धे शेष बहिनों को शेष जायदाद का बराबर २ भाग मिलेगा।

इस उपरिलिखित अभिप्राय से यह प्रतीत होता है कि विना भाई की कन्या का विवाह हो जाने पर भी, उस कन्या का और उसके पुत्रों का सम्बन्ध, कन्या के पतिकुल^२ से अधिक न रहकर उसके पितृ-कुल से ही अधिक रहता है।

विधवा का सम्पत्ति में हक

(२७७) इयं नारी पतिलोकं वृणाना

नि पद्यत उप त्वा मर्त्यं प्रेतम् ।

धर्मं पुराणमनुपालयन्ती

तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥

(अथर्व० १८।३।१)

१ ज्येष्ठं पुत्रिकायै इत्येके (निरु०) ।

२ अभ्रातृकेव पितृनेत्यभिमुखी सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय न पतिम् ।
(निरु०) ।

(मृत्यं) हे मरणधर्मा पुरुष ! (प्रेतं त्वा) तू जो मर चुका है उस के (उप) समीप, (इयम् नारी) यह नारी अर्थात् तेरी पत्नी (नि पद्यते) गिरती-पड़ती तथा रोती है । (पतिलोकं वृणाना) यह तेरी पत्नी अपने पति के उस गृह को स्वीकार कर रही है जो कि जीवितावस्था में तेरा था । (पुराणं धर्मम्) इस सम्बन्ध में यह पत्नी सनातन काल से चली आई धर्म-पद्धति का (अनुपालयन्ती) तेरे पीछे पालन कर रही है । (तस्यै) उस पत्नी के प्रति (इह) इस गृह में तू (प्रजाम् द्रविणं च) अपनी सन्तानों पर तथा धन-सम्पत् पर भी (धेहि) अधिकार दे ।

पति की मृत्यु हो जाने पर, उस की पत्नी, पति के शव के समीप जाती है और स्वाभाविक शोक से प्रेरित हुई २ विलाप करती तथा गिरती-पड़ती है । पति की मृत्यु के पश्चात् पतिगृह आदि अचल-सम्पत्ति पर इस पत्नी का हक्क स्वयमेव हो जाता है । साथ ही अपने पति की सन्तानों के पालन-पोषण, उन की देख-भाल, तथा उन के भविष्य के निर्माण पर भी सन्तानों की माता को स्वतः-सिद्ध हक्क प्राप्त हो जाता है । इस के अतिरिक्त मृतपति की चल-सम्पत्ति पर भी पत्नी का हक्क हो जाता है । ये सब प्रकार के हक्क सनातन काल से चले आए पत्नियों के हक्क हैं । पति के मरने-मात्र से ही मृतपति की सम्पत्ति पर उस की पत्नी का हक्क समझा जाना चाहिये । मन्त्र में पतिलोक का अर्थ “मृतपति का भावी-लोक” नहीं है । इस के लिये देखो मन्त्रसंख्या ६४ ।

पञ्चीसवां प्रकरण

निषिद्ध विवाह

(२७८) रिश्यपदीं वृषदतीं गोपेधां विधमामुत ।

विलीढ्यं ललाम्यं ता अस्मन्नाशयामसि ॥

(अथर्व० १।१८।४)

(रिश्यपदीम्) हिरण के पैरों वाली को, (वृषदतीम्) बैल के दांतों वाली को, (गोपेधाम्) गाय की चाल वाली को, (उत) और (विधमाम्) क्रोध में फुंकारे मारने वाली को, (विलीढ्यम् = विलीढीम्) खाने-चाटने के व्यसन वाली को, (ललाम्यम् = ललामीम्) अधिक सौन्दर्य की कुप्रवृत्ति वाली को, (ताः) इन सब की (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि) हम पृथक् रखते हैं ।

इस मन्त्र में दर्शाया है कि कैसी स्त्रियों के साथ विवाह-सम्बन्ध न करना चाहिये । मनुस्मृति में भी विवाह-सम्बन्ध में निषिद्ध स्त्रियों तथा निषिद्ध कुलों का वर्णन किया है ।

१. हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।

क्षयामर्याव्यपस्मारि श्वित्रिकुण्डिकुलानि च ॥

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।

नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटो न पिङ्गलाम् ॥

नर्चवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।

न पच्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।

तनुलोमकेशदशनां मृदङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥ (अ. ३, श्लो. ७-१०) ॥

“रिश्यपदी”—के साथ विवाह-सम्बन्ध न करना चाहिये । रिश्य का अर्थ है हिरण । हिरण के समान छोटे २ पैरों वाली स्त्री के साथ विवाह न करना चाहिये । इस का एक और अभिप्राय भी है । हिरण के पैर बड़े फुरतीले होते हैं । जरा से भय पर ये पैर हिरण को उड़ा ले जाते हैं । पतिकुल में आपत्ति का जरा सा भी खटका होने पर जो स्त्री पतिकुल को छोड़ भागे ऐसी स्त्री के साथ विवाह न करना चाहिये । मन्त्रसंख्या २५० के “अरणिं पदोः” के भावों पर यहाँ पुन-विचार करना चाहिये ।

“वृषदती”—के साथ भी विवाह-सम्बन्ध न करना चाहिये । वृष का अर्थ है बैल । बैल के समान बड़े २ दाँतों वाली स्त्री के साथ विवाह-सम्बन्ध न करना चाहिये । मनुस्मृति में लिखा है कि “जिस के दाँत तनु हों” ऐसी स्त्री के साथ विवाह करना चाहिये । अथवा बैल अधिक खाने वाला तथा जुगाली करने वाला पशु है । दाँतों का काम है खाना-चबाना । जो स्त्री बैल की न्याईं खाउ है और खाने के लिये जिस का मुख सदा चलता रहे, मानों कि वह सदा जुगाली करती रहती हो, ऐसी स्त्री के साथ भी विवाह-सम्बन्ध न करना चाहिये ।

“गोषेधा” का अर्थ है गौ के समान चाल वाली । इसका अभिप्राय है सुस्ती की चाल वाली । गौ का शरीर भारी होता है और चाल सुस्त । ऐसी स्त्री को भी विवाह के योग्य नहीं गिना । हिरण डरपोक और अस्थिर टाँगों वाला होता है और गौ सुस्त होती है । इन दोनों स्वभावों वाली स्त्रियों के साथ विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध है ।

“विधमा^२”— का अर्थ है धौंकनी चलाने वाली । गुस्से से

फुंकारे मारने वाली, अतिकोपना स्त्री । ऐसी स्त्री भी विवाह के योग्य नहीं समझी गई ।

“विलीढी”— का अर्थ है वह स्त्री जिसे सदा खाते-पीते रहने तथा चाटते रहने की आदत हो । इस सम्बन्ध में “वृषदतीम्” शब्द के अर्थों पर पुनर्विचार करना चाहिये । ऐसी स्त्री के साथ भी विवाह न करना चाहिये ।

“ललामी”— वह स्त्री है जो कि अधिक शृङ्गार प्रिय है । शृङ्गार एक सीमा तक उत्तम है । परन्तु इसका अतिप्रयोग हानिकर है । शृङ्गार का अतिप्रयोग आचार-भ्रष्टता की ओर ले जाता है । अतः अतिशृङ्गारप्रिय स्त्री के साथ भी विवाह सम्बन्ध न करना चाहिए ।

रोगियों में विवाह निषेध

(२७६) यत्सुपर्णा विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः ।

तत्र मे गच्छताद्वयं शल्य इव कुल्मलम् यथा ॥

(अथर्व० २।३।०।३)

(यत्) जैसे (सुपर्णाः) पक्षी (विवक्षवः) अपने व्यवहारों द्वारा विवाह-शस्त्र को चर्चा करते हैं, (अनमीवाः) और नीरोग हो कर (विवक्षवः) विवाह-चर्चा करते हैं, ऐसे ही हम दोनों भी नीरोग हो कर विवाह-चर्चा करें । (तत्र) उस विवाह के निमित्त (मे) मेरे (हवम्) आह्वान को, निमन्त्रण को (गच्छतात्) मेरी भावी पत्नी प्राप्त हो, स्वीकार करे । (यथा) तथा जैसे कि (शल्यः) वाण के सिरे पर लगा हुआ लोहा (कुल्मलम्) वाण के दण्डे के साथ दृढ़बद्ध कर दिया जाता है वैसे ही पत्नी मेरे साथ दृढ़बद्ध हो जाय ।

१ वच् + सन् + उ = विवच् + स + उ = विवक्षु ।

विवाह करना पशु-पक्षियों में भी विद्यमान है। पशु-पक्षियों में परस्पर विवाह स्वाभाविक अर्थात् प्राकृतिक ढंग का होता है। पक्षी अपने स्वाभाविक व्यवहारों द्वारा इस प्रसंग की चर्चा करते हैं। वे भी इस निमित्त परस्पर में अनुनय-अनुराग प्रदर्शित करते हैं। ऐसे ही वर-वधू को भी करना चाहिये।

विवाह के लिये वर और वधू का स्वस्थ तथा रोग से रहित होना अत्यावश्यक है। मनुस्मृति¹ में, कई रोगों में, परस्पर विवाह सर्वथा निषिद्ध माना गया है। चेतन-संसार में पक्षी सब से अधिक नीरोग होते हैं। ये स्वच्छ वायु के ऊपर के स्तरों में स्वच्छन्द विहार करते हैं, अतः सदा स्वच्छ वायु के सेवन से पक्षी प्रायः रोगमुक्त रहते हैं। रात्रि के समय में भी पक्षी प्रायः ऊंची जगह पर या वृक्षों की चोटियों पर निवास करते हैं जहाँ कि वायु प्रायः स्वच्छ होती है। इस लिए नीरोग हो कर विवाह कराने में, पक्षियों का दृष्टान्त दिया गया है।

वर कहता है कि विवाह के निमित्त मेरे निमन्त्रण को यह कुमारी स्वीकार करे और विवाह हो जाने पर मेरी पत्नी मेरे साथ इतनी दृढ़बद्ध हो जाय जैसे कि वाण के सिरे पर लगा हुआ लोह-फाल वाण के दण्डे के साथ दृढ़बद्ध कर दिया जाता है। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि विवाह का प्रस्ताव वर-पक्ष की ओर से होना चाहिए और विवाह के पश्चात् इस विवाह-बन्धन को दृढ़ बन्धन मानना चाहिए।

1 जैसे कि बवासीर, क्षय, मृगी, कुष्ठ, शिवत्र, तथा अन्य कई रोगों से युक्त कुमार और कुमारी का परस्पर विवाह निषिद्ध है। (अ० ३, श्लो० ७, ८)।

भाई-बहिन में विवाह निषेध

(२८०) न वा उ ते तनूँ तन्वां सं पपृच्यां
पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् ।

असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता

स्वसुः शयने यच्छयीय ॥

(अथर्व० १८।१।१४)

हे बहिन ! (ते) तेरे (तनूम्) शरीर को (तन्वा) अपने शरीर द्वारा (न वा उ सं पपृच्याम्) मैं तेरा भाई निश्चय से स्पर्श नहीं करता हूँ, क्योंकि (यः) जो भाई (स्वसारम्) बहिन के साथ (निगच्छात्) भोग करता है उसे (पापम्) पापी (आहुः) कहते हैं । (मे) मुझे (मनसः) मन का (हृदः) और हृदय का (एतत्) यह (असंयत्) असंयम प्रतीत होता है कि (यत्) जो (भ्राता) भाई होकर (स्वसुः) बहिन की (शयने) शय्या पर (शयीय) सोऊँ ।

भाई और बहिन का परस्पर विवाह पापकृत्य है । यह मन और हृदय के असंयम का चिन्ह है । विचार दर्शाता है कि निकट सम्बन्धियों में वैवाहिक-सम्बन्ध न होना चाहिये । भाई-बहिन का सम्बन्ध तो अतीव निकट का सम्बन्ध है । ऐसा प्रस्ताव हृदय अर्थात् sentiment के भी प्रतिकूल है । मन-और-हृदय अर्थात् विचार-और-भावना दोनों ही, भाई-बहिन के वैवाहिक-सम्बन्ध के प्रतिकूल हैं ।

छब्बीसवां प्रकरण

विधवा विवाह

(२८१) उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं वभूथ ॥

(अथर्व० १८।३।२)

(नारि) हे स्त्री ! (जीवलोकम्) जीवित व्यक्तियों के लोक (अभि) की ओर (उदीर्ष्व) तू उठ कर चल ; (गतासुम्) जिस का असु अर्थात् प्राण चला गया है उस अपने मृतपति के (उप) समीप (शेषे) तू नीचे पड़ी हुई है, (एहि) तू आ । (हस्तग्राभस्य) तेरे हाथ का ग्रहण करने वाले, (दधिषोः) तथा तेरे धारण-पोषण की इच्छा वाले (तव पत्युः) अपने नवीन पति के साथ सम्बन्ध रखने वाली (जनित्वमभि) जनन-क्रिया के अभिमुख (संवभूथ) तू हुई है ।

पति के मर जाने पर पत्नी, दुःख से व्याकुल हो, पति के समीप पड़ जाती है । उसे मृतपति के समीप से उस के सम्बन्धी उठाते हैं, और उसे कहते हैं कि तू फिर गृहस्थाश्रम की ओर आ, और नवीन पति के द्वारा सन्तान-जनन कर ।

महर्षि दयानन्द सरस्वती इस सम्बन्ध में, ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में लिखते हैं कि :—“द्विजों अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों में.....सन्तानों के लिये नियोग होना, और शूद्रकुल में पुनर्विवाह मरण-पर्यन्त के लिये होना चाहिये । नियोग शिष्ट पुरुषों की सम्मति और दोनों की प्रसन्नता से हो सकता है । जब दूसरा गर्भ रहे

तब नियोग छूट जाय, और जो कोई इस नियम को तोड़े उस को द्विज-कुल में से अलग कर के शूद्रकुल में रख दिया जाय” ।

इस लेख द्वारा प्रतीत होता है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती शूद्रों के लिये पुनर्विवाह की अनुज्ञा देते हैं, द्विजों के लिये नहीं । शूद्रों में पुनर्विवाह मरण-पर्यन्त स्थिर रह सकता है,—यह लेख महर्षि का इस सम्बन्ध में अत्यन्त स्पष्ट है ।

वेदों में नियोग का भी वर्णन ध्वनित अर्थात् होता है । वर्तमान मन्त्र में “जनित्वमभि संवभूथ”—शब्द सम्भवतः यह अभिप्राय भी प्रकट कर रहे हैं कि “दधिषु-पति” के प्रति केवल “जनन”,—प्रयोजन के उद्देश्य से विधवा अभिमुख हुई है, स्थिर गार्हस्थ्य-भावना के उद्देश्य से नहीं । “जनन”,—प्रयोजन का होना और स्थिर गार्हस्थ्य-भावना का न होना,—ये दो भाव नियोग-विधि के आत्मा-रूप हैं ।

इसी प्रकार अथर्व० १८।१।३ में “जन्युः पतिः” होने का परामर्श भी मिलता है । “जन्युः पतिः” का अभिप्राय है “जनन के लिये पति”, न कि स्थिर रूप से रहने वाला पति । “जन्युः पतिः” का भाव भी नियोग-पद्धति का स्रोतक प्रतीत होता है ।

विधवा विवाह

(२८२) अपश्यं युवतिं नीयमानां

जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम् ।

अन्धेन यत्तमसा प्रावृतासीत्

प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ॥ (अथर्व० १८।१।३)

(युवतिम्) युवति स्त्री को (मृतेभ्यः) मृत व्यक्तियों से
(जीवां नीयमानाम्) जीवित अवस्था में वापिस ले आते हुए,

(परिणीयमानाम्) और विवाह कराते हुए (अपश्यम्) मैं ने देखा है । (यत्) जो कि (अन्धेन तमसा) शोक-जन्य गाढ़ अन्धकार से (प्रावृता) घिरी हुई (आसीत्) थी (एनाम्) इस को (प्राक्तः) पहली अवस्था से (अपाचीम्) पिछली अवस्था में (अनयम्) मैं लाया हूँ ।

मन्त्र में “परिणीयमानाम्” शब्द है जो कि विधवा के परिणय अर्थात् विवाह का सूचक है । मन्त्र में “पहली-अवस्था” का अभिप्राय है शोकावस्था, और “पिछली-अवस्था” का अभिप्राय है पुनर्विवाह की अवस्था । युवति स्त्री का यदि पति मर जाय तो उस के पुनर्विवाह का विधान यहां किया गया है ।

पुनर्विवाह में प्रेमबन्धन

(२८३) या पूर्वं पतिं विच्चाथान्यं विन्दतेपरम् ।

पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः ॥

(अथर्व० ६।५।२७)

(या) जो स्त्री (पूर्वम्) पहिले (पतिम्) पति को (विच्चा) प्राप्त हो कर, (अथ) फिर (अन्यम् अपरम्) अन्य दूसरे पति को (विन्दते) प्राप्त करती है, (तौ) वे दोनों (पञ्चौदनं च) इन्द्रियों के ५ भोगों और (अजम्) अजन्मा आत्मा को (ददातः) एक-दूसरे के प्रति यदि सौंप देते हैं तो वे (न) नहीं (वि योषतः^१) परस्पर वियुक्त^१ होते, या परस्पर में घृणा^१ करते ।

यदि कोई स्त्री अपने पहिले पति को छोड़ कर दूसरे पति को स्वीकार कर ले तो वे परस्पर तभी दृढ़बद्ध रह सकते हैं यदि वे एक

I “यु” के दो अर्थ हैं । अमिश्रण अर्थात् परस्पर में मिश्रण न होना ।
और जुगुप्सा अर्थात् परस्पर में घृणा का होना ।

दूसरे के प्रति अपने भोगों तथा अपनी २ भावनाओं को समर्पित कर देते हैं । प्रथम विवाह में पति-पत्नी का प्रेमबन्धन बना रहना कुछ स्वाभाविक सा होता है । परन्तु पुनर्विवाह में यह बन्धन स्वाभाविक नहीं रहता, क्योंकि वे भुक्त-भोगी होते हैं । पुनर्विवाह में भी यदि वे परस्पर के प्रति अपने २ भोगों तथा भावनाओं को समर्पित कर देते हैं तो उन में भी परस्पर के प्रति प्रेम बद्धमूल हो जाता है । इस प्रकार न तो वे वियुक्त होते हैं और न एक दूसरे से घृणा करते हैं ।

पुनर्विवाह में प्रेमबन्धन

(२८४) समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः ।

योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥

(अथर्व० १।१।२६) ॥

(यः) जो (अपरः पतिः) दूसरा पति (अजम्) अपने अजन्मा आत्मा को अर्थात् अपनी आत्मिक भावनाओं को, तथा (पञ्चौदनम्) इन्द्रियों के पाँचों भोगों को, (दक्षिणा ज्योतिषम्) दक्षिणा के रूप में और ज्योति के रूप में (ददाति) देता है, वह पति (पुनर्भुवा) पुनर्विवाह कराने वाली पत्नी के साथ (समान-लोकः) एक लोक में, अर्थात् गृहस्थलोक में रहने लायक (भवति) होता है ।

इस मन्त्र में पुनर्विवाह कराने वाली स्त्री को “पुनर्भूः”^१ कहा

१ बोधायन धर्मसूत्रों में इस सम्बन्ध में लिखा है कि :—

निसृष्ट्यायां हुते वापि यस्यै भर्ता म्रियेत सा ।

सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागता सती ।

पौनर्भवेन विधिता पुनः संस्कारमर्हति ॥

(बोधायन, ध० सू०- प्र० ४, अ० १)

है। पुनर्भू का अर्थ है “फिर होने वाली”, अर्थात् फिर गृहस्थ धारण करने वाली, अर्थात् एक पति के बाद दूसरे पति को स्वीकार करने वाली।

पुनर्भू-पत्नी और इसका दूसरा-पति एक ही गृहस्थ-लोक में तभी सुख-शान्ति से रह सकते हैं यदि वे एक दूसरे के प्रति अपने भोगों तथा भावनाओं को समर्पित कर दें। इससे परस्पर की प्रेमभावना दृढ़ हो जाती है।

जैसे यजमान दक्षिणा देकर ऋत्विक् को अपने साथ बांध लेता है, या गुरु विद्या-की-ज्योति देकर शिष्य को अपने साथ बांध लेता है, वैसे ही यह दूसरा-पति और पुनर्भू-पत्नी भी एक दूसरे को बांध लेते हैं यदि वे परस्पर के प्रति अपने आपको सौंप देते हैं।

स्त्री के ग्यारह पति

(२८५) उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः।

ब्रह्मा चेद्वस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा ॥

(अथर्व० ५।१७।८)

(उत) और (यत्) यदि (स्त्रियाः) स्त्री के (दश पतयः) दस व्यक्ति पति-रूप में (पूर्वे) पहिले निर्दिष्ट किए गए हों, (अब्राह्मणाः) जो कि ब्रह्मा-कोटि के न हों,—ऐसी अवस्था में (चेत्) यदि (ब्रह्मा) ब्रह्मा-कोटि के व्यक्ति ने (हस्तम्) इस का हाथ (अग्रहीत्) ग्रहण कर-लिया है तो (स एव) वह ब्रह्मा ही (एकधा) एक प्रकार का अर्थात् वास्तविक (पतिः) पति है।

अथर्ववेद के ५वें काण्ड के इस १७वें सूक्त में “ब्रह्मजाया” का वर्णन है जिस का कि निर्देश इस मन्त्र में “स्त्री” शब्द द्वारा हुआ है।

“ब्रह्मजाया” का अर्थ है वह जाया अर्थात् स्त्री, जो कि विद्या-तथा-गुण-कर्मों की दृष्टि से, ब्रह्मा-पदवी के पुरुष की पत्नी होने के योग्य है। वैदिक परिभाषा में चारों वेदों को जानने वाला आदित्य-ब्रह्मचारी ब्रह्मा^१ कहलाता है। इसी प्रकार आदित्य-ब्रह्मचारी अर्थात् ब्रह्मा के योग्य विदुषी-तथा-ब्रह्मचारिणी कन्या को सूर्या कहते हैं। इस सूर्या को ही “ब्रह्मजाया” तथा “स्त्री” पदों द्वारा निर्दिष्ट किया है।

मन्त्र में यह भाव प्रकट किया गया है कि सूर्या-कोटि की विदुषी ब्रह्मचारिणी के लिए, उसके गुणों, कर्मों और स्वभाव के अनुसार, ब्रह्माकोटि का विद्वान् तथा आदित्य-ब्रह्मचारी ही योग्य पति हो सकता है। अब्रह्मा अर्थात् वे व्यक्ति जो कि ब्रह्माकोटि के नहीं हैं, ब्रह्मजाया के योग्य पति नहीं हो सकते। ऐसे दसों अब्रह्मा-व्यक्तियों के साथ ब्रह्मजाया के पति होने की बातचीत चाहे पहिले से ही चल रही हो, परन्तु इन अब्रह्मा व्यक्तियों में से किसी ने यदि अभी तक इस ब्रह्मजाया का हस्तग्रहण या पाणिग्रहण नहीं किया और इस बीच में यदि ब्रह्मजाया के लिए कोई ब्रह्माकोटि का व्यक्ति मिल गया है तो इसी ब्रह्मा-व्यक्ति के साथ ब्रह्मजाया का पाणिग्रहण करा देना चाहिए, अर्थात् विवाह करा देना चाहिए। शेष व्यक्तियों को— जिन के साथ कि ब्रह्मजाया के पति होने की बातचीत चल रही हो, छोड़ देना चाहिए। ब्रह्माकोटि का व्यक्ति ही इस ब्रह्मजाया का “एकधा” पति है, एक प्रकार का पति है। अर्थात् ऐसा पति है जिसके कि साथ मिल कर ब्रह्मजाया अपने गृहस्थ-धर्म को सर्वोत्तम रूप से पाल सकती है।

समाप्त

१ ब्रह्म अर्थात् वेद। इसलिये ब्रह्मा का अर्थ है— “वेदों का विद्वान्”।

पं० विश्वनाथ स्मृति संग्रह वैदिक साहित्य मण्डल

की

संरक्षक समिति

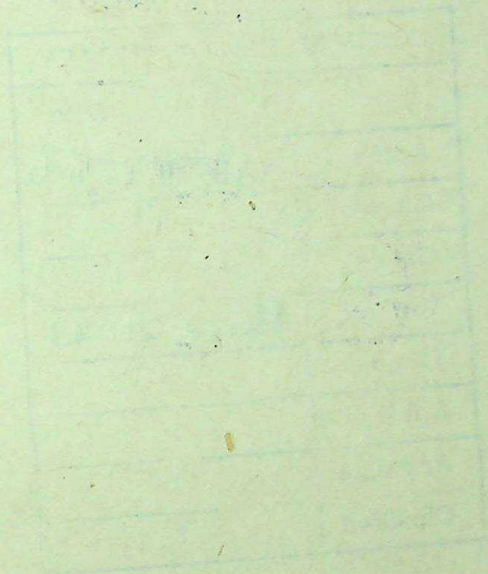
9801



- १ स्वामी स्वतन्त्रातन्त्रजी महाराज, आचार्य दयानन्दमठ, दीनानगर, पूर्वीय पंजाब।
- २ आचार्य चन्द्रकान्त जी, विद्यावाचस्पति, गुरुकुल-सूपा, नवसारी, बी० बी० सी० आई० रेलवे।
- ३ श्री सेठ हरगोविन्द जी धर्मसी, काचव्यापारी, इजरा स्ट्रीट, बम्बई।
- ४ कवि विनोद, वैद्य भूषण श्री पं० ठाकुरदत्त जी, अमृतधारा फार्मोसी, लिमिटेड, देहरादून।
- ५ प्रोफेसर विश्वनाथ जी, विद्यालङ्कार। अध्यक्ष वैदिकसाहित्य-मण्डल, ६ लक्ष्मणचौक, देहरादून।

संरक्षक-समिति के कर्तव्य:—

- १ मण्डल की पुस्तक-प्रकाशन-नीति का संचालन।
- २ मण्डल के आय-व्यय लेखे का निरीक्षण।
- ३ मण्डल की आर्थिक सहायता में सहयोग।



GURUKUL KANORI LIBRARY		
	Sir	Date
Access on	note on 6/12/94	
Class on		
Cat on		
Tag etc	Dharma 21-11-03	
Filing		
F A R.		
Any other		
Checked		

R14,VIS-V



9801

